प्रवचनरत्नाकर
भाग 8
(समयसार गाथा २१७ से ३०७ तक)

पूज्य गुरुदेव श्री कान्तीस्वामी के प्रवचन
प्रवचनरत्लाकर
[ पूज्य गुरुदेव श्रीकान्तजीस्वामी के प्रवचन ]

भाग ८
( समयसार गाथा २३७ से ३०७ तक )

सम्पादक :
डॉ. हुकमचन्द भारिल्ला
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., बी-एच.डी.

अनुवादक :
पणिडत रतनचन्द्र भारिल्ला
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., बी.ए.डी.

प्रकाशक :
दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, बम्बई
eवं
पणिडत टोडमरल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५
प्रथम संस्करण : ५ हजार  
(३० जुलाई, १९९५)

मूल्य : बीस रुपये

मुद्रक :  
जयपुर प्रिंटर्स प्रा. लि.  
एम. आई. रोड  
जयपुर
Thanks & Our Request

This shastra has been kindly donated by Dakshaben Sanghvi, Geneva, Switzerland who has paid for it to be "electronised" and made available on the internet.

Our request to you:

1) Great care has been taken to ensure this electronic version of Pravachan Ratnakar Part 8 (Hindi) is a faithful copy of the paper version. However if you find any errors please inform us on rajesh@AtmaDharma.com so that we can make this beautiful work even more accurate.

2) Keep checking the version number of the on-line shastra so that if corrections have been made you can replace your copy with the corrected one.

Version History

<table>
<thead>
<tr>
<th>Version Number</th>
<th>Date</th>
<th>Changes</th>
</tr>
</thead>
<tbody>
<tr>
<td>001</td>
<td>26 April 2009</td>
<td>First electronic version</td>
</tr>
</tbody>
</table>
प्रकाशकीय
(प्रथम संस्करण)

परमपूज्य प्राचीन समय समयसार पर हुए पूज्य गुरुदेव श्री कार्तिक योगी के प्राणों का हिंदी भाषा में अनुवादित प्रवचनस्तायकर (भाग 8) प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

पूज्य श्री कार्तिक योगी इस युग के सर्वाधिक चरित आध्यात्मिक क्रान्तिकारी महापूर्व हुए हैं। वर्तमान में दृष्टिगोचर दिगम्बर जैनधर्म की अभूतपूर्व धर्मप्रभावना का श्रेय स्वामीजी को ही है। उनका कार्यकाल दिगम्बर जैनधर्म के प्रचार-प्रसार का स्वर्णयुग रहा है। स्वामीजी के उपकारियों को यह दिगम्बर जैन समाज युगों-युगों तक स्मरण रखेगा।

आचार्य कुंजकुंज प्रणीत समयसार ग्रंथ ने स्वामीजी की जीवनधारा में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया है। इसी ग्रंथ को पाकर सन् 1934 में उन्होंने रवीन्द्र कविताओं का अविनाशी लाभ प्राप्त किया और सामाजिक वार्ता, भाषा के रूप में अपने आत्मकल्याण के साथ-साथ अध्यात्म के प्रचार-प्रसार में अपना जीवन समर्पण कर दिया।

अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों का सांगोपांग विवेचन उनकी वाणी की महत्त्वपूर्ण विशेषता रही। उनके क्रान्तिकारी का विवेचन चिरकाल तक स्वामीजी की प्रेरणा देता रहेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री ने ४५ वर्षों तक निरन्तर जिनशासन की अद्वितीय प्रभावना की है। यद्यपि आज वे हमारे बीच नहीं हैं, तथापि उनके द्वारा दिखाया गया शास्त्र सुख का मार्ग चिरकाल तक हमें भव-दु:खों से छुटने की प्रेरणा देता रहेगा, क्योंकि उनके प्रताप से निर्भर है। यह निर्भर तत्साहित्य उनके स्मारक के रूप में चिरकाल तक विद्यामूर्ति रहेगी।

परमपूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों को टेप के माध्यम से सुरक्षित रखने का प्रयास तो किया ही गया है परंतु उनकी दीर्घकालिक सुरक्षा असम्भव है। अतः उनके प्रवचनों को श्रृंखलाविद्या प्रकाशण का निर्णय चम्बई के

(३)
श्री कुन्दकुन्द कहान परमाण वृत्त द्वारा लिया गया। फलस्वरूप
समयसार ग्रंथाधारियां पर हुए सम्पूर्ण ग्रंथ के गुजराती प्रवचन ११ भागों में
प्रकाशित हो चुके हैं तथा नियमसार के गुजराती प्रवचनों का प्रथम भाग
भी प्रकाशित हो चुका है। समयसार पर हुए प्रवचनों का हिंदी में रूपांतर
cरकर ‘प्रवचनरत्नाकर’ के ही नाम से अभी तक सात भाग प्रकाशित हो
चुके हैं और अब यह आठवाँ भाग आपके हाथों में है। आगे के भागों का
भी अनुवाद कार्य चल रहा है।

हिंदी में रूपांतरित प्रवचनरत्नाकर के प्रथम भाग में १ से २५ गाथाओं,
द्वितीय भाग में २६ से ६८, तृतीय भाग में ६९ से ९१, चतुर्थ भाग में ९२
से १४४, पौंचवें भाग में १४५ से १८०, छठवें भाग में १८१ से २१४, सातवें
भाग में २१५ से २३६ तथा प्रस्तुत आठवें भाग में २३७ से ३०७ गाथाओं
tक प्रवचन प्रकाशित हो चुके हैं।

हम श्री भगवानजी भाई कचराभाई शाह लंदन का भी हदय से आभार
मानते हैं जिन्होंने प्रस्तुत कृति को कम से कम मूल्य में जन-जन तक
पहुँचाने हेतु ३० हजार रुपए (लागत का २०%) प्रदान किए हैं। हमें खेद
है कि उनकी धर्मपत्नी श्रीमती डांसी बैन भगवानजी शाह अब हमारे बीच
नहीं हैं।

अन्य सभी दान दातार भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने पुस्तक की कीमत
cकम करने में अपना सहयोग दिया है।

इस पुस्तक के सम्पादन में डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का एवं अनुवाद
में पण्डित रतनचन्द्रजी भारिल्ल का श्रम रशायनी है। पुस्तक की मुद्रण
व्यवस्था सदा की भांति विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल ने बखूबी
सम्हाली है। अतः उपरोक्त सभी बधाई के पात्र हैं।

आप सभी पूज्य गुस्तेवा श्री की वाणी का मर्म समझकर शुद्धात्मकत्व के
आश्रयपूर्वक स्वतंत्रभूत दशा प्रगट करें व आत्मकल्याण मार्ग की ओर
अग्रसर हों, ऐसी पवित्र भावना है।

महामंत्री
दिगम्बर जैन मुमुख्त मण्डल, बम्बई

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

(४)
मण्डाकीय

जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर परम्परा में सर्वोपरि है। भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद उन्हें ही स्मरण किया जाता रहा है। दो हजार वर्ष पूर्व लिखे गये आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ दिगम्बर परम्परा के परमागम हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर उनके रहस्य को उद्धारित करनेवाली अद्भुत टीकाएँ आचार्य अमृतचन्द्र ने आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले संस्कृत भाषा में लिखी थीं। यद्यपि उनके अनुवाद भी पणित श्री जयचन्द्रजी छाबड़ा जैसे विद्वानों द्वारा लिखे गये थे; तथापि इस युग में उनका प्रचार व प्रसार नगण्य ही था। जनसाधारण की तो बात ही क्या करें, बड़े-बड़े दिगम्बर विद्वान्‌ भी उनसे अपरिचित ही थे।

आज जो समयसार जन-जन की वस्तु बना हुआ है - उसका एकमात्र श्रेय पूर्ण गुरुदेव्य श्री कान्जी स्वामी को है। उन्होंने इस पर आद्योपात्त १९ बार तो सभा में प्रवचन किए हैं, स्वयं ने तो न मालूम कितनी बार गहराई से अध्ययन किया होगा।

इस सन्दर्भ में पणित कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी का कथन दृष्ट्वम्‌ है। जो कि इसप्रकार है :-

“आज से पचास वर्ष पूर्व तक शास्त्र सभा में शास्त्र बाँचने के पूर्व भगवान कुन्दकुन्द का नाम तो लिया जाता था, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि अध्यात्म की चर्चा करनेवाले विरलें ही थे। आज भी दि. जैन विद्वानों में भी समयसार का अध्ययन करनेवाले विरलें हैं। हमने स्वयं समयसार तब पढ़ा जब श्री कान्जी स्वामी के कारण ही समयसार की चर्चा का विस्तार हुआ। अन्यथा हम भी समयसारी कहकर ब्र. शीतलप्रसादजी की हैं। उद्धारा करते थे। यदि कान्जी स्वामी का उदय न हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में भी कुन्दकुन्द के साहित्य का प्रचार न होता।”

पूज्य गुरुदेव श्री कान्जी स्वामी का हम जैसे उन लाखों लोगों पर अनन्त-अनन्त उपकार है, जिन्होंने उनके मुख से समयसार आदि ग्रन्थों पर

१. जैन संदेश, ४ नवम्बर १९७६, सम्पादकीय

(५)
प्रवचन सुने हैं, और समझ में न आने पर अपनी शंकाओं का सहज समाधान प्राप्त किया है।

आज वे हमारे बीच नहीं हैं, पर उनके वे प्रवचन जो उन्होंने अपने जीवनकाल में अनवरत रूप से किये थे, हमें टेपों के रूप में उपलब्ध हैं। आज वे प्रवचन ही हमारे सर्वस्व हैं।

यदयसे पूज्य गुरुदेवश्री के हजारों प्रवचन प्राकृतिकता रूप में भी हमें उपलब्ध थे, और हैं भी; फिर भी यह आवश्यकता गुरुदेवश्री की उपस्थिति में भी निरंतर अनुभव की जा रही थी कि उनके उपलब्ध समस्त प्रवचन प्रकाशित होने चाहिए। एक तो टेप सबको सहज सुलभ नहीं होते, दूसरे लम्बे काल तक उनकी सुरक्षा संदिग्ध रहती है। हमारी यह निर्धि पूर्ण सुरक्षित हो जाने के साथ-साथ जन-जन की पहुँच के भीतर हो जानी चाहिए - इसकारण सम्पूर्ण प्रवचनों के प्रकाशन को आवश्यकता निरंतर अनुभव की जा रही थी।

परिणामस्वरूप पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में ही श्री कुन्दकुंद परमागम प्रवचन ट्रस्ट की स्थापना हुई। उक्त ट्रस्ट ने बड़ी ही तपासता से अपना काम आरम्भ किया और बहुत ही कम समय में ‘प्रवचनरत्नका’ नाम से सर्वप्रथम ‘समयसार’ परमागम पर १८वीं बार हुये प्रवचनों का प्रकाशन आरम्भ किया। चूँकि गुरुदेवश्री के मूलप्रवचन अधिकांश गुजराती भाषा में ही हैं, तव: उनका प्रकाशन भी सर्वप्रथम गुजराती भाषा में ही आरम्भ हुआ। १६ अप्रैल, १९८० ई. को बम्बई (मलाड़ू) में आयोजित पूज्य गुरुदेवश्री की ९१वीं जन्म-जयन्ती के अवसर पर प्रवचनरत्नका का प्रथम भाग गुजराती भाषा में प्रकाशित होकर आ गया था तथा पूज्य गुरुदेवश्री को प्रत्यक्षरूप से समर्पित किया गया था।

उसी अवसर पर इसके हिंदी प्रकाशन की चर्चा आरम्भ हुई। पर्याप्त ऊपरायों के उपराण इसके हिंदी अनुवाद का कार्य पणिड रतनचन्द्रजी भारिल्ल को, सम्पादन का कार्य मुझे एवं प्रकाशन का भार पणिड टोडरमल स्मारक ट्रस्ट को सौंपा गया।

गुरुदेवश्री के मंगल-आशीर्वाद से ही सुगमित होकर तत्त्वप्रचार सम्बन्धी गतिविधियों के सक्रिय संचालन में पहले से ही व्यस्त रहने के

(६)
कारण यद्यपि इस स्थिति में नहीं था कि कोई नया भार लूँ, क्योंकि इसकारण मेरा स्वरूप का अध्ययन, मनन, धिन्तन एवं लेखन अवरुढ़ होता है; तथापि गुरुदेवश्री के प्रवचनों का गहराई से अध्ययन करने के इस सुधार का लोभ-संचारण मुझसे नहीं हो सका।

इसके सम्पादन में मैंने आत्मधर्म के सम्पादन से प्राप्त अनुभव का पूरा-पूरा लाभ उठाया है। आत्मधर्म में पचार वर्ष से स्कार्यता प्रतिमह गुरुदेवश्री के लागभग २०-२२ पृष्ट तो दे ही रहा हूँ। उनके सम्पादन से गुरुदेवश्री के प्रतिभाप और प्रतिपाद में हो गया है। इसका मुझे यथाप्राप्त इसके सम्पादन में अधिक श्रम नहीं उठाना पड़ा है; तथापि इसके सम्पादन में मुझे अभूतपूर्व स्वाभाविक लाभ मिला है। गुरुदेवश्री के हदय को अन्तर से जानने का अवसर मिला है। जो लाभ उनकी वाणी को पढ़ने और सुनने से भी सम्भव न हुआ था, वह लाभ इसके सम्पादन से प्राप्त हुआ है। इसका कारण यह है कि उपयोग की स्थिरता जितनी इसके सम्पादन के काल में रही है, उतनी सहज पढ़ने या सुनने में नहीं रहती है। जितनी गहराई में जाकर गौरव गुरुदेवश्री ने आचार्य कुंदकुंद और अमृतचन्द्र के मर्म को खोला है, उतनी गहराई में उपयोग के न पहुँच पाने से वह मर्म सहज पकड़ में नहीं आता है। अपने इस अनुभव के आधार पर तत्त्वप्रभी पाठकों से अनुरोध करना चाहूँगा कि वे यदि इस रत्नकर के रत्न पाना चाहते हैं तो उपयोग को सूक्ष्म कर, स्थिर कर इसका स्वाभाविक करें, अन्यथा उनके हाथ कुछ न लगेगा।

इसके सम्पादन में गुजराती में प्रकाशित ‘प्रवचनरत्नाकर’ के मूल माल को अक्षुण्ण रखते हुए कुछ आवश्यक परिवर्तन एवं परिवर्धन किये गए हैं। उनका उल्लेख करना इसलिए आवश्यक है कि जिससे गुजराती से मिलान करके अध्ययन करनेवाले पाठकों को कोई असुविधा न हो।

सर्वप्रथम उल्लेखनीय बात तो यह है कि गुजराती में जीवाजीवधिकार को तीन भागों में बांटा गया है, जबकि हिन्दी प्रवचनरत्नाकर में दो भागों में ही विभाजित किया गया है। इस विभाजन में विषयवस्तु को तो ध्यान में रखा ही गया है, साथ में यह भी उचित लगा कि इतने विशाल ग्रन्थ का जो कि अनेक भागों में प्रकाशित किया जाना है, प्रत्येक भाग कम से कम लघुभर चार सौ पृष्टों का तो होना ही चाहिए। छोटे-छोटे वाल्यूम बनाने
में विषयवस्तु तो बार-बार टूटती ही है, साथ में जिल्द का अनावश्यक खर्च भी बढ़ता है।

प्रवचन की भाषा में अनावश्यक टेक्ट्री भी बहुत होती है तथा पुनरुक्ति भी बहुत पाई जाती है। सामान्य लोगों को भी सरलता से समझ में आ जाय - इस दृष्टि से जहाँ तक सम्भव हुआ, वाक्यों का गठन सीधा व सरल कर दिया गया है; पर इस प्रक्रिया में गुरुदेवश्री के प्रवचन की टोन समाप्त न हो जाये - इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। पुनरुक्ति भी कम की गई है, पर बहुत कम। जहाँ बहुत अधिक पिस्त-पेषण था वहाँ ही कुछ कम किया गया है।

गुजराती का एक पेज हिंदी के भी प्रयो: एक पेज में ही आ गया है। ग्रंथ की साइज का अन्तर अक्षरों की साइज के अन्तर से समायोजित ही गया है।

हिंदी प्रकाशन में मूल ग्रंथ संस्कृत व हिंदी टीका सहित दिया गया है, जबकि गुजराती में संस्कृत टीका नहीं दी गई है। साथ में हिंदी पद्धाति भी दिया गया है। और भी छोटी-छोटी बहुतसी बातें हैं, जिनका उल्लेख सम्भव नहीं है। वे सब अध्ययन करने पर पैनी दृष्टिवाले पाठकों को सहज समझ में आ जांबेंगी।

मैंने इस अनुवाद को मूल से मिलान करके बहुत गहराई से देखा है। इसके रूप में की गहराई को पाने के लिए भी, और इसके प्रामाणिक प्रकाशन के लिए भी। फिर भी छवियों से तुरंत रह जाना असम्भव नहीं है। अतः सुधी पाठकों से सावधानीपूर्वक अध्ययन करने का अनुरोध है।

प्रकाशन सम्बन्धी छोटी-छोटी टुकड़ियों की उपेक्षा की अपेक्षा के साथ-साथ सविनय यह अनुरोध है कि यदि कोई भावसम्बन्धी भूल दिखाई दे तो मुझे सुझाने की अनुकम्पा अवश्य करें, जिससे आगामी संस्करणों में सुधार किया जा सके।

- (डॉ.) हुकमचन्द्र भारिल्ल
अनुवादक की ओर से

जब परमपूज्य आचार्यों के आध्यात्मिक ग्रन्थों पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के गृह, गम्भीर और गहनतम, सूक्ष्म, तलस्पर्शी प्रवचनों का गुजराती से हिन्दी भाषा में अनुवाद करने के लिए मुझसे कहा गया तो मैं असमंजस में पड़ गया। मेरी स्थिति साँप-छहूंदर जैसी हो गई। मैंने कभी यह सोचा ही नहीं था कि यह प्रस्ताव भी मेरे पास कभी आ सकता है।

अब एक ओर तो मेरे सामने यह मंगलकारी, भवतापपरी, कल्याणकारी, आत्मविशुद्ध में निमित्तभूत कार्य करने का स्वर्ण अवसर था, जो छोड़ा भी नहीं जा रहा था; तो दूसरी ओर इस महान कार्य को आदोपान्त निर्वाह करने की बड़ी भारी जिम्मेदारी। और मेरी दृष्टि में यह केवल भाषा परिवर्तन का सवाल ही नहीं था, बल्कि आगाम के अभिप्राय को सुरक्षित रखते हुए, गुरुदेवश्री की सूक्ष्म कथनी के भावों का अनुगमन करते हुए, प्रांजल हिन्दी भाषा में उसकी सहज व सरल अभिव्यक्ति होना में आवश्यक मानता हूँ। अन्यथा थोड़ी-सी चूक में ही अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है।

इन सब बातों पर गम्भीरता से विचार करके तथा दूरगामी आत्म-लाभ के सुफल का विचार कर प्रारंभिक परिश्रम और कठिनाइयों की परवाह न करके ‘गुरुदेवश्री के मंगल आशीर्वाद से सब अच्छा ही होगा’ – यह सोचकर अनतोगत्वा मैंने इस काम को अपने हाथ में ले लिया था। इस कार्यभार को संभालने में एक संबल यह भी था कि इस हिन्दी प्रवचन-रत्नाकर ग्रन्थमाला के प्रकाशन का कार्य पण्डित टोडरमल स्वामक स्वामक ट्रस्ट जयपुर ने ही संभाला था और सम्पादन का कार्य डॉ. हुकमचंद भारिल्ल को सौंपा जा रहा था।

यद्यपि गुजराती भाषा पर मेरा कोई विशेष अधिकार नहीं है, तथापि पूज्य गुरुदेवश्री के प्रसाद से उनके गुजराती प्रवचन सुनने-सुनने एवं उन्हीं के प्रवचनों से सम्बन्धित सत्साहित्य पढ़ने-पढ़ने उनकी शैली और भावों से सुपरिचित हो जाने से मुझे इस अनुवाद में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। जहाँ कहाँ गुजराती भाषा का भाव समझ में नहीं आया, वहाँ अपने
अनुज डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल से परामर्श करके उसके भाव को स्पष्ट करता रहा हूँ।

मैं अनुवाद करते समय इसलिए भी निरिच्छत रहा कि सम्पादन का कार्य एक ऐसी प्रतिभा को सोँचा गया था जिसके द्वारा सारा विषय हर दृश्य से छन-छन कर ही पाठकों तक पहुँचने वाला है।

इस अनुवाद से मुझे जो आशातीत लाभ मिला उसे में व्यक्त नहीं कर सकता। पूज्य गुरुदेवश्री के अभिप्राय को तथा समयसार के गम्भीर रहस्यों को - जो गुरुदेवश्री ने खोले हैं - उन्हें गहराई से समझने का अवसर मिला।

तथा नीतियों के माध्यम से भगवत कुंदकुंद्राचार्य और अमृतचन्द्राचार्यदेव के सूक्ष्म भावों तक पहुँचने में सहायता मिली। इस काम में आत्म-सत्तोष मिला, आनंद भी आया; अतः यह कार्य भारभूत न होकर स्वान्तःसुखाय बन गया। आत्मशान्ति व सत्तोष ही गुरुदेवश्री का परम प्रसाद है और यही जिनवाणी की सेवा का सुफल है।

अनुवाद में गुरुदेवश्री के अभिप्राय को अक्षुण्ण रखा गया है। प्रवचनों का अनुवाद मुख्यतः शावित्रिक है, किन्तु हिन्दी वाक्यविन्यास की दृष्टि से वाक्यों का गठन हिन्दी भाषा के अनुरूप करने का प्रयत्न रहा है तथा अति आवश्यक यतिकिंचित् परिवर्तन भी हुए हैं, किन्तु उनसे विषय-वस्तु और भावों में कहीं कोई अनतर नहीं आया है। जब पाठक धारा-प्रवाहरूप से इसका अध्ययन करेंगे तो भाषा की दृष्टि से भी उन्हें साहित्यिक गद्य का आनंद आयेगा और विषयवस्तु समझने में भी सुगमता रहेगी।

यद्यपि इसके अनुवाद में मैंने पूर्ण सत्कर्ता एवं सावधानी से काम किया है, फिर भी 'को न विमुख निशास्त्रसमुद्रे' की लोकोक्ति के अनुसार कहीं स्वल्पना हुई हो तो ध्यान आकर्षित करने का सानुरोध आग्रह है।

सभी पाठकगण इस ग्रन्थ का पुनः पुनः पारायण करके पूरा-पूरा लाभ उठायेंगे - ऐसी आशा और अपेक्षा है।

- रतनचन्द्र भारिल्ल

(१०)
<table>
<thead>
<tr>
<th>समयसार गद्यक/कलश</th>
<th>पृष्ठ</th>
<th>समयसार गद्यक/कलश</th>
<th>पृष्ठ</th>
<th>समयसार गद्यक/कलश</th>
<th>पृष्ठ</th>
</tr>
</thead>
<tbody>
<tr>
<td>प्रकाशकीय</td>
<td>(५)</td>
<td>गद्यक २६६</td>
<td>१३७</td>
<td>गद्यक २८८-२९०</td>
<td>३१३</td>
</tr>
<tr>
<td>समाधक की ओर से</td>
<td>(७)</td>
<td>गद्यक २६७</td>
<td>१४६</td>
<td>गद्यक २९१</td>
<td>३१७</td>
</tr>
<tr>
<td>अनुवादक की ओर से</td>
<td>(२१)</td>
<td>कलश १७१</td>
<td>१५०</td>
<td>गद्यक २९२</td>
<td>३२१</td>
</tr>
<tr>
<td>कलश १६३</td>
<td>१</td>
<td>कलश १७२</td>
<td>१६२</td>
<td>गद्यक २९३</td>
<td>३२४</td>
</tr>
<tr>
<td>गद्यक २३७-२४१</td>
<td>१०</td>
<td>गद्यक २७०</td>
<td>१६५</td>
<td>गद्यक २९४</td>
<td>३२६</td>
</tr>
<tr>
<td>कलश १६४</td>
<td>२४</td>
<td>गद्यक २७१</td>
<td>१७९</td>
<td>कलश १८१</td>
<td>३४५</td>
</tr>
<tr>
<td>गद्यक २४२-२४६</td>
<td>२५</td>
<td>कलश १७३</td>
<td>१८२</td>
<td>गद्यक २९५</td>
<td>३५०</td>
</tr>
<tr>
<td>कलश १६५</td>
<td>३२</td>
<td>गद्यक २७२</td>
<td>१९२</td>
<td>गद्यक २९६</td>
<td>३५२</td>
</tr>
<tr>
<td>कलश १६६</td>
<td>४४</td>
<td>गद्यक २७३</td>
<td>१९९</td>
<td>गद्यक २९७</td>
<td>३५५</td>
</tr>
<tr>
<td>कलश १६७</td>
<td>४८</td>
<td>गद्यक २७४</td>
<td>२०६</td>
<td>कलश १८२</td>
<td>३६३</td>
</tr>
<tr>
<td>गद्यक २४७</td>
<td>५३</td>
<td>गद्यक २७५</td>
<td>२१३</td>
<td>गद्यक २९८-२९९</td>
<td>३६८</td>
</tr>
<tr>
<td>गद्यक २४८-२४९</td>
<td>५७</td>
<td>गद्यक २७६-२७७</td>
<td>२२२</td>
<td>कलश १८३</td>
<td>३७६</td>
</tr>
<tr>
<td>गद्यक २५०</td>
<td>६२</td>
<td>कलश १७४</td>
<td>२३८</td>
<td>कलश १८४</td>
<td>३८१</td>
</tr>
<tr>
<td>गद्यक २५१-२५२</td>
<td>६८</td>
<td>गद्यक २७८-२७९</td>
<td>२३९</td>
<td>गद्यक ३००</td>
<td>३८४</td>
</tr>
<tr>
<td>गद्यक २५३</td>
<td>७५</td>
<td>कलश १७५</td>
<td>२४६</td>
<td>कलश १८५</td>
<td>३८८</td>
</tr>
<tr>
<td>गद्यक २५४-२५६</td>
<td>८२</td>
<td>कलश १७६</td>
<td>२४९</td>
<td>कलश १८६</td>
<td>३९२</td>
</tr>
<tr>
<td>कलश १६८</td>
<td>८७</td>
<td>गद्यक २८०</td>
<td>२५१</td>
<td>गद्यक ३०१-३०२</td>
<td>३९५</td>
</tr>
<tr>
<td>कलश १६९</td>
<td>८८</td>
<td>कलश १७७</td>
<td>२५८</td>
<td>गद्यक ३०४-३०५</td>
<td>४०१</td>
</tr>
<tr>
<td>गद्यक २५७-२५८</td>
<td>९६</td>
<td>गद्यक २८१</td>
<td>२६०</td>
<td>कलश १८७</td>
<td>४१०</td>
</tr>
<tr>
<td>कलश १७०</td>
<td>१००</td>
<td>गद्यक २८२</td>
<td>२६४</td>
<td>गद्यक ३०६-३०७</td>
<td>४१७</td>
</tr>
<tr>
<td>गद्यक २५९</td>
<td>१०४</td>
<td>गद्यक २८३-२८५</td>
<td>२६६</td>
<td>कलश १८८</td>
<td>४२६</td>
</tr>
<tr>
<td>गद्यक २६०-२६१</td>
<td>१०७</td>
<td>कलश १७८</td>
<td>२८१</td>
<td>कलश १८९</td>
<td>४३०</td>
</tr>
<tr>
<td>गद्यक २६२</td>
<td>११२</td>
<td>गद्यक २८६-२८७</td>
<td>२९१</td>
<td>कलश १९०</td>
<td>४३४</td>
</tr>
<tr>
<td>गद्यक २६३-२६४</td>
<td>११५</td>
<td>कलश १७९</td>
<td>३०२</td>
<td>कलश १९१</td>
<td>४३७</td>
</tr>
<tr>
<td>गद्यक २६५</td>
<td>१२१</td>
<td>कलश १८०</td>
<td>३०९</td>
<td>कलश १९२</td>
<td>४४१</td>
</tr>
</tbody>
</table>
बन्धाधिकार

अथ प्रविशति बंधः।

( शार्दूलविक्रीडित )
रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत् ॥
क्रीडंतं रसभावनिर्भरमहानाद्येन वंधं धुनत् ॥
आनंदमृतनित्यभोजि सहजावस्था स्फुटं नाद्यट् ॥
धीरोदारमनाकुलं निरुपधि ज्ञानं समुन्मज्जति ॥ १६३ ॥

( दोहा )
रागादिकते कर्मकौ, बन्ध जानि मुनिराय ॥
तजं तिनहि समभाव करि, नमः सदा तिन पाँच ॥

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि ‘अब बन्ध प्रवेश करता है।’ जिसप्रकार नृत्यमंच पर स्वाँग प्रवेश करता है; उसीप्रकार रंगभूमी में बन्धतत्त्व का स्वाँग प्रवेश करता है।

उसमें प्रथम ही, सर्व तत्वों को यथार्थ जाननेवाला सम्यग्ज्ञान बन्ध को दूर करता हुआ प्राप्त होता है, इस अर्थ का मंगलरूप काव्य कहते हैं -

श्लोकार्थ - [राग-उद्गार-महारसेन सकलं जगत् प्रमत्तं कृत्वा] जो (बन्ध) राग के उद्यरूपी महारस (मदिरा) के द्वारा समस्त जगत को प्रमत्त (मतवाला) करके, [रस-भाव-निर्भर-महा-नाद्येन क्रीडतं बंधं] रस के भाव से (रगरूपी मतवालेपण से) भरे हुए महा नृत्य के द्वारा खेल (नाच) रहा है - ऐसे बन्ध को [धुनत्] (उड़ाता) - दूर करता हुआ, [ज्ञानं] ज्ञान [समुन्मज्जति] उदय को प्राप्त होता है। (वह ज्ञान) [आनन्द-अमृत-नित्य-भोजि] आनन्दरूपी अमृत का नित्य भोजन करनेवाला है, [सहज-अवस्था स्फुटं नाद्यट्] अपनी ज्ञातुक्रियारूप सहज अवस्था को प्राप्त नचा रहा है, [धीर-उद्दाम्] धीर है, उदार है (अर्थात् महान विस्तारवाला,
निर्चल है ) [ अनाकुलं ] अनाकुल है ( अर्थात् जिसमें किंचित् भी आकुलता का कारण नहीं है ) [ निरुपधी ] उपाधि रहित है ( अर्थात् जो परियोजन रहित है या जिसमें कोई परद्वस्त सम्बन्धी प्रणयं-त्याग नहीं है - ऐसा है ।)

भावार्थ - बन्धत्व ने रंगभूमि में प्रवेश किया है, उसे दूर करके जो ज्ञान स्वयं प्रगट होकर नृत्य करेगा, उस ज्ञान की महिमा इस काव्य में प्रगट की गई है। ऐसा अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा सदा प्रगट रहो ॥ १६३ ॥

हिंदी मंगलाचरण पर प्रवचन

हिंदी टीकाकार पण्डित जयचंदजी मंगलाचरण करते हुए कहते हैं कि - पर्याय में जो राग-द्वेष, पुण्य-पाप आदि विकारी भाव होते हैं, उनसे कर्म बन्ध होता है। ये द्वा-दान, ब्रत-नियम, पूजा-भक्ति आदि तथा हंसा, झूठ आदि के सभी शुभाशुभ भाव बन्ध के भाव हैं।

महाबलादि के शुभराग रूप व्यवहारचारित्र के परिणाम भी बन्धनरूप हैं। जो मुनिराज इन शुभ परिणामों को बन्धनरूप जानकर अन्तर में एकाग्रता द्वारा वीतरागभाव को प्रगट करके त्याग देते हैं और मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें हमारा त्रिकाल वन्दन है।

आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप पूर्ण आनन्द का नाथ अभेदरूप एक ज्ञातव्यभावमय वस्तु है। मुनिराज अपने ऐसे निज आत्मदृष्टि में अन्तर एकाग्रता द्वारा स्थिर होकर परम शान्तरूप वीतरागभाव को - साम्यभाव को प्रगट कर लेते हैं और उसके द्वारा राग को - बन्ध को दूर करके मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

हिंदी टीकाकार पण्डित जयचंदजी छाबड़ा इस मंगलाचरण में ऐसे मुनिराज को श्रद्धावंदन करते हैं।

अहा! शुद्ध आत्मदृष्टि के आश्रय से जिनको अत्यत निर्विकार परिणाम हुआ है तथा कर्मबन्धन टल गया है; उन मुनिराज के चरणकमल में मैं नित्य वंदन करता हूँ।
कलश १६३ पर प्रवचन

जिसतरह कलाकार पात्र का भेष धारण कर रंगमंच पर प्रवेश करता है, उसीतरह यहाँ समयसार नाटक की रंगभूमि में जीव बन्धतत्व के भेष में प्रवेश करता है। यहाँ सर्वप्रथम टीकाकार ने सर्वत्र किया उसकी प्यार जाननेवाला तथा बंध को बन्धरूप पहचानकर उसे त्याग करनेवाले सम्यंज्ञान को समर्पण करते हुए मंगलरूप काव्य कहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि बन्ध अर्थात् राग की एकता बुद्धरूप मदिरा ने जगत के जीवों को प्रमुख अर्थात् धमनि कर दिया है। चाहें अशुभराग हो या शुभराग - दोनों प्रकार के रागभाव आत्मा के स्वरूप नहीं हैं।

देखो! यह अरहंत भगवान की बात नहीं है, शुद्धपर्यावरण से परिणामित अरहंत परमात्मा की आयोजना यह कथन नहीं है। यह तो शुद्ध चैतन्यस्वभावमय वीतागस्वभावी त्रैकालिक कारणपरमात्मा, जो सदैव अपने अन्दर विराजता है; उसकी बात है। उसके स्वरूप में शुभाशुभ भाव नहीं हैं।

बात कुछ सूक्ष्म है, परन्तु वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। अतः स्पष्टीकरण करने के लिए कहते हैं कि राग के एकत्र रूप मदिरा से सारा जगत मतवाला हो रहा है।

अहा! अपने ही अन्दर तीनतलक का नाथ भगवानस्वरूप निज आत्मा विराज रहा है। पर हमें उसकी पहचान नहीं होने से उसकी महिमा नहीं आती। हम तो राग में ही अटके हैं। मोह की गहराता में रागादिभाव को अपना स्वरूप और शुभभाव को भला मानकर उसी में अटके हुए हैं। हमें अपने स्वरूप और अनंत शक्तियों की कुछ भी सुध-बुध नहीं है। इसतरह सारा जगत मोह के महारस में उन्मत हो रहा है।

आगे कहते हैं कि बड़े-बड़े नामधारी पंचमहात्माओं के धारी द्रव्यलिंगी मुनि भी, जो कि हजारों रानियों और राज्य वैभव का त्याग करके जंगल में नष्ट करते हैं, इस मोह के महारस में प्रमुख होकर 'ये महात्मादि के शुभरागरूप
भाव मेरे हैं: इस प्रकार राग के साथ एकत्र करके उन्मत हो रहे हैं।
अथा! कैसी विचित्र स्थिति है?

सारी दुनिया से निराला वीतरागता का मार्ग तो कोई जुदी ही वस्तु है। वह तो मार्ग ही कोई अलौकिक है। उसमें वाद-विवाद से कहीं पार नहीं पड़ती।

भगवान आत्मा सहज आन-द्वस्वरूप प्रभु एक ज्ञानकभावरूप से सदा अपने अन्दर में विराजमान है। उसे भूलकर संसारी जीवों की जो राग में रुचि है, वह मिथ्यात्भाव है, बंधभाव है। वह मिथ्यात्भाव का रस—बंध का रस ही संपूर्ण जगत को उन्मत करके नृत्य के अखाड़े में नचा रहा है।

अब कहते हैं कि जिस बंध ने संपूर्ण जगत को गहल करके—मोह में मृष्टित करके उन्मत कर दिया है; उस बंध को उखाड़ फेंकने वाला सम्प्रभु उदित होता है। सम्प्रभु धर्मपुरूष जो कि रागरहित—बंधरहित—सदा अबंधस्वरूप ज्ञानानन्दमयी भगवान आत्मा का अनुभव करता है; वह बंध का अभाव करता हुआ सम्प्रभु को ज्योति जलाता है। जिसके ज्ञान में सचिवालयस्वरूप नित्य अबंध भगवान आत्मा आया, उसे आत्मा की उपलब्धि होती है और जिस बंध ने सारे जगत को उन्मत बना रखा है, उसे वह आत्मानुभवी आत्मा क्षण भर में नष्ट कर देता है।

अरे! अज्ञानी ने राग के रस की रुचि के कारण चौरासी के अवतार धारण करते हुए कौआ, कुता, कीड़ा-मकोड़ा और एकेन्द्रियादि निगोद के अवतारों में अनन्त-अनन्तर धारण किए हैं। अथा! इस बंध ने इस जीव को गाफिल करके चार गतिरूप संसार में राग का नाच नचाया है।

आचार्य देव यहाँ कहते हैं कि ऐसे बंध को अंतर में उदित हुए सम्प्रभु ने उखाड़ दिया है। अहाहा..... मैं तो राग के सम्बन्ध से रहित अबंधस्वरूप शुद्ध चैतन्यमय त्रिकली भगवान आत्मा हूँ; जिसको ऐसा ज्ञान हुआ, वह सम्प्रभु बंध को उखाड़ फेंकता है।

प्रश्न—क्या इस सम्प्रभु के प्रगट होने के साथ सामायिक, ग्रिन्यमण और ब्रत-उपवास करना जरूरी नहीं है?
उत्तर – भाई! अज्ञानी को तो सामाजिक, प्रतिक्रिया के असली स्वरूप का पता ही नहीं है; हाँ, ज्ञानी इनके सही स्वरूप को जानता है। अतः वह भूमिकानुसार इस्तेमाल करने का प्रयास करता है; पर सम्यक्ज्ञान उद्दित होते ही इतनी पूर्णता भी प्रकट हो जाये – यह आवश्यक नहीं है। हाँ, इसका आदर और आंशिक प्रारंभ ज्ञानी के हो जाता है।

वास्तव में अन्दर में ज्ञानानंद की मूर्ति प्रभु आत्मा नित्य विराज ही रहा है। जब उसका ज्ञान-श्रृद्धांजल प्रकट हुआ और उसी में आंशिक रूप से जमने लगा तो उस जमने को ही भगवान सामाजिक कहते हैं। आत्मा में स्थिरता धीरे-धीरे क्रमशः होती है। जिसमें अतीत-निविद्य आनंद का परम अद्भुत आहारकारी समरस प्रगट होता है, उसे सामाजिक कहते हैं।

आत्मा आनन्द का रसकंद प्रभु है। उसमें एकायं होकर ठहरने पर आनंद के अमृत का स्वाद प्रगट होता है। यह पुण्य-पाप के रस का स्वाद तो जहर का स्वाद है। इसके स्वाद में सारा जगत पागल हो रहा है। जब यह जीव इस पुण्य-पाप के रस से भितर पड़कर अपने शुद्ध चैतन्य रसकंद परमानंद मूर्ति स्वरूप प्रभु आत्मा में दृष्टि करता है, तब उस राग व बंध को उखाड़ देता है। अन्तर्विष्टी करने पर जो अबंबधवभावी एक ज्ञात्रक्षात्र आत्मा की प्रतीति व ज्ञान प्रगट होता है, बस उसी का नाम धर्म है।

सम्यक्ज्ञान प्रगट होने पर भगवान आत्मा नित्य ही आनन्दरूप अमृत का भोजन करनेवाला है। पहले अनादि से आत्मा की रागरूप दशा थी, दुःखरूप दशा थी; परंतु अब राग से, पुण्य-पाप के विकल्प से भेदज्ञान होने पर आत्मा को चिदानन्दसकंद स्वरूप अपने भगवान आत्मा का ज्ञान हुआ है, सम्यक्ज्ञान प्रगट हुआ है। अतः अब वह नित्य ही आनन्दस्वरूप अमृत का भोजन करता है। भगवान आत्मा सहजज्ञानस्वरूप नित्य आनंदस्वरूप है और उसके स्वामिवर्ग द्वारा प्रगट हुआ ज्ञान पर्याप्त में नित्य आनन्द का भोजन करनेवाला है।
प्रश्न - सम्प्रदायविशिष्ट भी तो इन्द्रियों के विषयों का भोजन होता है, उसे भी तो राग होने से इन्द्रियों के विषय अच्छे लगते हैं; फिर उसे ‘आनन्दमूल नित्य भोजि’ कहों कहा गया है?

समाधान - जिस सम्प्रदायविशिष्ट को आनन्द के नाथ भगवान आत्मा का अनुभव हुआ है, उसे सुखस्वरूप आत्मा की प्रतीति हुई है, इसकारण मुख्य रूप से तो वह नित्य आनन्द का ही भोजी है। उसे उस समय जो किंचित् राग है, उसे यहाँ गौण करके ऐसा कहा है। इस कथन से यह नहीं समझना चाहिए कि वह केवल अतीत्रिय आनन्द को ही भोगता है, उसे दुःख होता ही नहीं है। जितना राग है उतना रागजनित लौकिक सुख या दुःख भी है। यहाँ जो उसे नित्य आनन्दभोजी कहा है, वह तो वीररागता का अंश प्रगट होने की मुख्यता से कहा है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि समक्षती को जितना (किंचित्) राग है, उतना दुःख भी है। जबतक पूर्ण वीररागता प्रगट नहीं होती, तबतक दया, दान, ब्रत,
कलश १६३

भक्ति इत्यादि के विकल्प उसे होते ही हैं और वे सब रागरूप हैं और इसके कारण दुःख का वेदन भी है। पर यहाँ उसकी मुख्यता न करके अतीतिय आनन्द की मुख्यता से उसे नित्य आनन्दभोजी कहा है।

अहा ! दृष्टि (दर्शन) निर्विकल्प है तथा उसका विषय नित्यानंद प्रभु अर्धे एक निर्विकल्प है। अतः दृष्टि की अपेक्षा सम्प्रदृष्टि को नित्य आनन्द का ही अनुभव है – ऐसा कहा है। बाकी दृष्टि के साथ जो ज्ञान प्राप्त है, वह तो ऐसा व्यत्यार्थ जानता है कि जितना राग शेष है, उतना दुःख का वेदन है तथा उतना बंध भी है, जो कि द्रव्यबंध का कारण बनता है।

जिसतरह सूर्य का संयोग पाते ही हजार पांडुबी का सहस्रदल कमल खिल उठता है; उसीतरह अंतर्दृष्टि होते ही, भगवान आत्मा का साँवध्य पाते ही आत्मा के अंसंख्य प्रदेशों में समक्ष का सहस्रदल कमल खिल उठता है। जो आनन्द शक्ति अपेक्षा इंद्र में पड़ा था, वह पर्याय में प्राप्त हो जाता है, बाहर में उखल पड़ता है, उद्यासत हो जाता है। बस, इसी का नाम समक्षी की निर्जरा है। जो ऐसे अतीतिय आनन्दरूप का नित्यभोजी होता है, उसे ही निर्जरा होती है।

‘सहज-अवस्था स्फुटं नाद्युत्’ कहकर उस ज्ञान की विशेषता प्राप्त करते हुए आचार्य कहते हैं कि ‘वह ज्ञान अपनी क्रियारूप सहज अवस्था को प्राप्त नचा रहा है।’

कहते हैं कि सम्प्रदृष्टि का ज्ञान जाननक्रियारूप सहज अवस्था से नाच रहा है। पहले अज्ञान दशा में जहाँ राग नाचता था, वहाँ अब सम्प्रदशन प्राप्त होने पर जाननक्रिया मात्र अपनी सहज निर्मल अवस्था को प्राप्त हुई है।

तथा वह ज्ञान ‘धीरं उदारं’ अर्थात् धीर है, उदार है। अहा ! सम्प्रदानी के ज्ञान को धीर कहकर आचार्य यह कहता चाहते हैं कि वह ज्ञान अपने स्वरूप में समाकर रहता है। यहाँ-वहाँ के बाद कर्ज्यत्व में नहीं अटकता-भटकता। अनुकूलता-प्रतिकूलता में जहाँ अज्ञानी हर्ष-विषय करने लगता है, आकूल-व्याकूल हो जाता है; उन्हीं परिस्थितियों में ज्ञानी ज्ञाता-दृष्टा रहकर समताभाव
धारण कर लेता है - खेददर्द नहीं होता। इसप्रकार ज्ञान का ज्ञान महाधीर है। बस, इसी के कारण वह निरस्तर अत्त-आराधना में लगा रहता है।

वह ज्ञान उदार है। साधक की अनाकुल आनंद की धारा अविरल रूप से वृद्धिगत होकर परम आनंद की ओर गमन करते रहते हैं, प्रवाहित होती रहती है। इसतरह वह अनन्त पुरुषार्थ को जागृत करे - ऐसा उदार है। भीषण प्रतिकूल प्रसंगों में भी अन्दर से धारावाही शान्ति की धारा निकलती ही रहती है - ऐसा उदार है।

वह ज्ञान अनाकुल है। उस ज्ञान में जरा भी आकुलता नहीं होती। ज्ञानी को जरा भी हर्ष-विसाद नहीं होता। उसे जो किंचित् अस्थिरता होती है, वह यहाँ गौण है। वास्तव में तो वह निराकुल आनंद का भोजन करनेवाला ही है। जिसका केवल जानना मात्र स्वरूप है, उसमें आकुलता कैसी?

वह ज्ञान राग की उपाधि से रहित है। सम्यग्ज्ञान परिग्रह से रहित है। उसमें कोई भी परद्रव्य सम्बन्धी ग्रहण-त्याग नहीं है।

इसप्रकार राग से भिन्न पड़कर भगवान आत्मा में अन्तर एकाग्र होने पर प्रगट हुआ ज्ञान बंध को उखाड़ने वाला, आन्दोलन का नित्य भोजन करनेवाला, जानन-क्रियारूप सहज अवस्था को नचाता हुआ धीर, उदार, अनाकुल और निराधारिस्वरूप है। ऐसा सम्यग्ज्ञान महामंगलरूप है।

कलश १६३ के भावार्थ पर प्रवचन

समयसार को नाटक की उपमा दी है; इसलिए बंधतत्व को एक रंगमंच पर पात्र के रूप में प्रस्तुत कराया है। वस्तुतः राग का उपयोग में एकत्र होने का नाम बंधतत्व है। भगवान आत्मा शुद्ध चेतन्यस्वरूप है। उसके उपयोग में - ज्ञान में विकार का - राग का एकत्र होना बंधतत्व है। जड़कर्मों का बन्ध तो बाध्य निमित मात्र है।

यहाँ इस कलश में उस सम्यग्ज्ञान की महिमा प्रगट की है, जो उस बंधतत्व को नाश करके स्वयं प्रगट होकर आत्मा के उसी रंगमंच पर नृत्य करेगा, जिस पर अभी तक (अज्ञानदशा में) बंध नाच रहा था।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com
व्याख्या १६३

यहाँ कहते हैं कि वह ज्ञान महामहिमावत है, मंगलमय है; जिसने उपयोग के साथ हुई राग को एकता को तोड़ डाला है तथा जो स्वयं नित्यानंद स्वरूप भगवान आत्मा में आश्रय लेकर स्वरूप में एकत्वपने से परिणाम है।

उपयोग में राग का एकत्व ही मुख्यरूप से बंध है। ऐसे बंध को नाश करके प्रगट होनेवाला ज्ञान निराकुल आनन्द का नृत्य करता है। पहले जो राग के एकत्व में नाचता था, वह ज्ञान अब राग से भिन्न होकर – भेदज्ञान करके निज ज्ञानन्दस्वभाव में एकत्व स्थापित करके आनन्द का नाच नाचता है। इसी का नाम सम्यज्ञान है तथा वह आनन्द देनेवाला ज्ञान अत्यन्त धीर व उदार होने से महामंगलरूप है।

अब कहते हैं – ‘ऐसा अनंतज्ञानस्वरूप आत्मा सदा प्रगट रहे।’

भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त सामथर्य से युक्त अनन्त ज्ञानस्वरूप द्रव्य है। इसका ज्ञानस्वभाव अपरिमित है, असीमित है। क्षेत्र से भले ही आत्मा शरीर प्रमाण व असंख्यात प्रदेशी हो, पर इसका स्वभाव तो अनन्त ज्ञानस्वरूप है।

यहाँ कहते हैं कि ऐसा अनन्तज्ञानस्वरूप आत्मा मेरे वर्तमान ज्ञान में सदा प्रगट रहे। वर्तमान में जैसा अनन्तज्ञानस्वरूप आत्मा मेरे ज्ञान में झलका है, ऐसा ही अनंतकाल तक झलकता रहे।

अवतंतक जो पर्यायवृद्धि में विकार के एकत्वरूप परिणामन था, द्रव्यदृष्टि से, स्वभावदृष्टि से उसका नाश करने से प्रगट हुए सम्यज्ञान में अनन्तज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा ज्ञात हुआ है और उस ज्ञान का परिणामन शुद्ध निराकुल निर्मल आनन्दरूप प्रगट हुआ है। वह अनन्तज्ञानस्वरूप आत्मा सदा प्रगट रहे।
समयसार गाथा २३७ से २४१

जह नाम को वि पुरिसो गोष्ठतो दु रेणुबुल्लमी।
ठाणम्म ठाइउण य करेदि सत्येहिं वायामं। २३७॥
छिन्नदि भिन्नदि य तहा तालीतलकयलिवसपिंडी।
सचित्ताचित्तानं करेदि दव्याण मुवादां। २३८॥
उवादां कुर्वत्सस्त तस्स णाणाविहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतेजु हु किंपचच्चयगो दु रयबंडो। २३९॥
जो सो दु णोभावो तमि णारे तेण तस्स रयबंडो।
णिच्छयदो विणयं णा कायचेटवाहि सेसाहि। २४०॥
एवं मिच्छादिद्वी वई तो बहुविहासु चिह्वासु।
रायादि उवामो गे कुर्वतो लिप्यदि रायण। २४१॥

यथा नाम कोः पिपुः स्नेहाभ्यक्तस्तु रेणुबुल्ले।
स्थाने स्थितवा च करोति शास्त्रेव्यायामम्। २३७॥
छिन्नति भिन्नति च तथा तालीतलकदलीवंशपिंडी।
सचित्ताचित्तानं करोति इवाणामुपाधाम्। २३८॥
उपाधां कुर्वत्सस्त नानाविर्य: करणे। २३८॥
निष्कर्षतिचिंतयतां खलु किंपचच्चयिकामकस्तु रजोवंध्। २३९॥
यः स्तु स्नेहाभवतसिस्तये तेन तस्स रजोवंध्। २३९॥
निष्कर्षतो विज्ञेष्यं न कायचेटवाहि: शेषाभि। २४०॥
एवं मिद्याद्विद्विर्मतमानो बहुविहासु चेष्टासु। २४०॥
रागादीनुपयोगे कुर्वानो लिप्यते रजसा। २४१॥

इह खलु यथा करश्चतु पुरुषः स्नेहाभ्यक्तः, स्वभावत एव रजोबुल्लायां भूमू स्थिरः; शास्त्रव्यायामकर्म कुर्वान: अनेकप्रकारकरणे; सचित्ताचित्तवस्तूनि निन्जनू रजसा बहुते। तस्य कतो बंधहेतुः? न तावतस्वभावत एव रजोबुल्लाभूमूः, स्नेहाभ्यक्ता नामपि तत्रस्थानां तत्त्वसंगतू। न शास्त्रव्यायामकर्म, स्नेहाभ्यक्तानामपि तस्मात् तत्त्वसंगत।

नाने कः प्रकारकरणानि, स्नेहाभ्यक्तानामपि तस्तत्त्वसंगत। न सचित्ताचित्तवस्तूपादात्, स्नेहाभ्यक्तानामपि तस्मिस्तत्त्वसंगत।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com
समयसार गाथा २३७-२४९

न्यायबलेनैवैतदायतां, यत्तसिम्नू पुरुषे स्नेहाध्यांमकरणं स बंधहेतु:। एवं मिथ्यादृष्ट: आत्मनि रागाद्वी कुर्वां:, स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुले लोके कायवाह्यमःकर्म कुर्वां:, अनेक प्रकारकरणे: साचिताचितव्वत्तूनिन्यान्, कर्मग्नसा बध्यते। तस्य कठमो बंधहेतु:। न तात्तस्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुले लोक:, सिद्धनामपि तत्रस्थानां तत्त्वसंगात्। न कायवाह्यमःकर्म, यथाख्यातसंपत्तानामपि तत्त्वसंगात्। नानेक प्रकारकरणानि, केवलज्ञाननामपि तत्त्वसंगात्। न सचिताचितव्वत्तूपथात:, समितित्वरणामामि तत्त्वसंगात्। ततो न्यायबलेनैवैतदायतां, यदुपयोगे रागादिकरणं स बंधहेतु:।

अब वन्धतत्व के स्वरूप का विचार करते हैं, उसमें परहेज, बंध के कारणों को स्पष्टता बताते हैं :–

ज्यों तेल मर्दन कर पुरुष रेणु बहुल स्थान में।
व्यायाम करता शस्त्र से बहुविध बहुत उत्साह से॥ २३७॥
तरु ताड़ कदली बाँस आदिक वनस्पति छेड़न करे।
सचिता और अचित द्रव्यों का बहुत भेदन करे॥ २३८॥
बहुविध बहुत उपकरण से उपयोग करते पुरुष को।
परमार्थ से चिनन करो रजबंध किसकरण हुआ॥ २३९॥
विचिनकाई ही रजबंध का कारण कहा जिनराज ने।
पर कायचेष्टादिक नहीं यह जान लो, परमार्थ से॥ २४०॥
बहुभाँति चेष्टारत तथा रागादि को करते हुए।
सब करमरज से लिप्त होते हैं जगत में अजजन॥ २४१॥

गाथार्थ :- [ यथा नाम ] जैसे [ क: अपि पुरुष: ] कोई पुरुष [ स्नेहाध्यक्ष: तु ] (अपने शरीर में) तेल आदि सिग्ध पदार्ध लगाकर [ च ]
[ तालीतलकदलीवंशशिरिण्डी: ] ताड़, तमाल, वेल, बाँस, अशोक इत्यादि वृक्षों

टीका – जैसे – इस जगत में वास्तव में कोई पुरुष स्नेह (तेल आदि चिकने पदार्थ) से मर्दनयुक्त हुआ, स्वभावेत: ही बहुत-सी धूलिमय भूमि में रहा हुआ, शास्त्रों के व्यायामरूपी कर्म (क्रिया) को करता हुआ अनेक प्रकार के करणों के द्वारा सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ, (उस भूमि की) धूलि से बढ़ होता है - लिप्त होता है। (यहाँ विचार करो कि) इनमें से उस पुरुष के बंध का कारण कौन है ? पहले, जो स्वभाव से ही बहुत-सी धूलि से भरी हुई भूमि है वह धूलिबिंध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादि का मर्दन नहीं किया है ऐसे उस भूमि में रहे हुए पुरुषों को भी धूलिबिंध का प्रसंग आ जाएगा। शास्त्रों का व्यायामरूपी कर्म भी धूलिबिंध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादि का मर्दन नहीं किया है उनके भी शास्त्र व्यायामरूपी क्रिया के करने से धूलिबिंध का प्रसंग आ जाएगा। अनेक प्रकार के करण भी धूलिबिंध के कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादि का मर्दन नहीं किया है उनके भी
समयंसर गाथा २३७-२४१

अनेक प्रकार के करणों से धूलिबंध का प्रसंग आ जाएगा। सचित्ता तथा अचित्त
वस्तुओं का घात भी धूलिबन्ध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने
tैलादि का मरदन नहीं किया; उन्हें भी सचित्ता तथा अचित्त वस्तुओं
का घात करने से धूलिबन्ध का प्रसंग आ जाएगा।

इसलिए न्याय के बल से ही यह फलित (सिभ) हुआ कि, उस पुरुष में
tैल का मरदन करना बंध का कारण है। इसीप्रकार - मिथ्यादृष्टि अपने में
रागादिक करता हुआ, स्वभाव से ही जो बहुत से कर्मयोग्य पुद्रगलों से भरा
huA है ऐसे लोक में काय-वचन-मन का कर्म (क्रिया) करता हुआ, अनेक
प्रकार के करणों के द्वारा सचित्ता तथा अचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ,
कर्मपूर्ण रज से बाँधता है। (यहाँ विचार करो कि) इनमें से उस पुरुष के बंध
का कारण कौन है? प्रथम, स्वभाव से ही जो बहुत से कर्मयोग्य पुद्रगलों से
भरा हुआ है ऐसा लोक बंध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो तिस्वरूपः
के भी - जो कि लोक में रह रहे हैं - बंध का प्रसंग आ जाएगा। काय-वचन-मन का कर्म (अर्थात्
काय-वचन-मन की क्रियास्वरूप योग) भी बंध का
कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो यथायथयातसंबंधियों के भी (काय-वचन-मन की क्रिया होने
s) बंध का प्रसंग आ जाएगा। अनेक प्रकार के
करण भी बंध के कारण नहीं हैं; क्योंकि यदि ऐसा हो तो केवल ज्यों के
भी (उन करणों से) बंध का प्रसंग आ जाएगा। सचित्ता तथा अचित्त वस्तुओं
का घात भी बंध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जो समिधी में
तत्पर हैं, अर्थात् जो यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं ऐसे साधूओं के भी (सचित्त
तथा अचित्त वस्तुओं के घात से) बंध का प्रसंग आ जाएगा। इसलिए न्याय
बल से ही यह फलित हुआ कि, उपयोग में रागादिकरण (अर्थात् उपयोग में रागादि
का करना), बंध का कारण है।

भावार्थ - यहाँ निश्चयन्य को प्रधान करके कथन है। जहाँ निर्बंध हेतु
से सिद्ध होती है, वही निश्चय है। बंध का कारण विचार करने पर निर्बंधतत्वा
*करण-इत्यादि
प्रवचनरत्नाकर भाग ८

यही सिद्ध हुआ कि - मिथ्यादृष्टि पुरुष जिन रागद्वेबोधभावों को अपने उपयोग में करता है, वे रागादिक ही बन्ध के कारण हैं। उनके अतिरिक्त अन्य-बहु कर्मयोग्य पुद्रालों से परिपूरण लोक, मन-वचन-काय के योग, अनेक करण तथा चेतन-अचेतन का घात - बंध के कारण नहीं हैं; यदि उनसे बन्ध होता हो तो सिद्धों के, यथायथ चारित्रिकारणों के, केवलज्ञानियों के और सम्मिलितक प्रवृत्ति करनेवाले मुनियों के बन्ध का प्रसंग आ जाएगा। परन्तु उनके तो बंध होता नहीं है। इसलिए इन हेतुओं में (कारणों में) व्यभिचार (दोष) आया। इसलिए यह निश्चय है कि बन्ध के कारण रागादिक ही हैं।

यहाँ सम्मिलितक प्रवृत्ति करनेवाले मुनियों का नाम लिया गया है और अविरत, देशविरत का नाम नहीं लिया। इसका यह कारण है कि अविरत तथा देशविरत के बाह्यसम्मिलितक प्रवृत्ति नहीं होती; इसलिए चारित्रिकोह संबंधी राग से किंचित्त बंध होता है। अतः बन्ध के सर्वथा अभाव की अपेक्षा से उनका नाम नहीं लिया। वैसे अतर्जु की अपेक्षा से तो उन्हें भी निर्धार ही जानना चाहिए।

समयसार गाथा २३७ से २४१ एवं उनकी टीका पर प्रवचन

यहाँ ‘इस जगत में’ कहकर जगत की सिद्ध की है। ‘तैल से मर्दन युक्त हुआ’ कहकर न केवल साधारण रूप से तेल लगाना कहा, बल्कि खूब मालिक करके चिकनाई युक्त हुआ कहा है।

यह तो मात्र उदाहरण है। इसमें ऐसा कुरौक करना ठीक नहीं है कि देखो ! भूमि में रहा है कि नहीं ? व्यायामरूपी क्रिया करता है कि नहीं ? व्यवहार की क्रिया करता है कि नहीं ?

बापू ! यहाँ यह प्रसन नहीं है। यहाँ तो इसका दृष्ट्यांत देशरिक सिद्धान्त समझाना है। यदि कोई दृष्ट्यांत में ही कुरौक करके सत्य तथ्य की अवहेलना करे तो इसका क्या उपयोग है ?

यहाँ सचिव-अचिव के घात करने की जो बात कही है, उससे ऐसा नहीं समझना कि ‘कोई किसी का घात नहीं कर सकता’ वाले सिद्धान्त का घात
समयसार गाथा २३७-२४१

हो रहा है। वह सिद्धान्त तो अपनी जगह अटल है। यह कथन तो केवल उदाहरण है और एकदेश ही लागू पड़ता है। जब कोई जीव किसी पर का घात कर ही नहीं सकता तो हानि-लाभ भी कैसे कर सकता है?

यहाँ जो यह कहा है कि सच्चे अर्थात् एकेन्द्रियादि प्राणियों का घात करना तथा अचित अर्थात् पत्थर आदि के बने पुतले आदि पर हेष प्रगट करके उनकी तोड़-फोड़ करना - इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि कोई किसी परजीवि का घात या तोड़-फोड़ कर सकता है। यहाँ तो इस कथन से यह सिद्ध करना है कि जीव परजीवियों या परवस्तुओं के घात करने का जो भाव करता है, वह भाव ही उसका कर्म है, कार्य है। परवस्तु या परजीवि का घात करना जीव का कार्य नहीं है।

हाँ, जब किसी जीव का घात उसके स्वर्ग के स्वच्छत्व की योग्यता से जिससमय होता है और कदाचित् उसीसमय किसी अन्य जीव का भाव उसे घात करने में निर्भर होता है, तब व्यवहार से - उपचार से ऐसा कहा जाता है कि अमुक जीव ने अमुक का घात किया।

यहाँ मूल प्रकरण यह है कि शास्त्रों में जो कर्मबन्ध के अनेक कारण नहीं हैं, उनमें वस्तुतः बन्ध के कारण क्या हैं?

उत्तर में रज का दृष्टान्त देकर स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि स्वभावतः रज से भरी भूमि व्यायाम करनेवाले पुरुष के रज-बंध में कारण नहीं है; क्योंकि यदि रज को ही रजबंध का कारण माना जाय तो जिसने तेल से मालिश नहीं की, उसे भी रजबंध का प्रसंग प्राप्त होगा; जबकि उसे रजबंध होता नहीं है। रजबंध को तेल से मर्दन युक्त देख वाले पुरुष के ही होता है; अन्य के नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि जिसे तेल लगा है, उसे ही रजबंध होता है। अर्थात् तेल की चिकनाइ ही रजबंध का कारण है।

दूसरी बात - हथियारों से किया गया व्यायामरूपी कर्म भी रजबंध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिसने तेल मर्दन नहीं किया, उसे
केवल शस्त्र के द्वारा व्यायामरूप की गई क्रिया से रजबंध होने का प्रसंग प्राप्त होगा; परन्तु ऐसा होता नहीं है। रजबंध तो मात्र उसे ही होता है, जिसने तेल लगा रखा है; अन्य के नहीं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि एकमात्र तेल को चिकनाइं ही रजबंध का कारण है; शस्त्रों की व्यायामरूप क्रिया बंध का कारण नहीं।

तीसरी बात – अन्य अनेक प्रकार के करण भी रजबंध के करण नहीं हैं; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तेल का मर्दन नहीं किया, उसे भी अनेक प्रकार के करणों से रजबंध होने का प्रसंग प्राप्त होगा; परन्तु ऐसा होता नहीं है। रजबंध तो मात्र उन्हें ही होता है, जिन्होंने तेल का मर्दन किया है; अन्य के नहीं।

चौथी बात – सचित्र व अचित्र वस्तुओं का घात भी रजबंध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा मानें तो जिसने तेल मर्दन नहीं किया, उसे भी सचित्र तथा अचित्र वस्तुओं के घात करने से रजबंध का प्रसंग प्राप्त होगा; परन्तु ऐसा भी होता नहीं है।

इस सबसे यह स्पष्ट है कि तेल की चिकनाइं ही बंध का कारण है, सचित्राचित्र वस्तुओं का घात बंध का कारण नहीं है।

अब सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए उपर्युक्त दृष्टांत को सिद्धान्त पर घटित करते हैं – उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि स्वभावतः कर्मयोग्य पुद्रालों से भरे इस लोक में मन, वचन व काय की क्रिया करते हुए सचित्र व अचित्र वस्तुओं का घात करते हुए मात्र अपने रागादि भावों से कर्मरज से बंधता है। इन सभी करणों के रहते हुए भी वह एकमात्र अपने रागादि भावों से ही कर्मरज से बंधता है। अन्य कोई भी करण कर्मरज के बंध का कारण नहीं है।

अब कहते हैं कि अज्ञानी मिथ्यादृष्टि अपने ज्ञानन्दस्वरूपी अखण्ड एक चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा को न पहचानते हुए वर्तमान अवस्था में जो शुभाशुभ रागादि भाव होते हैं, उन्हें ही अपना स्वरूप मान लेता है। वह पर निमित्तादि संयोगों एवं संयोगीभावों में अटका रहता है। जबकि जड़ दृष्टि तो चैतन्यस्वभाव
समवसर गाथा २३७-२४९

से बाह्य हैं ही, रागादि भाव भी शुद्ध-चैतन्य से बाहर ही हैं। उन बाह्य भावों
को जो अपना जानता है, मानता है; वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है। वह कर्मरज
से बंधता है।

अब यहाँ पूछते हैं कि राग से संयुक्त अज्ञानी मिथ्यादृष्टि बहुकर्मयोग्य
रजकणों से ठसा-ठस भरे लोक में मन-वचन-काय की क्रिया करता है
और अनेक करणों (हस्तादि) के द्वारा सचित्त-अचित्त वस्तुओं का घात
करते हुए कर्मरज से बंधता है। तो वहाँ उस अज्ञानी के मूलतः बन्ध का
कारण क्या है?

इस संदर्भ में यह कहा गया है कि प्रथम तो कर्मयोग्य पुदुगलों से भरा
यह लोक बंध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो लोकाय को स्थिर
सिद्ध भगवन्तों के भी बंध का प्रसंग प्राप्त होगा, किंतु ऐसा है नहीं। लोकाय
में स्थिर सिद्धों को वहाँ विद्यमान कर्मरज कणों से बन्ध नहीं होता। कर्मबंध
तो राग से संयुक्त रूप के ही होता है। इसलिए उपयोग में राग का संयुक्त
पुरुष के ही होता है। इसलिए उपयोग में राग का संयुक्तपुरुष
ही बंध का कारण है।

शुद्ध चैतन्याकार स्वभाव में शुभशाक्ति भला व अशुभशाक्ति बुरा - ऐसे दो
भाग नहीं हैं। मिथ्यादृष्टि ने अज्ञान के कारण अपने शुद्ध स्वरूप में ऐसे दो
भाग कर रखे हैं, किंतु यह तो विषमता है और यही विषमता बन्ध का कारण
है। भगवान सिद्ध तो पूर्ण समभाव - बीतरागभाव से परिणत हैं। इसकारण
वहाँ कर्म योग युद्ध होते हुए भी उनसे सिद्ध भगवान के बंध नहीं होता।

दूसरे, काय, वचन व मन का कर्म भी बन्ध का कारण नहीं है, क्योंकि
यदि ऐसा हो तो यथाख्यात संयमी के भी बन्ध का प्रसंग आयेगा। अकषयी
बीतरागी मुनिवरों के भी योग की क्रिया होती है; उन्हें भी बंध होना चाहिए।
जबकि ऐसा होता नहीं है। देखो न ! ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान की
शुक्लदृष्टि अवस्था में भी मन का निमित्त तो होता है, मन की क्रिया भी होती
है, फिर भी वहाँ काय न होने से बन्ध नहीं होता; क्योंकि योग की क्रिया
बन्ध का कारण नहीं है।
तीसरे, अनेक प्रकार के कारण भी बंध के कारण नहीं हैं, यदि ऐसा हो तो केवल जानियों के भी बंध का प्रसंग प्राप्त होगा; क्योंकि उनके भी कारण अर्थात् इन्द्रियाँ हैं। परन्तु इन्द्रियाँ होते हुए भी राग के अभाव में उनके कर्मबंध नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि अनेक प्रकार के कारण अर्थात् इन्द्रियाँ आदि भी बंध के कारण नहीं हैं। एकमात्र राग ही बंध का कारण है।

चौथे, सचित्र व अचित्र वस्तुओं का घात भी बंध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जो समिति में तत्पर है उन्हें भी बंध का प्रसंग प्राप्त होगा। जबकि ऐसा होता नहीं है। इससे स्पष्ट है कि सचित्र व अचित्र वस्तुओं का घात भी बंध का कारण नहीं है।

सारांश यह है कि उपयोग में वर्तमा राग ही एकमात्र बंध का कारण है।

अहाहा……….! भगवान आत्मा सचिवालय प्रभु तो सदा चैतन्य उपयोगस्वरूप है। उसके परिणाम मुख्य उपयोग ज्ञान में राग की एकता करना बंध का कारण है। अर्थात् राग का होना भी बंध का मुख्य कारण नहीं है। बंध का मुख्य कारण तो राग में एकताबुद्धि है। यहाँ दर्शनशृद्धि की अपेक्षा कथन किया है; क्योंकि यहाँ मिथ्यादृष्टि को जो राग में एकताबुद्धि है, वही बंध का कारण है – यह सिद्ध करना है। तथा सम्बंध उनके जो अल्प राग है और उससे मिथ्यात्मा व अनन्तनुबंधी के अतिरिक्त जो अल्पबंध होता है, उसे यहाँ गौण करके ऐसा कहा है कि सम्बंध व राग बंध का कारण ही नहीं है।

सम्बंध को अस्थिरता संबंधी राग के कारण जो अल्प बंध होता है, उसे मुख्य न करके अर्थात् उसे गौण करके केवल मिथ्यादृष्टि के राग को ही यहाँ बंध का कारण सिद्ध करना है।

‘११वीं गाथा में जो ऐसा कहा गया है कि ‘व्यवहार अभूतार्थ है’, असत्यार्थ है’ वहाँ १२वीं गाथा में व्यवहार को असत्यार्थ कहकर १२वीं गाथा में ही जो यह कह दिया है कि – ‘व्यवहार सत्त है, जाना हुआ प्रयोजनवान है’ उसे भी नहीं भूलना चाहिए। अतः जहाँ जैसा जो अपेक्षा हो, उसे बराबर समझना चाहिए।
भाई ! इसका अर्थ यह है कि १२वीं गाथा में समकिती को शुद्धनय का आश्रय कराना इस्तेमाल है; क्योंकि उसके बिना आत्मा का आश्रय संभव नहीं है, शुद्धनय के आश्रय से ही वह समकिती है - यह सिद्ध करना है। इसकारण वहाँ व्यवहार को असत्यार्थ कहा है और १२वीं गाथा में व्यवहार को जाना हुआ प्रयोजनवान कहा है।

इसीकारण तो पण्डित जयचन्द्रजी ने स्पष्ट किया है कि व्यवहार को जो असत्य सिद्ध किया है, वह गौण करके असत्य सिद्ध किया है; निषेध करके नहीं। बंध के इस प्रकरण में भी ऐसा ही समझना। अन्यथा अभिप्रय ग्रहण करके स्वच्छन्द नहीं होना।

अहा ! आश्रय करने के समबन्ध में त्रिकाली ध्रुव द्रव्य ही मुख्य है। इसकारण वहाँ १२वीं गाथा में द्रव्यस्वभाव को मुख्य करके उसे निरंचय कहा है, सत्यार्थ कहा है और पर्याय को व्यवहार कहकर असत् कहा है। तात्पर्य यह है कि द्रव्यस्वभाव जो कि मुख्य है, उसकी दृष्टि करने पर ही सम्यक्क्रम होता है; इसलिए वही सत्यार्थ है। ऐसा कहकर पर्याय को गौण किया है। यद्यपि पर्याय को असत्यार्थ कहा, पर ऐसा कहकर उसका निषेध नहीं किया है।

भाई ! यह तो बीतराग का मार्ग है, अतः यहाँ तो एकमात्र यह प्रयोजन है कि बीतरागता कैसे हो ? अतः सर्वन्त्र बीतरागता का ही रहस्य प्राप्त किया गया है।

पंचास्तिकाय की १२वीं गाथा में आया है कि सब शास्त्रों का तात्पर्य एकमात्र बीतरागता ही है। अहा ! चारों ही अनुयोगों का सार बीतरागता है।

यह बीतरागता पर्याय में प्रागत कैसे हो ? इसके समाधान में कहते हैं कि त्रिकाली, सत्यार्थ, सदा बीतरागस्वभावी, एक भगवान आत्मा का आश्रय करने से ही बीतरागता प्राप्त होती है। अतः उस त्रिकाली ध्रुव निज परमात्मा में ही दृष्टि करना। यही चारों अनुयोगों का सार है - ऐसा सिद्ध हुआ।

भाई ! यह हम सबके हित की बात है। हमारा हित कैसे हो ? इस प्रश्न का एकमात्र यही समाधान है कि - परमात्मस्वरूप परमसत्स्वरूप
सचिवालयस्वरूप प्रभु अन्तर में नित्य साक्षात् विराजमान है। ऐसे निज परमात्मस्वभाव के आश्रय से ही पर्याय में निराकुल आनंदरूप परमात्मपद प्रगट होता है और उसे प्राप्त करना ही हमारा प्रयोजन है। उस परमात्मस्वरूप निजता का आश्रय करने से ही हमें सुख की दशा प्रकट हो जाती है। इसके सिवाय सुखी होने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

यहाँ यह सिद्धान्त निर्धारित हुआ कि उपयोग में राग का करना अर्थात् राग के साथ एकत्रबुद्धि करना ही बंध का कारण है। तथा उपयोग में वीतरागस्वरूप को प्रगट करना अबन्ध का कारण है, आनन्द का कारण है, सुख व शान्ति का कारण है। एकमात्र यही सत्य है।

छहदाला में कहा है -

“लाख बात की बात यही निष्कम उर लाओ।
तौरि सकल जग दंद-फंद निज आतम ध्याओ।”

भाई ! तेरा भगवान तेरे ही अन्तर पूर्ण सुख का धाम प्रभुस्वरूप विराजमान है। वहाँ जा न ! उसका आश्रय ले न ! उसी का पक्षपाती हो जा न ! तू राग व पर्याय का पक्षपाती क्यों हो रहा है ? यह तो दुःख का ही मार्ग है।

यहाँ सिद्धान्त में यह कहते हैं कि - उपयोग में राग का करना, ज्ञान के साथ राग को मिलाना ही तो बंध का कारण है।

प्रश्न - मिथ्यात्व के जाने के बाद ज्ञान को जो राग रहता है, वह बंध का कारण है या नहीं ?

समाधान - ज्ञान का यह राग का बन्धन मिथ्यात्व के बन्ध की अपेक्षा अत्यन्त अल्प है। इससे इसे गौण करके ज्ञान के बन्ध नहीं है - ऐसा कहा है; क्योंकि मुख्य रूप से तो ज्ञान में राग का एकत्र रूप मिथ्यात्व ही बंध का कारण है।

दूसरे प्रकार से कहें तो यहाँ यह नहीं कहा गया है कि व्यवहार रज्ज्व का राग बंध का कारण है, बल्कि यह कहा गया है कि व्यवहार रज्ज्व का जो शुभराग या शुभोपयोग है, उसका आत्मा के साथ एकत्र करना, उसे आत्मा
समयसार गाथा २३७-२४९

के स्वरूप में शामिल कर दोनों को एक मानने रूप मिथ्या अध्यवसाय बंध का कारण है।

इसके सिवाय जहाँ मोक्ष के कारणों की मीमांसा करनी हो, वहाँ ऐसा कहा जाता है कि निरंचय रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग ही मोक्ष का कारण है तथा व्यवहार रत्नत्रय का राग बंध का कारण है। किन्तु यहाँ तो समकिती के मोक्ष के कारण की व बन्ध के कारण की भिन्नता स्पष्ट करना है। तथा मिथ्यावृत्ति को बंध कैसे होता है – यह सिद्ध करना है। इस कारण यहाँ तो यह कहा है कि –

‘राग का उपयोग में एकत्र करना बंध का कारण है।’

यहाँ इस प्रसंग में यदि कोई कहे कि यदि हमें संगठन करना हो, सबको साथ लेकर चलना हो तो ठोड़ी-ठोड़ी सबकी बात माननी चाहिए। अतः ऐसा क्यों न मान लें कि चीतनाराग भाव से भी धर्म लाभ होता है और शुभराग से भी। ऐसा मानने से दोनों ही पक्ष राजी रह जाएँगे।

उनसे कहते हैं कि भाई! यह तेरे हित की बात है। राग का या पुण्यभाव का आत्मा में एकत्र करना बंध का कारण है तथा राग को उपयोग से भिन्न करके निर्मल उपयोग करना अबन्ध या मोक्ष का कारण है। यह एक महासिद्धान्त है। इसमें जरा भी ठीक नहीं चल सकती। राग से लाभ मानना तो राग व आत्मा का एकत्र करना है। यह मान्यता तो मिथ्यावृत्त भाव है। समाज के संगठन के नाम पर मिथ्यावृत्त का पोषण होने देना कैसे संभव है? यह तो अनन्त संसार का कारण है। सत्य में समझ होती है; सत्य के साथ समझौता कैसे किया जा सकता है?

यहाँ कहते हैं कि आत्मा के चैतन्य के व्यापार में राग का एकत्र करना छोड़ दे; क्योंकि उपयोग में – चैतन्य की परिणति में राग का एकत्र करना बंध का कारण है। भाई! चाहे वह देव–शास्त्र–गुरु की भक्ति का राग हो, चाहे महान्नदी का विकल्प हो, चाहे गुण–गुणों के भेद का विकल्प हो; इनमें किसी का भी आत्मा के साथ एकत्र करना मिथ्यावृत्त है और संसार में भटकने का मूल कारण है।
ध्यान रहे, भक्ति व ब्रज आदि के विकल्पों को मिथ्यात्म नहीं कहा, बल्कि इन विकल्पों को व रागादि भावों को उपयोग के साथ एकमेक करने को, मिलाने को; इनमें व आत्मा में एकत्व स्थापित करने को मिथ्यात्म कहा है और इस मिथ्यात्म भाव को ही बंध का - संसार का मूल कारण कहा है।

गाथा २३७ से २४१ के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ निरचयन महत्व प्राप्त रहे है अर्थात् यहाँ व्यवहारनाम को गोपन किया गया है। द्वारिक ज्ञानी के अस्थिरता-जनित राग है, पर उसे यहाँ गोपन किया गया है। यहाँ तो निरचयन की विषयभूत शुद्ध-चैतन्यस्वरूप वस्तु के उपयोग में राग को मिलाने को, दोनों को एक मानने को बन्ध का कारण कहा है। सम्प्रदायन होने के बाद जो अल्पराग होता है और उसके कारण जो अल्प बंध होता है, उसे यहाँ गोपन करके निरचयन की प्रधानता से कथन किया गया है।

यहाँ निरचय की व्याख्या करते हुए कहते हैं - जहाँ निर्वार्ध हेतु से सिद्ध हो, वही निरचय है। बंध के कारणों का विचार करने पर निर्वार्ध रूप से यही सिद्ध होता है कि - मिथ्यात्मारूप पुरुष जिन मोह-राग-द्वेषार्दिक भावों को अपने उपयोगमय करता है, वे मोह-राग-द्वेषार्दिक भाव ही मध्य के कारण हैं। सम्प्रदायन होने के बाद वे रागादि भाव आत्मा से भिन्न हो जाते हैं। द्वारिक अस्थिरता के कारण ज्ञानी की भूमिका में भी उनका अस्तित्व है, पर अब वे रागादि भाव आत्मा के साथ एकमेक नहीं होते; भिन्न ही भासित होते हैं। इसकारण वे मुख्य रूप से बंध के कारण नहीं बनते।

इनके सिवाय यदि कार्मण वट्टण को बंध का हेतु माना जाए तो सिद्धों को भी बंध होना चाहिए। तथा यदि मन-वचन-काय की क्रिया को बंध का हेतु माना जाए तो यथार्थत्व चारत्रिकालों के भी तो योग की क्रिया होती है; अतः उनके भी बंध होना चाहिए। और यदि बहु प्रकार के कारण अर्थात् इन्द्रियों
समयसार गाथा २३७-२४९

को बंध का हेतु माना जाए तो केवली के भी तो इन्द्रियों होतीं हैं, अतः उन्हें भी बन्ध होना चाहिए। तथा यदि चेतन-अचेतन की हिंसा से बंध माना जाए तो समिति के धारक मुनिवरों को भी कर्मबंध होना चाहिए। पर इनमें से किन्हीं भी कारणों से बंध नहीं होता। अतः निर्बंधरूप से यही सिद्ध हुआ है कि बंध का कारण एकमात्र रागादिक में अहंबुद्धि ही है।

यहाँ समितिरूप से मुनियों का नाम तो लिया और देशविरत व अविरत सम्यक्दृष्टियों का नाम नहीं लिया। उसका कारण यह है कि अविरत व देशविरत को बाह्य समितिरूप प्रवृत्ति नहीं है, इसकारण चारित्रमोह सम्बन्धी राग से किंचित बंध होता है। अतः सर्वथा बंध के अभाव की अपेक्षा में उनको नहीं लिया। बाकी, अन्तरंग स्वभावदृष्टि की अपेक्षा से तो उन्हें आंशिक निर्बन्ध मानना ही चाहिए।

समयसार की १४वीं एवं १५वीं गाथा में तो आया ही है कि जिसने अवद्वस्त्रुष्ट प्रभु आत्मा को दृष्टि में लिया है, उसे बन्धन है ही नहीं। भगवान आत्मा अन्दर अबन्धस्वरूप है तथा उसे दृष्टि में लेनेवाला परिणाम भी राग एवं पर के सम्बन्ध से रहित अबन्ध ही है।

अहाँ हो ...... ! जिसने राग से स्थिर पड़कर अन्दर अबन्धस्वरूप भगवान आत्मा को देखा है, वह बन्धन रहित ही है। ज्ञान की पर्यावर में पूर्ण परमात्मस्वरूप अपने निज भगवान आत्मा की भेंट हो गई है न ? भले अभी पर्याय में भगवानपना प्रकट नहीं हुआ है; तथापि पर्याय में भगवान आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान तो आ ही गया है न !

इसके पहले पर्याय में राग की एकता आती थी और अब पर्याय में राग रहित सम्पूर्ण चेतनपुंज प्रभु आ गया है। जिसको राग का अभाव होकर पर्याय में पूर्ण द्रव्यस्वभाव जानने में आ गया है, ऐसे स्वभावदृष्टिकर्त्ता को भी बंध नहीं; निर्बन्धता है - ऐसा जानना चाहिए।
अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं -

(पृथ्वी)

न कर्मबहुतं जगत्थ चलनात्मकं कर्मं वा।
न नैककरणानि वा न चिदचिदवधो बंधकृत्।।
यदेक्ष्मुप्योगभू: समुपयाति रागादिभि:।
स एव किल केवलं भवति बंधहेतुरूपाम्।।२६४।।

प्रलोकार्थः :- [बन्धकृत्] कर्मबन्ध को करनेवाला कारण [न कर्मबहुतं जगत्] न तो बहुकर्मयोग पुद्रालों से भरा हुआ लोक है, [न चलनात्मकं कर्मं वा] न चलनस्वरूप कर्म (अर्थात् मन-वचन-काय की क्रियारूप योग) है, [न नैककरणानि] न अनेक प्रकार के कारण हैं [वा न चिदचिदवधः] और न चेतन-अचेतन का घात है। किन्तु [उपयोगभूः रागादिभि: यद्-ऐक्षम् समुपयाति] 'उपयोगभू' अर्थात् आत्मा रागादि के साथ जो ऐंक्य को प्राप्त होता है [स: एव केवलं] वही एकमात्र (मात्र रागादिके साथ एकत्र प्राप्त करना वही-) [किल] वास्तव में [नृणाम् बंधहेतु: भवति] पुरुषों के बन्ध का कारण है।

भावार्थः :- यहाँ निर्वचनयन से एकमात्र रागादिको ही बन्ध का कारण कहा है। ||१६४।।

कलश १६४ पर प्रवचन

भगवान आत्मा की भूमिका तो चेतनय के उपयोगरूप है अर्थात् आत्मा जानने-देखनेरूप उपयोग स्वभाव से त्रिकाल भरपूर है और उसका वर्तमान भी चेतनयमय उपयोग है। ऐसे चेतनयमय उपयोग की भूमिका में जो राग का कर्ता-भोक्ता नहीं है, वह ज्ञाती निर्वचन है। तथा इन रागादि के साथ हुआ एकत्र ही वस्तुतः आत्मा के बन्ध का कारण है। यहाँ समकिती के अस्थिरता-जनित बन्ध को गिनती में नहीं लिया। उसे गौण करके यह कहा है; क्योंकि बन्ध का मुख्य हेतु तो मिथ्यात्व ही है।

जिसप्रकार १६४ गाथा में त्रिकाली ध्वनि भगवान आत्मा को मुख्य करके सत्यार्थ निर्वचन कहा, उसीप्रकार यहाँ त्रिकाली अवबंधस्वरूप ज्ञान के साथ राग की एकता को मुख्य करके संसार कहा है। इसे ही बन्ध का कारण कहा है। •
समयसार गाथा २४२ से २४६

जह पुनः सो चेव पारो जोहे सब्बमि अव्विण्डे संते।
रेणुबहुलमि ठागौऽ करोऽदि सत्येहि वायांम् ॥ २४२॥
छिद्रदि भिंद्रदि य तहा तालीतलकयलिविंश्चिंदीदो।
सचित्ताचित्तां करोऽदि द्रव्यामुपवादां ॥ २४३॥
उपवादां कुर्वतस्तस्त तस्स पाणाविहेहि करोऽदि।
णिच्छयादों चिंतेज्ज हुं किंपचयंगो ण रयबंधो ॥ २४४॥
जो सो दुः जोहभावो तिमि पारे तेन तस्स रयबंधो।
णिच्छयादो विभेन्यं ण कायचेटाहि संसाहि ॥ २४५॥
एवं सम्पादिदुहि वहृतो बहुविहेसु जोगेसु।
अकरंतो उवाहोगे रगादी ण लिप्यदि रेण ॥ २४६॥

यथा पुनः स चेव नरः स्नेह सवर्मित्रपनीते सति।
रेणुबहुलो श्लोने करोऽति शस्त्राण्वायामम् ॥ २४२॥
छिद्रदि भिंद्रदि च तथा तालीतलकयलिविंश्चिंदी।
सचित्ताचित्तां करोऽति द्रव्यामुपवादां ॥ २४३॥
उपवादां कुर्वतस्तस्त नानाविधेः करणः।
निरशयतिर्चत्वां खलुकिंपचयंतिको न रजोबन्धः ॥ २४४॥
यः स तु स्नेहब्धास्तस्तस्ते तेन तस्स रजोवर्धः।
निरशयतो विस्त्र्यं न कायचेष्टाभि शोभाभि ॥ २४५॥
एवं सम्मन्नृस्तिर्वार्तानो बहुविहेषु योगेषु।
अकुर्वन्तुपयोगे रगादीनू न लिप्यते रजसा ॥ २४६॥

यथा स एव पुरुषः स्नेह सवर्मित्रपनीते सति, तत्स्मायेव सवभाकत् एव रजोबहुलायां भूमि तदेव शस्त्राण्वायामकर्म कुर्वाणः,
तैैव नेकप्रकर्त्यात्यचस्ताने सचित्ताचित्तस्तूनि निष्ठनू रजसा न बध्यते,
सनेहब्धायस्य बस्थोहेतोर्भावाद; तथा सम्मन्नृस्ति; आत्मनि रगादीनकुर्वाणः
सन, तत्स्म्रे सवभावत् एव कर्मयोग्यपुद्रालबहुले लोके तदेव कायवाड़मनः
कर्म कुर्वाणः, तैैव नेकप्रकर्त्यात्यचस्ताने सचित्ताचित्तस्तूनि निष्ठनू,
कर्मजसा न बध्यते, रागयोगायस्य बस्थोहेतोर्भावाद।
सम्यग्गृह उपयोग में रागादि नहीं करता, उपयोग का और रागादि का भेद जानकर रागादि का स्वामी नहीं होता, इसलिए उसे पूर्वोक्त चेष्टा से बन्ध नहीं होता - यह कहते हैं :-

ज्यों तेल मर्दन रहित जन रेणु बहुल स्थान में ।
व्यायाम करता शस्त्र से बहुविध बहुत उत्साह से ॥ २४२॥
तर ताल कदली बाँस आदिक वन्यपति छेदन करे ।
सचित्त और अचित्त द्रव्यों का बहुत भेदन करे ॥ २४३॥
बहुविध बहुत उपकरण से उपयोग करते पुरुष को ।
परमार्थ से चित्तन करो रजबंध कियों कर ना हुआ ॥ २४४॥
चिकनाई है रजबंध का कारण कहा जिनराज ने ।
पर काय चेष्टादिक नहीं यह जान लो परमार्थ से ॥ २४५॥
बहुभांति चेष्टारत तथा रागादि ना करते हुए ।
बस करमरज से लित होते नहीं जग में विज्ञन ॥ २४६॥

गाथार्थ :- [ यथा पुनः ] और जैसे [ सः च एव नरः ] वही पुरुष,
[ सर्वस्विचुः स्नेहे ] समस्त तेल आदि सिंघु पदार्थ को [ अपनीते सति ] दूर
किए जाने पर, [ रेणुबहुले ] बहुत धूलिवाले [ स्थाने ] स्थान में [ शस्त्रेः ]
शस्त्रों के द्वारा [ व्यायामम् करोति ] व्यायाम करता है, [ तथा ] और
[ तालीतलकदलीवांशापिंदाः ] तड़, तमाल, केल, बाँस और अशोक आदि
वृक्षों को [ छिनन्ति ] छोड़ता है, [ भिन्नति च ] और भेदता है,
[ सचित्राचित्रानां ] सचित्त तथा अचित्त [ द्रव्याणाम् ] द्रव्यों का
[ उपयोगात्म् ] उपयोग [ करोति ] करता है; [ नानाविधः करणः ] ऐसे नाना
प्रकार के करणों के द्वारा [ उपयोगानु कुरितः ] उपयोग करते हुए [ तस्य ] उस
पुरुष को [ रजोबद्धः ] धूलिका बन्ध [ खलु ] वास्तव में [ किंप्रत्ययः ]
किस कारण से [ न ] नहीं होता [ निष्कर्षः ] यह निष्कर्ष से [ चित्तवां ]
विचार करो। [ तस्मात् नरे ] उस पुरुष में [ यस् सनेहाभावः सु ] जो वह
तेल आदि की चिकनाई है [ तेनु ] उससे [ तस्य ] उसके [ रजोबद्धः ]
धूलिका बन्ध होना [ निष्कर्षः किंजेयं ] निष्कर्ष से जानना चाहिए,
[ श्रेष्ठत्वः कायचेष्टाभिः ] श्रेष्ट काय की चेष्टाओं से [ न ] नहीं होता।
समयसार गाथा २४२–२४६


टीका :— जैसे वही पुरुष, सम्पूर्ण चिकनाहट को दूर कर देने पर, उसी स्वभाव से ही अत्यधिक धूलि से भरी हुई उसी भूमि में वही शस्त्रव्यायामरूपी कर्म को (क्रिया को) करता हुआ, उन्हीं अनेक प्रकार के करणों के द्वारा उन्हीं सचित्ताचित्व वस्तुओं का यात्रा करता हुआ, धूलि से लिप्त नहीं होता, क्योंकि उसके धूलि से लिप्त होने का कारण जो तैलादि का मर्दन है उसका अभाव है; इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि, अपने में रागादि को न करता हुआ, उसी स्वभाव से बहु कर्मयोग युद्धातों से भरे हुए लोक में वही मन-वचन-काय की क्रिया करता हुआ, उन्हीं अनेक प्रकार के करणों के द्वारा उन्हीं सचित्ताचित्व वस्तुओं का यात्रा करता हुआ, कर्मसूपी रज से नहीं बैंधता, क्योंकि उसके बन्ध के कारणभूत राग के योग का (राग में जुड़ने का) अभाव है।

भावार्थ :— सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त सर्व सम्बन्ध होने पर भी राग के सम्बन्ध का अभाव होने से कर्मसूचन नहीं होता। इसके समर्थन में पहले कहा जा चुका है।

गाथा २४२ से २४६ एवं उनकी टीका पर प्रवचन

अहाहा !!!! जिसे त्रिकाली शुद्ध एक ज्ञानक्षेत्र परिपूर्ण चैतन्यपूर्ति प्रभु आत्मा का ज्ञान, प्रतीति व अनुभव हुआ है, वह सम्यग्दृष्टि है। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव को शुद्ध शैतंयपूर्ति निरन्तर होने से वह अपने निर्मल ज्ञानस्वभाव में राग को एकरूप नहीं करता।

अहो ! समयग्रंथन की कोई अविचय महिमा है। दृष्टिवात समयग्रंथी पुरुष अपने उपयोग में राग का संबंध या जुड़वार करते ही नहीं हैं। वे उपयोग को राग से अधिक जानकर राग के स्वामी नहीं होते।
प्रबंधनरत्नकर भाग ८

शुद्ध उपयोग की दशा में जिसको अतीतिय आन्दर्वभाव का भान हुआ है, वह दुःखमयी रागादि भावों का स्वामी क्यों होगा?

इन पाँच गाथाओं में इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिसने परिपूर्ण, एक, ज्ञातस्‌वभावी, सुखधाम, नित्यानंदप्रभु आत्मा का आत्मर लिया है, वह राग के आत्मर में क्यों रहेगा? अहो! धर्मात्मा परशु अपने उपयोग में राग के साथ सम्बन्ध ही नहीं करते। सम्यगदर्शन की ऐसी ही कोई अद्भुत महिमा है।

उक्त गाथाओं में तेल के मर्दन से रहित व्यक्ति का दृष्टान्त देकर यह कहा है कि जिसतरह स्नेह (तेल) को चिकनाई को अच्छी तरह पौंछ कर, साफ कर, धूल भरे अखाड़े में क्रीड़ा करने वाला तेल रहित होने से रजबंध से बंधता नहीं है; ठीक उसीप्रकार सम्यगदृष्टि अपने में रागादि भावों को एकमेक न करता हुआ कर्मरज से भरे लोक में मन-वचन-काय की क्रिया करते हुए भी तथा सचिन-अचिन-वस्तुओं का घात करते हुए भी कर्मस्तुपी रज से नहीं बंधता; क्योंकि उसे बंध के कारणरूप राग में एकत्व नहीं रहा। उसके झानस्वभाव में रागादि भावों के एकत्व का अभाव है।

देखो, यह है समकित की महिमा! जिस स्वभाव की दृष्टि में पूर्णान्द्र का नाथ प्रभु आत्मा स्पष्ट दिखाई देता है, वह दृष्टि ही सम्यगदर्शन है। उसकी महिमा बताते हुए कहते हैं कि - ‘सम्यगदृष्टि अपने झानस्वभाव में रागादि को एकमेक नहीं करता।’ लोगों को समकित की महिमा की खबर नहीं है।

जगत तो मात्र बाहर के त्याग को ही महत्त्व देता है। लोक ने तो यह मान रखा है कि जिसने व्रत-नियम ले लिए, उसे समकित तो हो ही गया। उसे क्या पता था कि समकित कोई अलौकिक वस्तु है।। उसके प्रगट होते ही अतीतिय आनन्द का झरना झरने लगता है। समकिती तो उसका नाम है जो अपने उपयोग में व्रत-नियम आदि पर्यायों को स्वीकार ही नहीं करता, मिलाता ही नहीं है।
समयसार गाथा २४२-२४६

देखो, यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी के शुभाशुभ राग का संबंध ही नहीं है; क्योंकि उसके ज्ञान में ज्ञानस्वभाव का जुड़ना है, राग का जुड़ना नहीं है।

देखो, समकित चक्रवर्ती ९६ हजार रानियों के बीच में रहता हो, युद्ध में लड़ता हुआ दिखाई देता हो तो भी उसे बन्ध नहीं है; क्योंकि उसे उनके प्रति एकत्व-ममत्व नहीं है, गानादि का स्वामित्व नहीं है। जो अस्थिरता का राग है, उसकी यहाँ गिनती नहीं है; उसे गौण कर दिया है। यदि वह चक्रवर्ती गानादिक से एकपना करे, उससे सम्बन्ध स्थापित करे, राग में स्वामित्व करे तो मिथ्यादृष्टि होकर कर्मबन्धन को प्राप्त होता है।

प्रश्न — यदि राग समकित का नहीं है तो किसका है ? इसे किसके खाते में डाला जाय ? पुद्गल में तो राग होता नहीं है और समकित उसे अपना मानता नहीं है तो फिर इसे किसका माना जाय ?

समाधान — इसे जड़ के खाते में डालना चाहिए। वह राग चैतन्य प्रभु आत्मा के उपयोग में तो समा नहीं सकता। वस्तुतः राग व आत्मा के मात्र ज्ञाय-ज्ञायक सम्बन्ध है, एकपने का सम्बन्ध नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि धर्मी के व्यवहारलन्त्रय का विकल्प होता है; परन्तु वह उसमें अटकता नहीं है, रुकता नहीं है। उसके साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं करता। धर्मी ने तो उस आत्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लिया है, जिसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त आनंद आदि अनन्त गुण भरे पड़े हैं। वह अब राग के साथ सम्बन्ध क्यों करे ? अपने अबन्ध स्वभाव में प्रतिबद्ध वह अब बन्धभाव के साथ सम्बन्ध कैसे करे, क्यों करे ?

भाई ! सम्यगर्द्वन वह वस्तु है, जिसने संसार वृक्ष की जड़ उखाड़ दी है। सम्यगर्द्वन होने के बाद अस्थिरता की राग-द्वयसूचक डालें-टहनियाँ रहें तो भले रहें, उनसे क्या ? वे तो अल्पकाल में सूख ही जाने वाली हैं। समकित के टो-चार भव में यह अस्थिरता जनित राग-द्वय सम्पूर्णतया नष्ट कर चीतराग दशा प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करेगा। इसीकारण अस्थिरता के या अल्प गानादिकों के कारण होने वाले अल्पबंध को यहाँ बन्ध में नहीं गिना है।
इसके पहले १६४वें कलश में ‘‘उपयोगभू’’ शब्द कहा न हो। जिसका अर्थ यह है कि जिसमें जानने-देखने का स्वभाव है, ज्ञान-दर्शन का स्वभाव है। ऐसी उपयोग की भूमिका में धर्मी जीव दया, दान, व्रत आदि के राग को नहीं मिलाता। अहा! शुद्ध उपयोगव्रूप का स्वामित्व क्षोभकर वह ब्रतादि में स्वामित्व नहीं करता। स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब परिवार तो एक ओर रहे; वह तो बहुत दूर की वात है। यहाँ तो यह कह रहे हैं कि ‘ज्ञानी-समकिती तो व्यवहाररत्नत्रय में भी अपना स्वामीपना स्थापित नहीं करता।’

‘मेरा राग के साथ जोड़ा नहीं है, इसलिए मुझे बिलकुल बन्ध है ही नहीं’ = ऐसा मानकर वह शुभाशुभ भाव में स्वच्छन्द प्रवृत्ति नहीं करता। जो स्वच्छन्द होकर विषय-कषयरूप प्रवर्तन करे, वह तो समकिती हो ही नहीं सकता। समकिती की वर्तमान पर्याय में पुरुषतात्त्व की कमजोरी के कारण अस्थिरताजनित रागादिक होते हैं – यह बात जुदी है और कोई अज्ञानी करता बनकर स्वच्छन्द प्रवर्तन करे – यह बात जुदी है।

अहा! धर्मी का द्वार्यस्वभाव के साथ सम्बन्ध होने से वह रागादि के साथ सम्बन्ध ही स्थापित नहीं करता।

यदि कहीं व्यवहार का प्रक्रिया हो तो वहाँ ऐसा लिखा मिल जाएगा कि ज्ञानी व्रत पालते हैं, तप करते हैं, अतिचार दालते हैं; परन्तु परमार्थ से देखें तो वे उनके स्वामी नहीं हैं।

जिसका यह स्वामी नहीं हैं, उसका पालन करे या आचरण करें – यह कैसे संभव है? समयसार परिषिद्ध में ४७ शक्तियों के अधिकार में अन्तिम ‘स्व-स्वामीसम्बन्ध’ शक्ति कही है। वहाँ कहा है कि आत्मा में ‘स्व-स्वामी सम्बन्ध’ नाम की शक्ति है। उसका अर्थ है कि अपना भाव अपना स्व और स्वयं उसका स्वामी – ऐसी ‘स्व-स्वामी सम्बन्ध’ शक्ति है।

अहा! स्वयं शुद्ध चैतन्यचन द्रव्य, अपने ही अनन्त गुण तथा उनकी निर्मल पर्यायं – ये सब अपना स्व तथा स्वयं उनका स्वामी। ऐसा अपने में ‘स्व-स्वामी सम्बन्ध’ गुण है। व्यवहार-रत्नत्रय का राग भगवान आत्मा का स्व नहीं है।
समयसार गाथा २४२-२४६

इसकारण आत्मा उसका स्वामी नहीं है। ऐसा स्व-स्वामी सम्बन्ध जिसके निर्मल परिणम है, वह समकित पुरुष व्यवहार-रत्नत्रय के राग का स्वामी नहीं है।

शास्त्र में भिन्न साधन-साध्य का कथन आता है। वहाँ कहा है कि व्यवहार-रत्नत्रय से निरचय-रत्नत्रय होता है। अर्थात् व्यवहार-रत्नत्रय साधन व निरचय-रत्नत्रय साध्य है। परन्तु भाई! वहाँ तो मात्र इतना बताने का प्रयोजन है कि व्यवहारणय से भिन्न साधन-साध्य भी होता है। उस कथन का तात्पय यह है कि जो सुदृढ सम्प्रदर्शन निश्चयरूप है वह तो स्व के आश्रय से ही प्रगट होता है। तथापि इसी समय बाह्य में सचे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति श्रद्धा का राग भी होता है। वहाँ निश्चय सम्प्रक्रम तो स्वरूप के आश्रय से ही प्रगट हुआ है जब तक के कारण नहीं। तथापि देव-शास्त्र-गुरु के प्रति श्रद्धा के राग को सहचर जानकर व्यवहार रत्नत्रय से आरोप करके उसे साधन कहने में आता है। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग है तो चारित्र का दोष, तो भी उसमें श्रद्धागुण की पर्याय का आरोप करके उसे व्यवहार से सम्प्रदर्शन कहा जाता है।

पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में बहुत अधिक स्पष्ट किया है। जहाँ निरचय-रत्नत्रय प्रगट है, वहाँ देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा के राग को दर्शन, शास्त्रादि श्रवण-मनन को ज्ञान तथा वंचमाहात्मादि के राग को चारित्र कहा है। ऐसे निरचय-रत्नत्रय के सहचर शुभभाग को दर्शन-ज्ञान-चारित्र का आरोप करके व्यवहार-रत्नत्रय कहा है। किन्तु उससे यह शुभभागरूप व्यवहाररत्नत्रय शुद्धरत्नत्रय नहीं बन जाता। तात्पय यह है कि परमार्थ से उनमें साधन-साध्य भाव नहीं है।

तथा जहाँ कहा है कि - निरचय-व्यवहार का सर्वार्थ यही स्वरूप जानना। उसका तात्पय यह है कि - जहाँ व्यवहार का कथन हो; वहाँ तो उपचार मात्र आरोपित कथन ही है - ऐसा जानना।

यहाँ कहते हैं कि - सम्यग्दृष्टि को बन्ध के कारणभूत राग का अभाव है। अर्थात् अपने सचिवदानन्दस्वरूप में उपयोग का जोड़ना होने से आत्मा की
महिमा के सामने राग की महिमा भासती नहीं है। तथापि वह राग में जोड़ान करता नहीं है। इसकारण उसे बन्ध भी नहीं होता।

भावार्थ यह है कि सम्यग्रूप्ति के अन्दर में राग की एकताबुद्धि टूट गई है। शुद्ध चैत्य-स्वभाव व राग भिन्न-भिन्न रूप से भासित होने से अब उसका राग के साथ सम्बन्ध नहीं रहा। इसकारण बाहर से दिखने वाले सब सम्बन्ध होते हुए भी उसका राग से सम्बन्ध नहीं होने से कर्मबन्ध नहीं होता। पूर्ण मुक्तस्वरूप भगवान आत्मा के साथ सम्बन्ध होने पर उसका राग के साथ सम्बन्ध टूट गया है व राग के सम्बन्ध के अभाव में उसे कर्मबन्ध नहीं होता।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं -

(शार्दूलविक्रियित)

लोकः कर्मततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पर्दात्मकं कर्म ततुः।

tात्त्वसिद्धकरणानि संतु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु ततुः।

रागादीतुपुष्योग्धूममनयन् ज्ञानं भवन्त्वेवल।

भविः नैव कुतौऽयुष्यैवैतमस्तो सम्यग्रूप्तम् ध्रुवम्। १६५।।

शर्लोकार्थ - [कर्मततः लोकः सः अस्तु] इसलिए वह (पूर्वक्र) बहु कर्मह च (कर्मयोग्य पुद्गलों से) भरा हुआ लोक है सो भले रहो,

[परिस्पर्दात्मकं कर्म ततुः अस्तु] वह मन-वचन-काय का चलस्वरूप कर्म (योग) है सो भी भले रहो, [तात्त्वकरणानि अस्तिन् संतु] वे (पूर्वक्र) करण भी उसके भले रहें [च] और [ततु चिदभ्न्यापादनं अस्तु] वह चेतन-अचेतन का घात भी भले हो, परतु [अहो] अहो ! [अवमू सम्यग्दृष्ट-आत्मा] यह सम्यग्दृष्टि आत्मा, [रागादीतुईयोग्धूममनयन्] रागादि को उपयोग्धूमम में न लाता हुआ, [केवलं ज्ञानं भवन्] केवलं (एक) ज्ञानरूप परिणित होता हुआ, [कुतः अपि बन्धमू ध्रुवम् न एव उपेति] किसी भी कारण से निष्चयतः बन्ध को प्राप्त नहीं होता।
कलश १६५

भावार्थ — यहाँ समयगृहि की अद्भुत महिमा बताई है, और यह कहा है कि लोक, योग, करण, चैतन्य-अचैतन्य का घात — वे बन्ध के कारण नहीं हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि परजीव की हिंसा से बन्ध का होना नहीं कहां; इसलिए स्वच्छन्द होकर हिंसा करनी। किंतु यहाँ यह आशय है कि अबुद्भिपूर्वक कदाचित् परजीव का घात भी हो जाएं तो उससे बन्ध नहीं होता। किंतु जहाँ बुद्धिपूर्वक जीवों को मारने के भाव होंगे वहाँ अपने उपयोग में रागादि का अस्तित्व होगा और उससे वहाँ हिंसाजन्य बन्ध होगा ही। जहाँ जीव को जिलाने का अभिप्राय हो वहाँ भी अर्थांत् उस अभिप्राय को भी निर्मृत्यूत ने मिथ्यात्म कहा है, तब फिर जीव को मारने का अभिप्राय मिथ्यात्म क्यों न होगा ? अवश्य होगा। इसलिए कथन को नयविभाग से यथार्थ समझकर श्रद्धान करना चाहिए। सर्वथा एकांत मानना मिथ्यात्म है ॥ १६५ ॥

कलश १६५ पर प्रवचन

देखो, आचार्यदेव ने जो यह कहा कि ‘चेतन-अचेतन की हिंसा हो तो भले हो’ इसका यह अर्थ नहीं लेना कि समकितों को चेतन-अचेतन की हिंसा इष्ट है। इसका अभिप्राय तो मात्र यह है कि समकितों को सर्व बाह्य वस्तुओं से अत्यन्त उपेक्षा हो गई है। वह बाहर में कहीं भी अटकना या उलझना नहीं चाहता; बाह्य पदार्थों से जुड़ना नहीं चाहता। स्वदृष्टि की अपेक्षा में समस्त परद्रव्यों की उपेक्षा सहज ही हो जाती है। जिस तरह स्व-वस्तु की अपेक्षा से समस्त परवस्तुयों अवस्तु है, उसीतरह भगवान ज्ञान की दृष्टि में समस्त शुभाशुभ राग अवस्तु है। राग का अपने स्वरूप में — रागरूप में अस्तित्व भले हो, पर शुभ चेतन्यस्वरूप में राग नहीं है; अतः समकिती विचारता है कि मुझ में राग नहीं है।

इसी संदर्भ में यहाँ कहा जा रहा है कि लोक बहुकर्म प्रदेशों से भरा हो तो भले भरा रहें; अन्य अनन्त आत्माओं के रूप में अनन्त प्रदेश हों तो भले रहें; वे सब अपने-अपने अस्तित्व में हैं; उनसे हमें क्या ? वे मुझ में हैं ही कहाँ ? मेरा उन सब परद्रव्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है। मन-चचन-काय की
क्रिया हो तो भले हों; वे अपने में हैं तो रहें, वे सब पर पदार्थ अपने–अपने अस्तित्व रूप से हैं; वे कहीं चले थोडे ही जाएँगे ? किन्तु वे मेरे चैतन्यस्वरूप में नहीं हैं; सब अपने–अपने अस्तित्व से भले रहें, उससे मुझे क्या ?

आगे कहा है कि पंचेन्द्रियों का व्यापार हो तो भले हो, तथा चेतन–अचेतन का घात भी हो तो भले हो; पर मुझे उन सबसे क्या ?

यहाँ किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि यहाँ पंचेन्द्रियों के विषयों के प्रति स्वच्छन्द होने को कहा जा रहा है। अरे भाई ! यहाँ तो इन सभी विषय–कायरूप प्रवृत्तियों के प्रति अत्यन्त उपेक्षा का भाव प्रगट किया गया है। पंचेन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनेवाले तथा छह काय की रक्षा करनेवाले आचार्य क्या हिंसा करने व स्वच्छन्द होने की बात कहेंगे।

अरे भाई ! यहाँ यह कथन किस अपेक्षा के किया गया है, इस बात को जरा ध्यान से सोचों, समझो। चतुर्थ गुणस्थान की राग वाली भूमिका में जो भी हिंसा वगैरह होती है, उसका उस ज्ञानी को खेद वर्तता है। वह उससे जुड़ता नहीं है; इस कारण उसे उस हिंसा–जनित पाप बन्ध नहीं होता।

जगत तो बाहर–बाहर से देखता है; पर भगवान आत्मा का अपने स्वभाव से संबंध हुआ है, अतः उसका राग से संबंध टूट गया है। उसे तो व्यवहार के सर्व संबंधों के प्रति उपेक्षा ही है। यहाँ यह प्रकरण है - अतः इसी दृष्टिकोण से समझना चाहिए।

अब कहते हैं कि सम्प्राप्ति पुरुष रागादि को अर्थात् पुण्य–पाप के भावों को उपयोगभूमि में नहीं लाता। उपयोगभूमि का अर्थ है जाने–देखनेरूप स्वभावमय चैतन्य उपयोग का आधारभूत आत्मा। इससे धर्मत्मा का राग से सम्बन्ध नहीं होता।

अहा ! धर्म पुरुष की अनतरस्रा अद्ध्वुत है, अलौकिक है। अहा ! शुद्ध–रत्नत्रय को धारण करनेवाला धर्मत्मा व्यवहार–रत्नत्रय के शुभराग को आत्मा में सम्मिलित नहीं करता।
कलश १६५

जो कहते हैं कि व्यवहार करते-करते निर्णय की प्राप्ति हो जायेगी। उनसे कहते हैं कि यदापि निर्णय-व्यवहार दोनों साथ रहते हैं, तथापि व्यवहार से निर्णय की प्राप्ति नहीं होती। जब धर्मात्मा व्यवहार का आलम्बन छोड़कर, व्यवहार रूप शुभराग को छोड़कर स्वरूप का आश्रय लेता है, तब उसे ध्यान में निर्णय-रत्नारूप रूप बीतताण धर्म प्रगट होता है। तथा उस समय जो राग शेष है, उसे व्यवहार कहते हैं। इसप्रकार मुनिवरों को भी ध्यान में निर्णय-व्यवहार रूप दोनों प्रकार का मोक्षमार्ग प्राप्त होता है।

अहो! त्रिलोकजीवन आत्मा की अमृतमयी वाणी में ऐसा आया है कि भगवान! दूर तो निर्मलानन्द का नाथ प्रभु अमृत का सागर है; ऐसा अमृत का सागर भगवान आत्मा जिसकी पर्याय में प्रगट हुआ, वह राग के जहर से क्यों न कैसे मिले? जिसके अन्दर में ‘प्रभुत्व शक्ति’ प्रगट हुई है, वह अव्यंजित प्रताप के द्वारा स्वतंत्र व शोभायमान हुआ है। भला वह पामर राग को अपने में क्यों मिलाये?

आगे कहते हैं कि सचेतन का घात हो तो हो; अर्थात् एकेन्द्रय से लेकर पंचेन्द्रयादि किसी प्राणि का घाट हो तो भले हो; उससे क्या?

इस बात को लेकर कुछ लोगों को ऐसी आशंका होती है कि क्या समकिर्ति के द्वारा भी कभी हिंसा हो सकती है तथा जिसके द्वारा हिंसा हो वह कहीं सम्यग्रृहीत हो सकती है?

अरे भाई! यह वह प्रकरण है, जिसमें यह कहा जा रहा है कि सम्यग्रृहीत के उपयोग में राग के समबोध का अभाव है, इसकारण कदाचित् उसके निमित्त से बाहर में सचित्र का घात हो तो भी उस घात के कारण उसे हिंसा का पाप नहीं लगता, कर्म बंध नहीं होता। यहाँ यह कहाँ कहा कि समकिर्ति हिंसा करता है? उसके हिंसा करने का तो प्रश्न ही नहीं है, पर उस अविरति की भूमिका में प्रमाद व कषाय का जितना अंश है, उततन हिंसा भी विद्यमान रहती है और तज्जनित बंध भी होता ही है।

यहाँ कह रहे हैं कि रागाविक को उपयोग में न लाते हुए अर्थात् समस्त शुभाशुभ विवाह भावों को – हिंसा, जूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह व विषय-
बासना को उपयोग में नहीं लाता। यह तो ठीक; परन्तु वह अहिंसा, दया, दान, भक्ति, पूजा आदि के शुभराग को भी उपयोग में नहीं लाता। अपनी पवित्र उपयोग भूमि में वह किसी भी अपवित्रता को नहीं लाता।

टीकाकार आचार्य ग्रन्थ के अन्तिम कलश में ऐसा कहते हैं कि देखो, यह टीका शब्दों से बनी है, हमसे नहीं। हम तो मात्र जाता हैं। हमारा उसमें कितना भी कर्तृत्व नहीं है।

अहा ! देखो तो, आचार्य महाराज को व्यवहार से आया आरोपित कर्तृत्व भी नहीं पुसाता। वे उसका भी निषेध कर रहे हैं।

वहाँ कलश टीकाकार श्री राजमलजी ने स्पष्ट किया है कि ग्रन्थ की टीका के कर्ता आचार्य अमृतचन्द्र ही निमित्त रूप से प्रगट प्रसिद्ध हैं; तथापि वे महान हैं, बड़े हैं, संसार से विरल हैं, इसकारण उनको ग्रन्थ करने का अभिमान नहीं है। उन्होंने अपनी लघुता और अकर्तर्भाव प्रगट किया है। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि उनको ग्रन्थ की टीका के कर्तृत्व का अभिप्राय व अभिमान नहीं है।

ऐसा कहकर वे वस्तुस्वातंत्र्य का शंखनाद करना चाहते हैं; अकर्तृत्व के सिद्धांत को समझाना चाहते हैं। यह कोई लघुता या औपचारिकता मात्र नहीं है। वे ऐसा कहकर वस्तुस्वरूप का परिज्ञान कराना चाहते हैं।

देखो, मुनिराज अमृतचन्द्र सूरि क्या कहते हैं भाई ! इस भाषा को तो भाषा ही करती है। भाषा वर्गणा ही भाषारूप परिणमती है। इस भाषा में मेरा आंशिक प्रवृत्त भी नहीं हुआ है। यह भाषा भी मुझ में आई नहीं है तो फिर में इस भाषा का कर्ता कैसे हो सकता हूँ ? अरे ! उस भाषा के काल में मुझें जो विकल्प उठा में तो उस विकल्प का भी कर्ता नहीं हूँ, क्योंकि उसको भी में अपने उपयोग में जब जैसा लाना चाहूँ, तदनुसार नहीं ला सकता हूँ, अतः वह विकल्प भी मेरा कार्य या कर्तव्य नहीं है।

यदि कोई कहे कि फिर टीका की ही क्यों ? इस संदर्भ में उनका तीसरा कलश दृष्टव्य है।
कलश १६५

टीका करते हुए मेरी परम विशुद्ध होगी। वहाँ भी यही युक्ति है, सिद्धान्त है कि टीका के काल में मेरा जो अत्मसुखदृष्टि का जोर है, वह वृद्धि को प्राप्त हो। क्योंकि टीका के विकल्प को में अपने उपयोग स्वभाव में मिलता नहीं हैं। जहाँ ऐसा भाव हो, वहाँ विकल्प या राग से लाभ होगा – यह बात ही वहाँ ठहरती है?

कलश १६५ के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ सम्यगदृष्टि का अद्भुत महाअत्मा प्राप्त किया है तथा यह कहा है कि कर्मवर्गणा से भरा लोक, योग, करण व चेतन-अचेतन का घात आदि कुछ भी बंध के कारण नहीं हैं।

अहा ! सम्यगदृष्टि उसे कहते हैं जिसको पर की, निमित्तों की, राग की व एकसमय की पयार की रूचि छूट गई है, कर्म के उदय से प्राप्त सामग्री के प्रति जो उदासीन है, निरालम्प नहीं है तथा जिसको ज्ञाननन्द-स्वभावी निज आत्मा की रूचि हुई है। ऐसे समकाली के ज्ञान उपयोग में राग एकत्र को प्राप्त नहीं कर पाता। बस इसीकारण उसे बन्ध नहीं होता। अपने अबद्धपूष्ट भगवान का भान होने पर समकाली को बन्ध नहीं होता। अहा ! सम्यगदर्शन का कोई ऐसा ही विचित्र आश्चर्यकारी महाअत्मा है।

सम्यगदृष्टि को लोक में भरे कर्म योग युद्ध लिख लिखता है; क्योंकि वह नहीं क तो आनन्द के नाथ प्रभुरूप से विराजमान अपने भगवान आत्मा का ही सत्ता अवलोकन करता है, वह तो अपने लोक (स्वभाव) को ही अवलोकता है, इसकारण उसे कर्मरज के कारण कर्मबंध नहीं होता।

तथा मन-वचन-काय रूप योग से भी समकाली को बन्ध नहीं होता अर्थात् योग भी उसके बन्ध के कारण नहीं है, क्योंकि ये सब इसके ज्ञान में परजेय हैं। मन-वचन-काय की क्रिया से समकाली को रूचि नहीं होती। योग की क्रियाओं से उसकी रूचि टूट चुकी है।

चेतन-अचेतन का घात भी समकाली को बन्ध का कारण नहीं है; क्योंकि उनके घात में उसकी रूचि नहीं रही, वह उनके घात के प्रति अत्यन्त उदासीन
हो गया है और उसे अपनी ओर से इस बात की पूर्ण सावधानी वर्तती है कि
कहीं उसके निमित्त से किसी भी जीव का घात न हो जाय। इसकारण चेतन-
अचेतन की हिंसा हो भी जावे, तो भी वह घात इसको बन्ध का कारण नहीं
बनता। वस्तुतः ये सब क्रियायें उसके ज्ञान में परज्ञेय रूप से ही भासित होतीं
हैं। वह उनका कर्त्ता नहीं है।

इसके विपरीत अज्ञानी काय व कषाय को अपना मानता है, इसकारण वह
भले ही वर्तमान में छह काय की हिंसा में प्रवृत्त दिखाई न दे, तो भी वह
छहकाय की हिंसा का कर्त्ता है। जिसने अपने अशरीरी भगवान आत्मा को
शरीरी माना है और अकषायी आत्मा को कषाययुक्त माना है, वह भले ही बाह्य
में मुनि हो गया हो, हजारों रानियों का परित्याग कर दिया हो; तथा जंगल में
रहने लगा हो - वनवासी बन गया हो; तो भी वह हिंसा का कर्त्ताला ही
है; क्योंकि उससे निरंतर अपने चैतन्य का घात हुआ ही करता है।

अहा! जिसने कषाय की मन्दता को, दया के भाव को भी अपना माना
है; उसने अकषायी चैतन्यस्वरूप आत्मा को रागयुक्त माना है। इसप्रकार उसने
स्वरूप का इन्द्राण करके अपने स्वरूप का ही घात किया है। वह भले ही बाह्य
में हिंसा न करता हो तथापि वह हिंसक ही है। तथा जिसकी दृष्टि शुद्ध
ज्ञाननदस्यस्वरूप भगवान आत्मा पर पड़ गई है, भले ही उसके बाह्य में सभी
प्रकार के सम्बन्ध हों तो भी वह निरबंध है।

अब कहते हैं कि इस कथन से ऐसा नहीं मान लेना चाहिए कि बाह्य में
परजीवों की हिंसा से सर्वथा बन्ध होता ही नहीं है। जो स्वच्छन्दी होकर
प्रमादवश बाह्य हिंसा में प्रवृत्ति करेगा, जीवन नहीं करेगा उसके तो हिंसा
जनित बन्ध होगा ही होगा।

यहाँ जो आत्मज्ञानी को निरबंध कहा है उसका अभिव्यक्ति तो यह है कि
पूर्ण सावधानी के बावजूद अवबुद्धपूर्वक कदाचित् परजीव का घात हो भी जाए
तो बन्ध नहीं होता। ज्ञानी जीव बुद्धपूर्वक कभी परजीवों का घात नहीं करते।
उनके हद में ऐसी करुणाबुद्धि सहज ही होती है, फिर भी वे उस शुभभाव
को धर्म नहीं मानते।
देखो ! ऐसा कहकर यहाँ स्वच्छन्दी होने का निशेष किया है। बुद्धीपूर्वक हिंसा रूप प्रवृत्ति करने और शास्त्र के कथन की आड़ लेकर ऐसा कहे कि ज्ञानी के बन्ध नहीं होता; तो ऐसी स्वच्छन्दता की बात मोक्षमार्ग में चलनेवाली नहीं है।

यह सब कथन तो ज्ञानियों की अपेक्षा से है। जिन्हें राग रहित निर्विकार नित्यानंदस्वरूप आत्मा दृष्टि में आ गया है, उन्हें बुद्धीपूर्वक-रचिपूर्वक परापत्त का परिणाम होता ही नहीं है। कदाचित् अवशापन या अनजाने में उनसे परजीव का घात हो जाए तो वह परापत्त उनको बन्ध का कारण नहीं है। ज्ञानी के द्वारा कदाचित् अनजाने में पंचवेद्य जीव का भी घात हो जाए तो भी ज्ञानी के हिंसा नहीं होती - ऐसा कहा है। परन्तु कोई अज्ञानी अपने को ज्ञानी मानकर रचिपूर्वक हिंसा में प्रवृत्ति करेगा तो उसे निर्विचार ही पापवन्ध होगा। इसमें जरा भी संदेह नहीं है।

यहाँ 'बुद्धीपूर्वक' का अर्थ है कि 'में इसे मानूँ' - ऐसा रचिपूर्वक जीव को मानने का भाव होना। जिन प्रवृत्तियों में जग जाहिर अनिवार्य त्रस्तिहिंसा या भूखक्षावर हिंसा होती है, उन प्रवृत्तियों को न छोड़ना - जैसे मधु-मांस-मधु, पाँच उदम्बर फलों का सेवन तथा इसी जाति के, इन्हीं के समक्ष अन्य प्रवृत्तियों में पड़ना आदि जो भी अग्रिमोक्त हिंसाजनित प्रवृत्तियाँ ज्ञानी की भौमिका में ल्याज्य हैं, उस राग का भी ल्यान न होना स्वच्छन्द प्रवृत्ति है।

अक्षमाक्षमावी भगवान आत्मा त्रिकाल पवित्र है। जो इसकी रुचि छोड़कर परप्रवृत्ति की रुचि करे, उसे तो नियम से राग में एकत्वबुद्धि हो ही जाती है और उससे उसे हिंसाजनित बन्ध होता ही है।

ज्ञानी के राग की रुचि छूट चुकी है। उसको जो चारित्र मोह सम्बन्धी राग होता है, वह आत्मा से पृथक् ही रहता है। उसमें उसकी एकत्वबुद्धि नहीं होती। वह उस राग के साथ एकत्व रूप से प्रवृत्ति नहीं करता। वास्तव में तो ज्ञानी के ज्ञान में राग केवल प्रज्ञा बनकर ही आता है। वह राग का मात्र ज्ञान ही रहता है। जबकि अज्ञानी के ज्ञान में रागदिदेव में एकमेकने जाने जाते हैं। मानो
कि वह रागादिमय ही हो - आत्मा व रागादिभावों में उसकी ऐसी अभेदरूप एकत्वबुद्धि रहती है। इसकारण राग की सच्चाले अज्ञानी पर को मारने-जिलाने का भाव करते ही हैं और उनके तज्जनित हिंसा भी अनिवार्यरूप से होती ही है।

अब यहाँ सिद्धान्त कहते हैं - जहाँ जीवों को जीवित रखने के अभिप्राय को भी मिश्रित कहा हो, वहाँ जीवों के मारने के अभिप्राय को मिश्रित या अधर्म करों नहीं माना जायगा ? निष्क्रियता की दृष्टि में तो एकमात्र बीतारागता को ही अहिंसामयी धर्म कहा गया है। अतः इस अपेक्षा से तो सम्पूर्ण शुभाशुभ भाव हिंसारूप अधर्म ही है न ? फिर भी मारने का भाव अशुभाभाव होने से पापबन्ध का कारण है और बचाने का भाव शुभाभाव होने से पुण्यवन्ध का कारण है। तथा बंध की अपेक्षा दोनों संसार के कारण है। अतः मोक्ष अभिलाषियों को एक वीररागभाव की ही आराधना करने योग्य है।

देखो ! यहाँ अभिप्राय की अपेक्षा को समझाते हुए कह रहे हैं कि जो ऐसा मानता है कि में पदर्थ की पर्याय को कर सकता हूँ या करता हूँ, समाज का भला करता हूँ, कृतम कर्म का भरण-पोषण करता हूँ, कार्याने चलाकर लोगों को रोजी-रोटी देता हूँ - यह सब अभिप्राय मिश्रित है।

फिर भी लोगों के पास करोड़ों-अरबों रूपयों की सम्पत्ति होती है। फिर भी वे बड़े-बड़े कारखाने और उद्योग-धंधे चलाते रहते हैं। जब उनसे निर्वृति लेने की बात कहते हैं तो वे उत्तर में कहते हैं कि ‘अब हमें उद्योग-धंधों की गरज नहीं है; पर हजारों लोगों का हमारे द्वारा भरण-पोषण होता है, इसकारण कार्याने चलाते हैं, काम-काज करते हैं।’

किन्तु भाई ! उनका यह अभिप्राय ही मिश्रित है। अन्य लोगों को जो आजीविका मिलती है या उनका जो भरण-पोषण होता है, वह किसी पर के कारण नहीं होता। उनके स्वयं के पुण्यदय अनुसार ही सब बनाव बनता है। कोई किसी का कुछ भी भला नहीं कर सकता।
आगे इसी ग्रन्थ की मूल गाथा में आएगा कि जो ऐसा मानता है कि में पर को सुखी करता हूँ, आहार, औषधि, वस्त्रादि की सुविधायें प्रदान करता हूँ या दे सकता हूँ; वह मिथ्यादृष्टि है और यही मिथ्या अभिप्राय उसके बन्ध का कारण है।

किसी अन्य को एक रजकण देने की भी सामथ्र्य किसी में नहीं है। कौन-किसको क्या दे सकता है? जगत के सभी पदार्थ अपनी-अपनी क्रियावती शक्ति से, अपनी-अपनी तत्सम्य की योग्यता से, क्षेत्र से क्षेत्रान्तर होते रहते हैं, आते-जाते रहते हैं। जीव के पुण्य-पाप के उदयादि भी तभी उसमें मात्र निमित्त हुआ करते हैं। सचमुच तो पुण्य का उदय भी कोई महत्वपूर्ण कारण नहीं है। वास्तविक कारण तो जीव व पुण्य की अपनी-अपनी तत्सम्य की योग्यता ही है, जोकि स्वयं कार्यरूप परिणत होती है। इससे भिन्न पर में कुछ भी कर्त्त्व क्षमा मानना मिथ्यात्वाभाव है।

यहाँ तो यहाँ तक कहा है कि जो स्वयं को अपने रागादि भावों का स्वामी मानता है, वह भी अजानी-मृदु-मिथ्यादृष्टि है तो पर में स्वामित्व व कर्त्त्व के भावालों का तो कहना ही क्या है? वे तो मिथ्यादृष्टि हैं ही।

यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि आपकी मान्यतानुसार पर को बचाने, रक्षा करने या जीवित रखने के भाव को मिथ्यात्व मान लें तो शास्त्र में जो यह कहा है कि ‘पर को बचाने, रक्षा करने या जीवित रखने के भाव दया के परिणाम हैं और दया धर्म का मूल है’— इस कथन का क्या होगा? क्या वह कथन मिथ्या सिद्ध नहीं हो जायगा?

इस प्रश्न के समाधान में आचार्य कहते हैं कि दया को जो शास्त्रों में धर्म कहा है, वह कथन तो अपनी जगह जिस अपेक्षा से कहा गया, उस अपेक्षा से सत्य ही है, पर हमें उस अपेक्षा को भली-भाँति समझ लेना चाहिए।

आगम में दया के अनेक भेद कहे गये हैं। उनमें एक भेद स्वदया व परदया के रूप में भी कहा है। स्वदया अर्थात् अन्तरंग में रागरोहित वीतराग निर्विकार
परिणाम की उत्पत्ति। यह स्वदया धर्म है। संसारी जीवों ने पर की दया, जो कि पुण्यभावरूप है, वह तो अनन्तबार की, पर उससे आत्मा का कल्याण नहीं हुआ। यदि कोई एकबार भी अपने पर दया करे तो उसका अनन्त जन्म-मरण का अभाव हो सकता है तथा अनन्त दुःखों से बच सकता है – ऐसी स्वदया ही वस्तुः धर्म है जो कि वीररागभावरूप होती है।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय के ४८वें श्लोक में कहा है कि निर्चय से रागादिभावों की उत्पत्ति का न होना ही परम अहिंसा है और यही धर्म है। इसे ही स्वदया भी कहते हैं।

पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध श्लोक ४८६ में कहा है कि प्राणिमात्र के प्रति वैरभाव छोड़कर निक्षणभाव हो जाना भी अनुक्रम का श्रेष्ठ रूप है। द्विपुटिद्व छोड़कर माध्यमस्थ भाव रखना भी दया है।

धवलता में भी आया है कि दया जीव का स्वभाव है। पर वह दया कौन-सी होगी जो जीव के स्वभावरूप होती हैं? यह स्वदया की ही बात है, परदया की नहीं। जिसे ऐसा निर्चयनय का विपयभूत स्वदयारूप धर्म प्रगट हुआ है, उस धर्मात्मा को व्यवहार में परजीवों की रक्षा का भाव आता ही है। उस शुभभाव को भी निर्चय का सहचारी होने से व्यवहार से धर्म कहा जाता है; परन्तु वह परदया का भाव वास्तव में तो पुण्यभाव ही है और पुण्यबंध का ही कारण है; वीररागभावरूप धर्म नहीं है, बन्ध के अभाव स्वभाववाला धर्म नहीं है। फिर भी यदि कोई उसे धर्म मानकर पर की रक्षा करने का, पर को जीवित रखने का अहंकार करता है – ऐसा मिथ्या अभिप्राय रखता है कि ‘में चाहूँ तो उसे सुग्री या दुःखी कर सकता हूँ अथवा मार सकता हूँ या जीवित रख सकता हूँ’ तो उसकी ऐसी मान्यता निर्चित ही अज्ञान है, मिथ्यालब है और अनन्त संसार का कारण है।

भगवान आत्मा तो पूर्ण आनन्द का नाथ, विज्ञानजनस्वरूप, सदा वीरराग स्वरूप ही है। वह जैसा है, उसे वैसा ही मानने का नाम वास्तविक अहिंसा है तथा वह जैसा है, उसे वैसा ही न मानना, अपूर्ण एवं रागादिरूप मानना,
अल्पम्म मानना मिथ्यात्व है, भ्रम है। यही स्वरूप की वास्तविक हिंसा है, निश्चय-हिंसा है।

इसके साथ बाद में पररात का होना वह व्यवहार हिंसा है तथा सावधानीपूर्वक परजीवों का घात न होने देना, उनके प्राणों की रक्षा करना व्यवहार आहिंसा है।

अरे ! यह जीव अनादि काल से मिथ्यात्व के कारण ही तो ८४ लाख योनियों में भटक रहा है, तथा जन्म-मरण के दुःख उठा रहा है। आजतक इस अज्ञानी-मोही प्राणी ने अपने मरण से उस वियोग में इतनी माताओं को रुखया है कि यदि उनके उन आँसुओं को इकट्ठा करें तो समुद्र के समुद्र भर जावें। भाई ! तू वह सब भूल गया है; क्योंकि तुझे अपने अनादि-अनन्त निज तत्त्व की खबर नहीं है, अपने निजस्वरूप का विचार नहीं है।

भगवान ! तू अपने इन भूतकाल के भवभ्रमण के सब दुःखों को भूल गया है। तुझे अपने अनन्त-अनन्त ववेय की खबर नहीं है। भाई ! ये सब भव एकमात्र मिथ्यात्व के कारण होते हैं। मिथ्यात्व ही संसार है, मिथ्यात्व ही आस्वर है और मिथ्यात्व ही भावबंध है। मिथ्यात्व का नाश होने पर जो चारित्रमोह संबंधी राग शेष रहता है, उसे तो यहाँ गिना ही नहीं है; क्योंकि वह तो समय पाकर नियम से निर्जनतेवाला ही है तथा पर्स्य रूप से रहता है। जिसको राग में एकलमुद्र है मात्र उसे ही राग का सद्भाव है। इसलिए मिथ्या अभिभ्राय को छोड़कर अपने पूर्णता के नाथ प्रभु आत्मा की रचना कर !

अब आगे कहते हैं कि कथन को नयविभाग से यथार्थ समझकर श्रद्धान करना चाहिए। सर्वथा एकात्म मानना तो मिथ्यात्व है।

पर को मारने का अभिभ्राय होते हुए ऐसा नहीं मान लेना कि — 'शास्त्र में ज्ञानी को पररात से बन्ध होने का निषेध है, इसकारण मुझे तो बंध होगा ही नहीं, क्योंकि में ज्ञानी हूँ' — ऐसी स्वचछन्द प्रवृत्ति करनेवाला न तो ज्ञानी है और न उसके पर की हिंसाजनित बंध का अभाव ही है।
वस्तुतः ज्ञानी के तो परजीव को मारने या जिलाने का अभिप्राय ही नहीं होता। उसका अभिप्राय तो ऐसा है कि – मैं तो चैतन्यजन प्रभु पूर्ण ज्ञात–दृष्टा हूँ। वह कभी भी राग का व पर का आत्मा के साथ एकत्र नहीं करता।

अहा ! जिसको शुद्ध चैतन्य आत्मा का अवलम्बन हुआ है तथा रागादि का अवलम्बन छूट गया है; वह क्षेत्र की अपेक्षा कहीं भी रहे, पर अभिप्राय में तो वह अपने आत्मा में ही रहता है। कदाचित् वह बाहर में चक्रवर्ती के वैभव में बैठा दिखाई देता हो तो भी वह आत्मा में ही रहता है। बाहर में वह रहता ही नहीं है।

जो मारने या बचाने का अभिप्राय रखता है, राग में स्थिर रखता है, और ऐसा मानता या कहता है कि – ‘मुझे परजीव से बन्ध नहीं होता; क्योंकि मैं पर को मार ही नहीं सकता या मारता ही नहीं हूँ’ – सो यह उसकी सर्वथा एकात्म मिथ्या मान्यता है। उसने वस्तुतः अपने ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव का ही नाश कर दिया है। ऐसी स्थिति में उसे स्वरूप की प्राप्ति होना संभव नहीं है।

अब उपर्युक्त भावार्थ में कथित आशय को प्रगट करने के लिए, व्यवहारनेत्र की प्रवृत्ति कराने के लिए काय्य कहते हैं –

( पृथ्वी )

तथापि न निरगलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां।
तदायतमेव सा किल निरगला व्यापूर्ति:।
अकामकृतकरम तत्मतमकारणं ज्ञानिनां।
द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च ॥ १६६ ॥

श्लोकार्थः :- [ तथापि ] तथापि (अर्थात् लोक आदि कारणों से बन्ध नहीं कहा और रागादि से ही बन्ध कहा है तथापि) [ ज्ञानिनां निरगलं चरितम् न इष्यते ] ज्ञानियों को निरगल (स्वच्छन्दतापूर्वक) प्रवर्तना योग्य नहीं है, [ सा निरगला व्यापूर्ति: किल तद–आयतनम् एव ] क्योंकि वह निरगल प्रवर्तन वास्तव में बन्ध का ही स्थान है। [ ज्ञानिनां अकाम–कृत–कर्म]
कलश १६६

तत्त्व अकारण्म मतम्] ज्ञानियों के वांछारहित कर्म (कार्य) होता है वह बन्ध का कारण नहीं कहा है, क्योंकि [जानाति च करोति] जानता भी है और (कर्म को) करता भी है - [द्वयं किमु न हि विरुध्यते ] ये दोनों क्रियाएँ क्या विरोध्रूप नहीं हैं ? (करना और जानना निरन्य से विरोध्रूप ही हैं।)

भावार्थ :- पहले काव्य में लोक आदि को बन्ध का कारण नहीं कहा इसलिए वहां यह नहीं समझना चाहिए कि बाह्यवहारप्रवृत्ति का बन्ध के कारणों में सर्वथा ही निषेध किया है; बाह्यवहारप्रवृत्ति रागादि परिणाम की - बन्ध के कारण की - निमित्तभूत है, उस निमित्तता का यहाँ निषेध नहीं समझना चाहिए। ज्ञानियों के अबुद्दिपूर्वक - वांछा रहित - प्रवृत्ति होती है इसलिए उनके बन्ध नहीं कहा है, उन्हें कहीं स्वच्छन्द होकर प्रवर्तने को नहीं कहा है; क्योंकि मर्यादारहित (निरंकुश) प्रवर्तना तो बन्ध का ही कारण है। जानने में और करने में तो परस्पर विरोध है; जाता रहेगा तो बन्ध नहीं होगा, करूं बनेगा तो अवस्य बन्ध होगा ॥ १६६॥

प्रलोक १६६ एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

इस कलश में १६५वें कलश के भावार्थ में कहे गये अभिप्राय को ही विशेष रूप से प्रगट किया गया है।

यद्यपि आगम में लोक आदि कारणों से बन्ध नहीं कहा, मात्र एक रागादि अशुद्धपौयंग को ही बन्ध का कारण कहा है; तो भी ज्ञानियों को लोक की मर्यादा का उल्लंघन करके स्वच्छन्द प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है।

आचार्यदेव कहते हैं कि इस लोक में व्याप्त कार्माण्वर्गणाः से मन-वचन-कायरूप योगों को प्रवृत्ति तथा परजीवों के वात वगैरह बाह्य कारणों से बन्ध नहीं होता। मात्र रागादि में एकत्वबुद्धि से ही बन्ध होता है; क्योंकि राग का अस्तित्व तो राग में है, शुद्धचैत्य में राग का अस्तित्व नहीं है। परन्तु अज्ञानी ने ऐसा न मानकर राग के अस्तित्व को अपने में माना, अपना ही माना - वस यही मिथ्या मानिया उसके बन्ध का कारण है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com
प्रवचनरत्नाकर भाग ८

यहाँ कोई आशंका कर सकता है कि इस तरह के कथन से तो लोग ब्रत, तप आदि को भी मिथ्यात्म मानकर स्वच्छन्दी हो जायेंगे?

उसके समाधान में कहते हैं कि अरे प्रभु ! भगवान आत्मा अन्तरं में रागरहित चैतन्यध्वनि श्रवणन्वृत्तपूर्व है। उसमें जाना, उसी में जपना-रमना – यह क्या कुछ करना नहीं है ? क्या ब्रजतादि का राग करना ही करना है ? भूमिकानुसार ब्रजतादि के रागरूप भाव भी होते हैं, पर ज्ञानी धर्मात्मा की उस राग में कर्तृत्वबुद्धि नहीं है। ब्रजतादि के समय भी वह तो उस राग से भी पार अंतरंग में विद्मान ज्ञान-त्रृपता स्वभावी आत्मा के जाननेरूप कर्तृत्व के करने को ही अपना कर्त्तव्य मानता है।

वेचारे अज्ञानी को उस कर्त्तव्य का तो पता नहीं; अतः वह उस ब्रजतादि के राग को ही अपना कर्त्तव्य मान लेता है। अतः उसे समझाने के लिए इस कलश में कहा गया है कि तुम अपने वास्तविक कर्त्तव्य को जानो और इस अनादिकाल से करते आ रहे राग के कर्तृत्व की मान्यता को छोड़ो।

ध्यान रहे – यहाँ उस शुभराग को छोड़ने की बात न कहकर उसे अपना ‘कर्त्तव्य मानना’ छोड़ने की प्रेरणा दी गई है, पर अज्ञानी राग का कर्त्तापना नहीं छोड़ता।

भाई ! यह किसी की मनगढ़त कल्पना नहीं है, वह तो जिनेश्वरदेव की बाणी है। भगवान की दिव्यध्वनि में ऐसा आया है कि जो प्राणी भगवान आत्मा में स्वभाव-विभाव को एकरूप करता है, वह मिथ्यावृत्ति है। ‘मैं पर को मारता हूं’ – ऐसे अभिमाय से जो स्व-पर को एक करता है, वह मिथ्यावृद्धि है।

अहा ! चिदानन्दधर्म अकृत्तिम भगवान आत्मा में कृत्रिम राग को मिलाना-एकमेक करना मिथ्यात्म है, संसार है। ऐसा मानने से मान्यता में तो वीररागता व राग दोनों ही एक हो गये, परन्तु वस्तुस्वरूप में कभी ऐसा होगा नहीं।

अरे ! जिसे ज्ञान व राग की भिन्नता भासित हुई है, वह समकक्षी राग को कभी भी अपनी वस्तु नहीं मानता। उसे तो राग से जुड़ा तीन लोक का नाथ, अनन्त ज्ञानान्द का सागर, अपना आत्मा दृष्टि में आ गया है। इसकारण उसे
मन-वचन-काय का योग, इन्द्रियों का व्यापार तथा चेतन-अचेतन का घात 
आदि बन्धन में कारण नहीं बनते।

अत्यन्त जीव भावे ही छहकाय के जीवों को नहीं मारता हो तो भी त्रिकाली 
स्वभाव में राग के एकल के कारण हिंसक है; क्योकि वह अपने स्वरूप का 
घात करता है। इस संदर्भ में प्रवचनसार गाथा २३६ की टीका भी दृष्टव्य है।

यहाँ कहते हैं कि - यदयपि लोक, मन-वचन-काय का योग, इन्द्रियों का 
व्यापार तथा चेतन-अचेतन का घात आदि कारणों से बन्ध नहीं कहा - एक 
रागादिक से ही बन्ध कहा है; तथापि ज्ञानियों को अनर्गल-प्रमादसहित प्रवृत्ति 
करना योग्य नहीं है; क्योकि उनकी वह निर्गल प्रवृत्ति वस्तुतः बन्ध का ही 
कारण है। राग की रचिपूर्वक काम-भोग की प्रवृत्ति एकान्त: बन्ध का ही 
कारण है।

अहाहा एक। बुद्धिपूर्वक विषय-कषायों में निरंकुश आचरण बन्ध का 
ही स्थान है। 'परमात्मा आदि से मुझे बन्ध नहीं होता' - ऐसी कुर्यूक्षित या तुर्की 
करके स्वच्छन्द आचरण तो मिथ्यादृष्टि के ही होता है। ज्ञानियों के तो वांछा 
के बिना ही कार्य होता है, अरचिपूर्वक बाह्य प्रवृत्ति होती है, निरंभिलाप कर्म 
होता है; इसकारण वह बन्ध का कारण नहीं है। नोआंखली की घटना इसका 
ज्ञलन उदाहरण है। वहाँ अत्याचारियों ने माँ-बेटे को और भाई-बहिन को 
नंगा करके संभोग करने को बाध्य किया, परस्पर अंग से अंग लगाकर जड़ 
दिया। तो आप ही सोचिए - क्या उन पवित्र रिस्तों में भी किसी को भोग की 
भावना हो सकती है? उन्हें तो इतनी शर्म आती होगी किय यदि धरती फट 
जाते तो वे मुंह छिपाकर उसमें समा जायें। वह क्यों नहीं फटी, जिसमें वे समा 
सकें? ठीक इसीतरह ज्ञानी भी भोगों का पूर्ण अरुचि भाव से ही भोगता है। 
वह भोगों को भोगता नहीं, बल्कि उसे भोग भुगतने पड़ते हैं। उसे तो वे भोग 
जहर समान लगते हैं। अतः वह राग में एकतवबुद्धि कभी नहीं करता।

अब कहते हैं कि ज्ञानी को राग की रचि के बिना जो योग आदि की क्रिया 
होती है, उसे बन्ध का कारण नहीं कहा है; क्योकि जो जानता है, वह करता नहीं नहीं 
है तथा जो करता है, वह जानता नहीं है। दोनों क्रियायें परस्पर निरोधी हैं।
बाह्य में मन-चन-काय रूप योग की क्रियाएँ, राग की क्रियाएँ, मारने आदि हिस्सा की क्रियाएँ अपनी चैतन्य सत्ता में हैं ही कहाँ ? अपनी सत्ता में जब राग ही नहीं है तो अन्य योग वगैरह तथा मारने आदि की क्रियायें तो उसमें होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

‘करना’ व ‘जानना’ – ये दोनों क्रियायें निर्णय से परस्पर विरोधी हैं।
‘इसे माहूँ, इसे सुखी करूँ, दुःखी करूँ’ आदि के भाव तथा ‘मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ’ – ऐसे भाव, ये दोनों भाव परस्पर विरोधी हैं। जो जानता है, वह करता नहीं है और जो करता है वह जानता नहीं है।

कहा भी है –

‘करे करम सो ही करतारा, जो जाने सो जानहरा।
करम करे जाने नहीं सोई, जो जाने करता नहीं होई॥’

- कविवर बनारसीदास

जो जानता है, सो करता नहीं और जो करता है, सो जानता नहीं; करना तो कर्म का राग है, और जो राग है सो अज्ञान है तथा अज्ञान बन्ध का कारण है।

इसी अर्थ का काव्य कहते हैं –

(वसन्ततिलक)
जानाति य: स न करोति करोति यस्तु।
जानात्यं न खलु तत्किल कर्मरागः॥
रागं तवोधङ्धमध्यवसायमाहु।
मिथ्यादृशः स नियतं स च बंधेहतु:॥ १६७॥

श्लोकार्थः – [ य: जानाति स: न करोति ] जो जानता है सो करता नहीं
[ तु ] और [ य: करोति अर्थं खलु जानाति न ] जो करता है सो जानता नहीं।
[ तत्किल कर्मरागः ] करना तो वास्तव में कर्म का राग है [ तु ] और [ रागं
अबोधमयम् अध्यवसायम् आहः ] राग को (मुनियों ने) अज्ञानमय
कलश १६७ पर प्रवचन

जो जीव अपने शुद्ध-एक-ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को जानते हैं, अनुभव करते हैं, वे किसी भी परद्वृत्त के करने का राग नहीं करते। जब वे अपने में पर करने का राग या विकल्प ही नहीं करते तो पर में कुछ करने-कराने का तो प्रर्दश ही उत्पन्न नहीं होता। अरे भाई! जिसे विज्ञानमण्डल स्वभाव ज्ञान और आनंदमयी आत्मा का अनुभव हुआ है, वह सागर के विकल्पों का कर्त्ता नहीं है। जिसे यथार्थतत्त्ववृद्धि प्रगट हुई है, वह अपनी उस निर्मलतत्त्ववृद्धि की पर्यावर का कर्त्ता तो है, पर राग का कर्त्ता नहीं है।

भगवान आत्मा अकेला ज्ञान-स्वभाव का दल नित्य ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी है—ऐसे अपने स्वरूप का भान होने से जिसकी पर्यावर में निर्मल रान्तरस्वरूप धर्म प्रगट हुआ है, उस धर्मी जीव को अभी वर्तमान में जबतक पूर्ण वीरराग दशा प्रगट नहीं हुई, तबतक व्यवहार-रान्तर का शुभ विकल्प होता है; परन्तु उस शुभभाव या शुभविकल्प को अपने में नहीं करता, उसे मात्र जानता ही है।

अब कहते हैं कि ठीक इसीप्रकार जो करता है, वह जानता नहीं है और जो जानता है वह करता नहीं है। करना तो कर्म का राग है और राग को अज्ञानमय अध्यवसाय कहा है। हे प्रभु! जिसको अपने ज्ञानानन्दस्वभाव का भान हुआ, अन्तर्मुख दृष्टि हुई, वह अब क्या करे? ज्ञान करे या राग करे? उसके राग का कर्तृत्व तो रहा ही नहीं है। ज्ञान करना—ऐसा कहना भी व्यवहार है; क्योंकि द्रव्य अपनी पर्यावर को करता है—ऐसा कहकर जो द्रव्य व पर्यावर का भेद ढाला, वही व्यवहारनय का विषय है। वस्तु तो अभेद, अखंड, एकरूप है, मूलकस्तु में तो भेद है ही नहीं!

ज्ञानी के राग होता अवश्य है, पर वह उस रागरूप पर्यावर का मात्र जाननहार है। यह शुद्ध समक्षत की बलिहारी है।
अज्ञानी की दृष्टि राग पर है, उसके करने-कराने के कर्म का राग है; वह उस राग को अपना कर्तव्य मानता है; इसकारण वह अपने आत्मतत्त्व को राग से भिन्न नहीं कर पाता तथा अन्तरंग में पड़े अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को नहीं जान पाता।

धर्म तो त्रिकाल ज्ञानानन्दस्वभावी चित्रानन्ददयन प्रभु आत्मा के आश्रय से निम्नलिखित वीरागी दशा, निम्नलिखित लक्ष्य की दशा प्राप्त करने-रूप है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का राग धर्म नहीं है; क्योंकि धर्म का स्वरूप वीरागरूप है, रागरूप नहीं। यद्यपि ये शुभराग के परिणाम व शुभक्रियाएँ ज्ञानी को भूमिकानुसार होतीं अवस्था हैं और होनी भी चाहिए; पर ये कर्तव्य नहीं हैं, धर्म नहीं हैं।

यहाँ कोई यह कह सकता है कि शुभराग व शुभकार्य करते भी हैं और साथ ही हेज भी कहते हैं – ऐसा क्यों?

उत्तर में आचार्य कहते हैं कि यहाँ केवल ‘कर्मराग’ को ही ‘करना’ कहा गया है। जिन्हें क्षणिक कृत्रिम राग व त्रिकाली सहज अकृत्रिम चैतन्यमय प्रभु आत्मा में भेदज्ञान हो गया है, उनके राग व व्यवहार होते हुए भी उन्हें उनका कर्त्ता नहीं कहा जाता। उनमें उन शुभरागरूप कार्यों के प्रति कर्तृत्वव्यवहार नहीं रहती। इसलिए ऐसा कहा जाता है कि वह राग को करता ही नहीं है।

भगवान आत्मा सचिवानन्दरूप अतीद्रियज्ञान व आनन्द का कन्द है। उसमें विकार को करने का, विकल्प उत्पन्न करने का कोई गुण ही नहीं है। अहा ! जिसे ऐसे भगवान आत्मा की अन्तर्दृष्टि हुई, वह धर्मी जीव केवल वीराग-परिणाम को ही करता है। जब वह रागादि परिणाम का भी कर्त्ता नहीं है तो परद्रव्य के कर्तृत्व का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

यदि इसमें से कोई ऐसा अर्थ निकाले कि कर्म आत्मा में है तथा कर्म के कारण जीव को विकार होता है – सो वस्तुतः ऐसा नहीं है। भाई ! जो विकार होता है, वह अपनी पर्याय में अपने ही अपराध से होता है। भले ही कर्म का
कलश १६७

निमित्तपणा है, पर विकार अपना ही अपराध है। धर्मी की दृष्टि विकार पर नहीं है, बल्कि चैतन्यस्वभाव पर ही है। इसकारण वह विकार का कर्ता नहीं है।

करना ‘कर्मराग’ है। कर्मराग का अर्थ है रागदिकरने की रुचि – अर्थात् रागदिकरना मेरा कर्तव्य है, मुझे करना चाहिए। ऐसा अभिप्राय अज्ञानाभाव है।

अहाहा! भगवान आत्मा चिदानन्दन प्रभु एक ज्ञायकस्वभावमय है तथा राग अज्ञानमय है; क्योंकि उसमें ज्ञान का अंश भी नहीं है। इसीकारण ‘कर्मराग’ को अज्ञानमय अध्यवसाय कहा है। राग के कर्तृत्व का अध्यवसाय ही कर्मराग है, अज्ञानमय अध्यवसाय है, मिथ्यादर्शनरूप महापाप है, अनन्त जन्म-मरण के दुःख में डालनेवाला है।

देखो, तीन ज्ञान के धारी श्री शान्तिनाथ, कुन्तुनाथ, अरनाथ तीनों तीर्थकर थे, चक्रवर्ती थे, कामेदव थे, उनके शरीर का सौन्दर्य अद्भुत था, छह खंड का वैभव था, छियानवे हजार राणियां थीं; फिर भी वे उनमें रोज़ नहीं थे, उन्हें उन सब में एकत्व-ममत्व व कर्तृत्वबुद्धि नहीं थी। इन पदार्थों में जो अल्प राग होता भी है तो उसके वे कर्ता नहीं होते। मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहकर उन्हें केवल जानते-देखते हैं। अहो! जिन्हें ‘कर्मराग’ नहीं होता वे धर्मात्मा ऐसे ही होते हैं।

व्यापि भूमिकानुसार पर की दया पालने का भाव ज्ञानी-धर्मी पुरुषों को भी आता है, पर उसमें उनकी एकत्व व कर्तृत्वबुद्धि नहीं होती। दया, दान, भक्ति आदि में एकत्व व कर्तृत्व होना ही कर्मराग है।

वस्तुतः यह कलश अलौकिक है, अद्भुत है। इसमें कहा गया है कि धर्मी जीव तो अपनी शुद्ध निमित्त परिणति को भी मात्र जानता ही है और साथ में जो अशुद्ध रागांश है, उसे भी मात्र जानता ही है। जो रागांश होता है, उसे वह करता भी नहीं है और उसे छूता भी नहीं है। जातापने से उसे मात्र जानता ही है।

‘भगवान की वाणी’ यह कहना व्यवहार है। निमित्त की मुख्यता से ऐसा कहा जाता है। वस्तुतः वाणी तो पुद्गल की क्रिया है, जड़ है, मूर्तिक है। वाणी
का कर्ता जीव कैसे हो सकता है? यद्यपि जीव का स्वभाव स्वप्नप्रकाशक है, परन्तु वाणी का कर्तापना जीव के नहीं है।

देखो, राग को अज्ञानमय अध्यवसाय कहा है। यहाँ 'राग' का अर्थ राग में एकत्वबुद्धि है। राग से लाभ मानना भी राग में एकत्वबुद्धि ही है। जिसे ऐसा अज्ञानमय अध्यवसाय है, वह नियम से मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि उसकी ऐसी मिथ्या मान्यता है कि 'में जीवों की दया का पालन कर सकता हूँ, दूसरों को मार या जिला सकता हूँ।' जबकि वस्तुतः बात इससे सर्वथा जुदी है। ज्ञानी तो अपने राग का भी मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही है। जब वह अपने रागांश का भी कर्ता-भोक्ता नहीं है तो पर में कुछ करे - यह तो प्रसन ही उपस्थित नहीं होता।

अहा ! ज्ञानी को 'कर्मराग' नहीं है, अज्ञानमय अध्यवसाय नहीं है। इसकारण ज्ञानी लड़ाई में गया हो, युद्ध लड़ रहा हो, तो भी उसके राग में रूचि न होने से उसे तज्जनित वन्ध नहीं होता। इसके विपरीत, अज्ञानी भले ही मुनि हो गया हो, व्यवहार में छहकाय के जीवों की हिंसा में प्रवृत्त न हो तो भी उसके अंतरंग में, अभिप्राय में, राग में एकत्वबुद्धि रूप 'कर्मराग' होने से उसे तज्जनित कर्मबंध होता है।
समवयसार गाथा २४७

जो मण्डलि हिन्नामि य हिन्निज्ञामि य परहि सत्तेहि ।
सो मूढो अण्णाणी जाणी एतो दु विवीर्दे ॥ २४७॥

यो मन्यते हिन्निसि च हिंस्ये च परे: सत्त्व: ।
स मूढोज्जानी ज्ञान्यतस्तु विपरीत: ॥ २४७॥

परजीवानहिन्निसि, परजीवेहिंस्यै चाहिम्यध्वसायो ध्रुवम्ज्ञानम्।
स तु चस्यास्ि सोज्जानित्वानिम्यध्वालूष्णः, यस्य तु नासि स
ज्ञानित्वात्सम्याभृतः।

अब मिथ्यादृष्टि के आशय को गाथा में स्पष्ट कहते हैं :--

में मारता हूँ अन्य को या मुझे मारें अन्यजन ।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें है भव्यजन ॥ २४७॥

गाधार्थः :- [ यः ] जो [ मन्यते ] यह मानता है कि [ हिन्निसि च]
'में पर उसको मारता हूँ [ परे: सत्त्वः हिन्निसि च ] और पर जीव मुझे मारते
[ अतिं: विपरीतः ] इससे विपरीत (जो ऐसा नहीं मानता) वह [ ज्ञानी ]
ज्ञानी है।

टीका :- 'में परजीवानहो मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं' - ऐसा
*अध्यवसाय धुरुप से (नियम से, निश्चयत:) अज्ञान है। वह अध्यवसाय
जिसके है, वह अज्ञानीपने के कारण मिथ्यादृष्टि है और जिसके वह
अध्यवसाय नहीं है, वह ज्ञानीपने के कारण सम्याभृत है।

भावार्थ - 'परजीवानहो में मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं' ऐसा
अभिप्रय अज्ञान है; इसलिए जिसका ऐसा आशय है वह अज्ञानी है -
मिथ्यादृष्टि है और जिसका ऐसा आशय नहीं है, वह ज्ञानी है - सम्याभृत है।

* अध्यवसाय = मिथ्या अभिप्रय; आशय।
प्रवचनरत्नाकर भाग ८

निश्चयन्य से कर्ता का स्वरूप यह है - स्वयं स्वाधीनतया जिस भावरूप परिणामित हो उस भाव का स्वयं कर्ता कहलाता है। इसलिए परमार्थतों कोई किसी का मरण नहीं करता। जो पर से पर का मरण मानता है, वह अजीवनी है। निमित-नैमितिक भाव से कर्ता कहना सो व्यवहारन्य का कथन है; उसे यथार्थतया (अपेक्षा को समझकर) मानना सो सम्प्रज्ञान है।

गाथा २४७, टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

यह गाथा अत्यन्त सरल है। यहाँ कहते हैं कि जो ऐसा मानता है कि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी अन्य सशस्त्री जीवों को मैं परारता हूँ, मार सकता हूँ, वह नियम से मिथ्यावृद्धि है। दूसरे जीवों को हनन करने का तत्पर्य यह है कि जिन जीवों के पाँच इत्रियाँ, तीन वल, आयु और श्वासोछ्वास आदि दस प्राण हैं, उन्हें जुदा करना, नष्ट-प्रक्ष्य कर देना। आत्मा तो एक अजर-अमर-अविनाशी-भूत तत्भ है, उसका तो कभी मरण या नाश होता ही नहीं है। हाँ, इन दस प्राणों का जो संयोग-वियोग होता रहता है, उसे ही जीवित रहने और मरण होने की संज्ञा दी जाती है।

प्राण जड़ हैं व आत्मा चेतन है। दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। जब कोई किसी को छूता ही नहीं है तो फिर आत्मा जड़ प्राणों को जुदा कैसे कर सकता है?

‘में पर को माहहँ या पर जीव मुझे मारे’ यह कैसे संभव है? क्योंकि में व पर - दोनों ही भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं और एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का भला-बुरा कुछ भी नहीं कर सकता। अतः जो व्यक्ति एक द्रव्य में दूसरे का कर्ष्ट्त्व माने, वह नियम से मूढ-मिथ्यावृद्धि है।

अहो! यह तो तीन लोक के नाथ की उद्धोपणा है कि सर्वद्रव्य स्वतंत्र हैं, कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के अधीन नहीं है।

हाँ, दो द्रव्यों में निमित-नैमितिक सम्बन्ध अवश्य है, पर निमित-नैमितिक का अर्थ कर्ता-कर्मपना नहीं होता। निमित तो मात्र कार्य के काल में कार्य के अनुकूल परद्रव्य के अस्तित्व का घोषक है। वह निमितरूप परद्रव्य उपादान में सहयोगादि कुछ करता नहीं है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com
पिछली गाथाओं में भी कह आये हैं कि मान राग में एकत्रबुद्धि ही बंध का कारण है। मन-वचन-काय की क्रिया या चेतन-अचेतन का घात आदि बाह्र क्रियायें बंध का कारण नहीं हैं; क्योंकि कोई भी द्रव्य पर की क्रिया कर ही नहीं सकता।

भाई! जब जीव का पर की सत्ता में प्रवेश ही संभव नहीं है तो फिर वह पर को मार कैसे सकता है, पर के अस्तित्व का नाश कैसे कर सकता है? यह जिनागम का महापरमाण्त है कि कोई भी जीव किसी पर जीव को मार नहीं सकता, जीवित भी नहीं रख सकता। मारने का भाव होता है, पर मार नहीं सकता।

यहाँ कोई कह सकता है कि आप क्या बात करते हो? अरे! पण्डित टोड़रमलजी को राजा ने हाथी के पैर से कुचल कर मरवाया था या नहीं? उसका समाधान करते हुए यहाँ कहा गया है कि अरे भाई! वह तो जिस काल में जो क्रिया होनी थी, वही हुई है। उनकी मृत्यु को समय से पहले करने/करने वाला अन्य कोई नहीं था। निमित्त की मुख्यता से ऐसा कहा जाना अलग बात है और वास्तविकता कोई जुड़ी बात है।

पण्डित टोड़रमलजी के सामने वह घटना उनकी श्रद्धा की दृढ़ता की चुनौती बनकर आई थी। उन्हें अंतरंग में ऐसी दृढ़ श्रद्धा थी कि मुझे कोई मार नहीं सकता अर्थात् कोई मेरी आयु को मुझ से छीन ही नहीं सकता और इसी निमित्त कारण से मेरी आयु का अंत होना है तो उसे भी कोई टाल नहीं सकता। कौन-किसको मार सकता है या जीवित रख सकता है? यह तो कोरा भ्रम है कि राजा ने पण्डित टोड़रमलजी को मारा। हाँ, मृत्युदण्ड दिया होगा। मृत्युदण्ड देना जुड़ी बात है और मारना जुड़ी बात है। इन्हें विचारों में मान रहते हुए अत्यन्त समाधिभाव से समाधिमरणपूर्वक ही उनकी देह स्वकाल में ही विसर्जित हुई थी। राजा ने उन्हें मारा नहीं था, बल्कि जब वे मरे, तब राजा का उस जाति का विकल्प चल रहा था; इसलिए लोक व्यवहार में ऐसा कहा जाता है कि ‘राजा ने उन्हें मरवा दिया।’
लौकिकदृष्टि से - लोकव्यवहार में ऐसा कहना असत्य भी नहीं है। जिसका ऐसा सदृश अभिप्रयास है, वह ज्ञानी है।

आत्मा तो अजर-अमर है। वह तो कभी मरता ही नहीं है। दस प्राणों के संयोग-वियोग से जो जीवन-मरण का व्यवहार होता है, वह भी पर के हाथ में नहीं है। फिर भी अज्ञानी मारने-बचाने की मिथ्या मान्यता रखता है। अतः यहाँ मारने-बचाने के अभिप्रय को मिथ्या कहा जा रहा है, जो कि बंध का कारण है।

जिसके ऐसा मिथ्या अभिप्राय नहीं है, वह ज्ञानीपने के कारण सम्प्रगृहित है। जब भी ऐसे ज्ञानियों को कोई मारने के लिए आता है, तब वे ऐसा दृढ़ श्रद्धान रखते हैं कि ‘यह व्यक्ति मुझे मार नहीं सकता।’ इससे उनके समाधान प्रगट होता है।

अहा ! प्रत्येक सत्ता अभेद्य है। किसी की सत्ता में अन्य किसी का प्रवेश ही नहीं होता। तब फिर कोई किसी को मारे - यह बात ही कहाँ से लाएं?

इसलिए जिसका पर को मारने-बचाने का अभिप्रय हो, वह मिथ्यादृष्टि है और जिसका ऐसा आशय न हो, वह सम्प्रगृहित है।

दस प्राणों के वियोग का नाम मरण है। जब प्राण ही आत्मा के नहीं हैं तो फिर में इसके प्राण लिये - यह प्रसन ही उपस्थित नहीं होता। कोई किसी का मरण करे - यह वस्तु स्थिर ही नहीं है।

हाँ, निमित्त-नैमितिक भाव से कर्ता कहने का व्यवहार है। उसे यथार्थ रीति से मानना सम्प्रगृहन है। व्यवहार से जो यह कहा जाता है कि अमुक ने अमुक को मारा या बचाया, सो यह इस बात का सूचक है कि अमुक व्यक्ति के मरण या जीवित रहने के काल में बाहर में किसी जीव का मारने या बचाने का भाव निमित्तरूप में था। वस निमित्त-नैमितिकता का ज्ञान कराने की दृष्टि से यह सब व्यवहार कथन होता है। वस्तुस्वरूप की ओर से देखा जाते हैं कोई किसी को मार सके या बचा सके - ऐसा वस्तु के स्वरूप में ही नहीं है। इस व्यवहार वचन की अपेक्षा को समझना ही सम्प्रगृहन है।
समयसार गाथा २४८ से २४९

कथमयमध्यवसायोज्ञानमिति चैत्-
आउक्ष्येण मरणं जीवाणं जिनावरेहि पण्णाति ।
आउं णा हरसि तुम कह ते मरणं करं तेसिं ॥ २४८॥
आउक्ष्येण मरणं जीवाणं जिनावरेहि पण्णाति ।
आउं णा हरंति तुहं कह ते मरणं करं तेहि ॥ २४९॥
आयुःक्ष्येण मरणं जीवाणं जिनवरें: प्रज्ञातम् ।
आयुर्व हरसि तं कथं त्वया मरणं कृतं तेषाम् ॥ २४८॥
आयुःक्ष्येण मरणं जीवाणं जिनवरें: प्रज्ञातम् ।
आयुर्व हरंति तव कथं ते मरणं कृतं ते: ॥ २४९॥

मरणं हि तावजीवाणं स्वायःकर्मक्षेत्रेणौव, तदभावे तत्स्य
भावियितमशक्यत्वातः, स्वायःकर्म च नान्येनान्यस्य हर्तु शाक्यं, तत्स्य
स्वोपधोगेनैव क्षीयमाणःत्वातः; ततो न कतर्थचनापि अन्योन्यस्य मरणं
कुर्यात्। ततो हिन्निकस, हिंस्ये चेत्यध्वसायो ध्रुवमज्ञानम्।

अब यह प्रश्न होता है कि यह अध्यवसाय अज्ञान कैसे है? उसके उत्तर
स्वरूप गाथा कहते हैं—

निज आयु क्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही।
तुम मार कैसे सकोगे जब आयु हर सकते नहीं? ॥ २४८॥
निज आयुक्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही.
वे मरण कैसे करें तब जब आयु हर सकते नहीं? ॥ २४९॥

गाथार्थ:— (हे भाई! तू जो यह मानता है कि ‘मैं परजीवों को मारता
हूँ’ सो यह तेरा अज्ञान है।) [ जीवाणं ] जीवों का [ मरणं ] मरण [आयु:
क्षेत्रः] आयुकर्म के क्षय से होता है ऐसा [जिनवरः] जिनेन्द्रदेव ने
[प्रज्ञातम्] कहा है; [त्वं] तू [ आयुः ] पर जीवों के आयुकर्म को तो [ न
हरसि ] हरता नहीं है, [त्वया] तो तुने [ तेषाम् मरणं ] उनका मरण [ कथं ]
कैसे [ कृतं ] किया?
टीका :- प्रथम तो, जीवों का मरण वास्तव में अपने आयुक्तम के क्षय से ही होता है, क्योंकि अपने आयुक्तम के क्षय के अभाव में मरण होना अशक्य है; और दूसरे से दूसरे का स्व-आयुक्तम हरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह (स्व-आयुक्तम) अपने उपभोग से ही क्षय को प्राप्त होता है; इसलिये किसी भी प्रकार से कोई दूसरा किसी दूसरे का मरण नहीं कर सकता। इसलिये ‘मैं परजीवों को मारता हूँ, और परजीव मुझे मारते हैं’ ऐसा अध्यवसाय धृतवर्तम से (नियम से) अज्ञान है।

भावार्थ - जीव की जो मान्यता हो तदनुसार जगत में नहीं बनता हो, तो वह मान्यता अज्ञान है। अपने द्वारा दूसरे का तथा दूसरे से अपना मरण नहीं किया जा सकता, तथापि यह प्राणी व्यर्थ ही ऐसा मानता है सो अज्ञान है। यह कथन निरशचयन की प्रधानता से है।

व्यवहार इसप्रकार है - परस्पर निमित्तनैमितिकभाव से पर्याय का जो उत्पाद-व्याय हो उसे जन्म-मरण कहा जाता है; वहाँ जिसके निमित्त से मरण (पर्याय का व्याय) हो उसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि ‘इसने इसे मारा’ यह व्यवहार है।

यहाँ ऐसा नहीं समझना कि व्यवहार का सर्वथा निर्मिृक है। जो निरशचय को नहीं जानते, उनका अज्ञान मिटाने के लिए यहाँ कथन किया है। उसे जानने के बाद दोनों नयों को अविरोधकर से जानकर यथायोग्य नय मानना चाहिए।

गाथा २४८-२४९ पर प्रवचन

इस गाथा में इस बात का स्पष्टीकरण किया गया है कि ‘मैं किसी को मारता हूँ या मार सकता हूँ’ - इस अध्यवसाय की तरह ही ‘मैं किसी को बचाता हूँ या बचा सकता हूँ’ - यह अध्यवसाय भी अज्ञान है।
समवस्सर गाथा २४८-२४९

प्रथम तो जीवों का मरण या जीवन वस्तु: उनके स्वयम के आयु कर्म के श्रय या उदय पर निर्भर करता है। कोई अन्य किसी अन्य को मार सकता है या जीवित रख सकता है - ऐसा है ही नहीं।

जीव की आयु पूरी होने पर ही उसका मरण संभव है। जिस समय व जिस क्षेत्र में आयु पूरी होती है, उसी समय व उसी क्षेत्र में देह छूट जाती है - यह बात न केवल कुन्दकुन्द की है, बल्कि जिनेश्वर देव की है - ऐसा स्वयं कुन्दकुन्द कहते हैं। मूल गाथा में ‘जिनवरेहिं पणणतं’ - ऐसा कहकर कुन्दकुन्द ने जिनेश्वर की छाप लगाई है।

यहाँ इस प्रकरण में किसी को यह शंका हो सकती है कि जब आयु कर्म का श्रय होगा तभी देह छूट सकेगी न? तथा जबतक आयुकर्म हो तबतक ही तो जीव देह में रह सकता है न?

यहाँ शंकाकार को यह भ्रम है कि जीव का व देह का संबंध रहना - न रहना कर्मधीन है।

इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि अरे भाई! जब देह छूटने का काल हो, देह तभी छूट जाती है तथा जबतक जीव का देह में रहने का काल हो तबतक वह देह में रहता है। जीव की व देह की - दोनों की जुड़ी-जुड़ी कुछ ऐसी ही स्वतंत्र योग्यता है। दोनों अपनी-अपनी योग्यता से अपने-अपने कारण साथ-साथ रहते हैं और अपनी-अपनी स्वतंत्र योग्यता से अपने-अपने स्वच्छतुष्ट्य के अनुसार अलग-अलग हो जाते हैं। उनके रहने व अलग होने में जो आयुकर्म का उदय व श्रय निमित्त रूप में होता है, उसकी भी अपनी स्वतंत्र योग्यता है; तोंनों का मात्र समकाल है। कोई किसी के आधीन नहीं है।

भाई! आयु कर्म तो जड़ है व जीव चेतन है, दोनों पूर्ण स्वतंत्र हैं। जड़कर्म जीव का कुछ नहीं करता। आयुकर्म के श्रय से जीव का मरण होने की बात कही गई है, उसका प्रयोजन तो यह है कि जीव के मरणकाल में आयुकर्म का श्रय नियम से निमित्त है।
अहा ! ‘कोई एक-दूसरे का मरण कर सकता है’ ऐसी मिथ्या मान्यता का निषेध करने तथा मरणकाल में आयुकर्म के क्षय की नियमरूप निमित्तता का ज्ञान करने की मुख्यता से ही यह गाथा रची गई है।

आचार्य यहाँ कहते हैं कि प्रथम तो जीवों का मरण वस्तुत: अपने-अपने आयुकर्म के क्षय से ही होता है, क्योंकि अपने-अपने आयुकर्म के क्षय के अभाव में जीवों का मरण अशक्य है। अर्थात् कोई जीव किसी अन्य को मार ही नहीं सकता; क्योंकि कोई अन्य अपने आयु कर्म को हर नहीं सकता – यह अकाद्य सिद्धान्त है।

इसीप्रकार कोई किसी मरते हुए जीव को जीवित नहीं रख सकता; क्योंकि वह उसे अपना आयुकर्म नहीं दे सकता।

यहाँ जड़ आयुकर्म को भोगने की बात नहीं है, बल्कि उस जीव की वहाँ उस पर्याय में रहने की योग्यता ही उत्तरे काल की थी। जड़ आयुकर्म तो उसमें निमित्त मात्र होता है। तथा जिनवाणी में निमित्त की मुख्यता से ऐसा कथन करने की रीति भी व्यवहारनय से है।

अब अन्त में निष्कर्ष के रूप में कहते हैं कि – ‘मैं पर जीव को मारता हूँ और पर जीव मुझे मारते हैं, मार सकते हैं’ – ऐसा अध्यवसाय धुवपने (निश्चय से) अज्ञान है और ऐसी मान्यता मिथ्यात्वरूप होने से अनन्त संसार का कारण है।

गाथा २४८-२४९ के भावार्थ पर प्रवचन

लोक में परस्पर निमित्त-नैमितिक भाव से जो क्रिया होती है, उसे व्यवहारनय से निमित्त से हुई कही जाती है। किन्तु निश्चय से – वास्तविकरूप में ऐसा नहीं है। जो वस्तु के निश्चयपक्ष को – सत्यार्थस्वरूप को नहीं जानते, वे अज्ञानी हैं। इस अज्ञान का नाश करने के लिए ही यहाँ निश्चय प्रधान कथन किया गया है।
वास्तव में तो परद्रव्य को क्रिया - पर को मारने या बचाने की क्रिया आत्मा के अधिकार की बात ही नहीं है। यह वस्तुस्थिति है। तथापि द्रव्यों में जो क्रियायें होती हैं, वे सब परस्पर निमित्त-नैमितिक भाव से होती हैं। अतः निमित्त का यथार्थ ज्ञान भी आवश्यक है। क्योंकि किस निमित्त से कौनसी क्रिया हुई या होती है - यह जाने बिना निमित्त का - व्यवहार का यथार्थ ज्ञान नहीं होता और निश्चय-व्यवहार के जाने बिना जिनवाणी का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। अतः निश्चय व व्यवहार - दोनों नयों को अविरोधी जानकर-एक को दूसरे का पूरक मानकर वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान करना - ऐसा कहा है।

जीवों का मरण अर्थात् उनके द्रव्यप्राणों का विहीण तो उनके स्वकाल में ही हुआ है। तथा बाह्य-परपादर्थों का निमित्परता भी अपने-अपने कारणों से सहज बना है। ऐसा ज्ञानी यथार्थ मानते हैं, जानते हैं।

ज्ञानी को यह श्रद्धान बराबर है कि किसी अन्य जीव के मारने या बचाने में हमारो कोई कर्तृत्व नहीं है। हाँ, मेरी स्वरूप स्थिति नहीं है, इसकारण प्रमादवश पर की रक्षा का या पराप्राप्त का विकल्प आया है। परन्तु में वस्तुतः किसी को मार नहीं सकता तथा मरनेवाले को जीवित भी नहीं रख सकता। सभी प्राणी अपने-अपने आयुकरम के कारण जीवित रहते हैं और आयुकरम के क्षण होने पर मरण को प्राप्त होते हैं। में या मेरा विकल्प तो उनके मरने व जीवित रहने में निमित्त मात्र होता है। मुझे जो मारने या जीवित रखने का भाव आया - विकल्प हुआ, वह मेरी अस्थिरताजनित चारित्र की कमजोरी का दोष है, मिथ्याव्य का दोष नहीं है। जबकि अज्ञानी ऐसा मानता है कि - ‘यह मेरा कार्य है, यह मैंने किया है, मैं इस कार्य को कर सकता हूँ।’ उसका ऐसा विपरीत अभिप्राय है, इसकारण वह निमित्कर्म कहलाता है।
समयसार गाथा २५०  

जीवनाध्यवसायस्य तद्विपक्षस्य का वातेंति चेतृः।
जो मण्णादि जीवेमि य जीविजामि य परेछि सतेछि ।
सो मूढो अणाणी गणाणी एतो दु विवरीदो। ॥ २५०॥
यो मन्यते जीवयामि च जीव्ये च परे: सत्वे: ।
स मूढोज्ञानी ज्ञायतस्तु विपरीतः। ॥ २५०॥

परजीवानहं जीवयामि, परजीवैजीव्ये चाहिमत्यध्यवसायो ध्रुवमञ्जानम्।
स तु यस्यार्थं सोज्ञानित्वान्मिथ्यालूप्तिः। यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात्
सम्यगदृष्टि:।

अब पुनः प्रश्न होता है कि ‘(मरण का अध्यवसाय अज्ञान है यह कहा
सो जान लिया; किन्तु अब) मरण के अध्यवसाय का प्रतिपक्षी जो जीवन का
अध्यवसाय है उसका क्या हाल है?’ उसका उत्तर कहते हैं –

में हूँ बचाता अन्य को मुझ्को बचावे अन्यजन।
यह मान्यता अज्ञान है जिनबर कहें हे भव्यजन। ॥ २५०॥

में पर जीवों को जिलाता हूं [ छ ] और [ परे: सत्वे: ] पर जीव [ जीव्ये छ ]
मुझे जिलाते हैं, [ स: ] वह [ मूढः ] मूढः (मोही) है, [ अज्ञानी ] अज्ञानी है,
[ तु ] और [ अतः विपरीत: ] इससे विपरीत (जो ऐसा नहीं मानता किन्तु
इससे उल्टा मानता है) वह [ ज्ञानी ] ज्ञानी है।

टीका – ‘परजीवों को में जिलाता हूँ, और परजीव मुझे जिलाते हैं’
इसप्रकार का अध्यवसाय ध्रुवरूप से (अत्यन्त निर्ध्वचित रूप से) अज्ञान है।
जिसके यह अध्यवसाय है वह जीव अज्ञानीपने के कारण मिथ्यादृष्टि है; और
जिसके यह अध्यवसाय नहीं है वह जीव ज्ञानीपने के कारण सम्यगदृष्टि है।

भावार्थ – यह मानना अज्ञान है कि ‘परजीव मुझे जिलाता है और में पर
को जिलाता हूँ’। जिसके यह अज्ञान है, वह मिथ्यादृष्टि है तथा जिसके यह
अज्ञान नहीं है, वह सम्यगदृष्टि है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com
गाथा २५० की टिका एवं भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ कोई कह सकता है कि यदि किसी को मारने-बचाने का भाव धुतपने अज्ञानमय अध्यवसाय है तो फिर दीन-दुःखियों पर दया करनी चाहिए या नहीं?

उसकी इस शंका का समाधान यह है कि वस्तुतः तो जब कोई किसी को मार या बचा नहीं सकता तो कौन किस पर दया करे? परन्तु, पर की दया का भाव तो ज्ञानियों को भी आता है, पर उनकी दया से किसी संरक्षत हुए जीव को जीवनदान नहीं मिल सकता; क्योंकि जिसकी आयु समाप्त हो गई, उसे कोई दया करके अपनी आयु नहीं दे सकता — यह अकादमिक सिद्धांत है।

पिछली गाथा में ज्ञानी की बात कही थी कि — जब ज्ञानीजीव स्वरूप में लीन होकर ध्यान दशा में होता है, तब उसे ऐसा विकल्प ही नहीं होता कि — में किसी जीव की रक्षा करें, बचाएं; किन्तु जब वह ध्यान में बाहर आता है — तब प्रमादवश यदा-कदा ऐसे निर्धक्क विकल्प करने लगता है कि ‘मैंने अमुक को जीवनदान दिया।’ परन्तु उस समय भी उसकी श्रद्धा बराबर यही रहती है कि में किसी जीव को मार या बचा नहीं सकता। मारने या बचाने के विकल्पों के समय भी उसकी ऐसी ही मान्यता है कि इन जीवों की आयु शेष होने तो ही बच्चें और आयु पूर्ण हो चुकी होंगी तो ही मरेंगे। में या मेरा विकल्प तो निमित्त मात्र होगा।

यद्यपि ज्ञानियों को भी पर को बचाने, जीवनदान देने, उनकी रक्षा करने का भाव आता है। अंतरंग से ऐसे विकल्प उठते हैं। मुनिराजों को भी छहकाय के जीवों की रक्षा का विकल्प होता है, परन्तु ये विकल्प चारित्रमोहजनित अस्थिरता के कारण होते हैं; पर वे ऐसा नहीं मानते कि ये जीव ये भर करण जीवित रहेंगे। जीवों का जीवन-मरण तो उनकी अपनी समय-समय की स्वतंत्र योग्यता से होता है और ज्ञानियों एवं मुनिराजों को जो विकल्प आता है, वह उनकी स्थिति में या जीवित रहने में निमित्त मात्र है।
अहा ! ‘मैं पर जीवों का जीवनादाता, पालनहार, रक्षक एवं पर जीव डॉक्टर आदि मेरे जीवनादाता हैं’ – ऐसा अध्यवसाय निरिच्छतरूप से अज्ञात है। जो वैद्य व डॉक्टर तत्त्वज्ञान से अनिवज्ज होते हैं, वे भले ऐसा मानें; पर तत्त्वज्ञानी–आत्मज्ञानी व्यक्ति ऐसा नहीं मानते। भाई ! यह वस्तुस्वरूप है। ऐसा नहीं है कि डॉक्टर, वैद्य या ओपनियाँ आदि किसी मर्दे प्राणी को बचा सकें।

प्रश्न – जीवन्दया और अहिंसा तो जीव का कर्तव्य है, धर्म है; अतः परजीवों की रक्षा तो हमें करनी ही चाहिए न? इसके बिना हमारे दया–धर्म का पालन कैसे होगा?

उत्तर – भाई ! जीवन्दया – अहिंसा जीव का स्वभाव है, धर्म है; यह तो बराबर है। पर अहिंसा का अर्थ क्या? जीवन्दया का अर्थ क्या? अहिंसा अर्थात् स्व के आश्रय से अपने में राग की उत्पत्ति ही न होने तथा वीरताग पर्याय की उत्पत्ति करना। इसका नाम अहिंसा है और यही वस्तुतः स्वदया है, जीव दया है। अहिंसा धर्म है, वह आत्मस्वरूप है, राग रूप नहीं। दया भी धर्म है, पर जब वह स्वदयारूप हो।

पर की रक्षा का भाव एवं पर के ऊपर करणाबुद्धि – ये रागरूप होने से पुण्य वस्त्र के कारण तो हैं, पर धर्म नहीं। धर्म तो एकमात्र वीरताग स्वभावरूप ही होता है। अन्य दात से ‘स्व’ पर अन्तं क्रोध किया; अन्तं दृष्टि किया। तभी तो अपनी बात भी आज तक न सुनिय, न समझी। अरे ! अपने आत्मा की सुचि ही सच्ची स्वदया है और वही दया वस्तुतः धर्म है।

बाकी, पर की दया तो इस जीव ने अनंतबार की और उसके फल में अनेक बार स्वार्थगति भी खाई, पर उससे आत्मा का कल्याण नहीं हुआ। आत्मा स्वयं शुद्ध चिदानन्दनद्वारस्वरूप प्रभु, अखण्ड, एक, ज्ञातवभावस्वभावी–वीरतागस्वभावी त्रिकाली धृतु है। उसका आश्रय करके उसी में स्थिर रहने–ठहरने–रमने का नाम ही स्वदया एवं निश्चय अहिंसा है और यही परमधर्म है।

स्वदया करना तो आत्मा का स्वभाव है, परंतु पर की दया पालना आत्मा का स्वभाव नहीं है। जीव की आयु जो कि स्पष्ट पर है, उसे स्वयं का कर्तृत्व
मानना महा विपरीतता हुई। पर को अपना मानना तथा उसे जीवित रखने या रक्षा करने के शुभराग को अपना स्वभाव मानने में तो अपने त्रिकाली चैतन्यस्वभाव का निरेश्व हो जाता है और यह वस्तुः हिंसा ही है।

अहा ! जीव स्वयं सचिवालयस्वरूप भगवान है, उसे वैसा न मानकर तथा राग को अपना स्वभाव मानना — यह सब हिंसा है; क्योंकि ऐसी मान्यता में अपना यात होता है। अरे ! मैं पर की रक्षा करता हूँ — ऐसे अभिप्राय का सेवन करके अज्ञानी ने अनादि से आत्माधात ही किया है।

एकमात्र वीतरागी अहिंसा ही मुक्ति का मार्ग है। मैं पर को बचा सकता हूँ; पर की रक्षा कर सकता हूँ; पर को जीवनदान देना मेरा धर्म है — ऐसा जो मानता है, वह मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि पर को मारना या बचाना, सुखी या दुःखी करना, किसी के हाथ में है ही नहीं। सभी जीव अपने-अपने पुण्य-पापानुसार या ज्ञान-अज्ञान के अनुसार सुखी-दुःखी होते हैं। तथा अपने आयु कर्म के निमित्र से जीते-मरते हैं।

प्रश्न — यदि ऐसा है तो दयाधर्म क्या है?

उत्तर — अहा ! आत्मा का स्वभाव तो त्रिकाल शुद्ध ज्ञानान्दस्वभावी, वीतराग-स्वभावी व दयास्वभावी ही है और उसमें अन्तर्भूत रहने से परिवर्त भी गाँ होने से चैतन्य की जो निर्मल परिणति-वीतराग परिणति की उत्पत्ति होती है, वस्तुः तो यही दयाधर्म है। परन्तु ऐसा दयाधर्म सम्पूर्णता-ज्ञान धर्मात्मा जीवों के होता है, अज्ञानी के नहीं।

हाँ, विकल्प के कारण सम्पूर्णतियों को पर की रक्षा का भाव भी होता है; तथापि उनकी श्रद्धा में ऐसा भाव नहीं होता कि — मैं पर की रक्षा कर सकता हूँ। अर्थात् ऐसा अहं भाव नहीं होता कि मैं किसी अन्य को बचा या मार सकता हूँ या सुखी-दुःखी कर सकता हूँ। उन्हें तो ऐसा पक्का श्रद्धान है कि पर जीव का जीवन-मरण तो उसकी योग्यता से, उसकी आयु के उदय या क्षय के कारण होता है; उसमें मेरा कोई कर्तृक्त नहीं है। मैं तो निमित्त मात्र हूँ।
अहा! धर्म पुरुष को पर के दुःख व मरण को देखकर मन में जो उनकी दया का विकल्प हुआ एवं तत्समय जो रक्षा करने रूप वचन व काय की क्रिया हुई, वह तो उसका भी मात्र दृष्टा रहता है , कर्त्ता नहीं बनता। ऐसी स्थिति में वह पर के जीवन-मरण का कर्तृत्व कैसे स्वीकार कर सकता है ? पर की दया पालने का अभिप्राय तो स्पष्ट मित्यादत है। वीतारागमार्ग की ऐसी अद्भुत बात सबज्ञ परस्मेशर के सिवाय अन्यत्र कहीं भी नहीं है।

मैं स्वयं निर्मलानन्द का नाथ अनन्त शक्तियों का भंडार सचिदानन्दस्वरूप भगवान हूँ; पर अनादिकाल से अपने उस निज स्वरूप को भूलकर मैंने स्वयं को अनन्त दुःखों में डाल रखा है। अपने स्वरूप की पहचान कर, निजात्मा की प्रतीति कर, उसी में एकाग्र होना ही स्वदया का सच्चा स्वरूप है। निज भगवान आत्मा को भवसागर से निकालने का उपयोग उपयोग करना ही वस्तुः स्वदया है। यह दया ही सच्चे सुख की खान है। ऐसी दया धारण करके ही अनन्त जीव मुक्त हुए हैं। शुभोपयोगस्वरूप परदया से आज तक न कोई मुक्ति को प्राप्त हुआ है न कभी होगा।

भाई! पर जीव की वर्ण न कोन उत्पत्त कर सकता है? उसे कौन दाल सकता है? उसका कौन व्याप कर सकता है? जब उत्पाद-व्याप-धौल्य द्रव्य का अपना स्वभाव ही है तो फिर पर का जीवन-मरण कौन कर सकता है?

देखो, अहिंसा महात्मा में मुनिराजों को भी पर जीवों की रक्षा का विकल्प आता है, तभी तो वे समर्थियों का पालन करते हैं। ज्ञानी धर्मात्मा जब-जब अपने स्वरूप में स्थिर नहीं होते; तब-तब प्रमादवशं असिध्यता के कारण भूमिकानुसार परजीवों की रक्षा का विकल्प भी आता है - यह जुदी बात है। परंतु वे इन शुभ विकल्पों को अपना कर्त्ताव्य नहीं मानते; बल्कि पुनःपार्थ की कमजोरी मानते हैं। इसकारण वे जब अपने इन विकल्पों के भी कर्त्ता नहीं बनते तो पर के जीवन-मरण एवं सुख-दुःख के कर्त्ता बनने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

प्रश्न - आपका यह कहना ठीक है, पर वे निमित्त तो हुए न?
उत्तर – अरे भाई ! निमित्त होने का यहाँ प्रश्न ही कहाँ है ? जब उपादान की योग्यता से प्रत्येक पर्याय अपने से अपने में ही होती है तब समीपस्थ जीवों का जो/जैसा विकल्प होता है, उसे निमित्त कहा जाता है। दोनों के होने का मात्र समकाल है। जब इस जीव की आयु शेष होती है, तभी समीपस्थ जीव को ऐसी ‘परदयारूप’ भावना होती है; ऐसा ही शुभ विकल्प होता है कि ‘मैं इसे बचा लूँ, मरने न दूँ। यह मेरे पैर के नीचे न आ जावे। आदि ……।’

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उसके शुभ विकल्प से ही अमुक जीव बचा है, अन्यथा मर ही जाता। ऐसे बचाने के विचार द्वारा निमित्त बनने की चेष्टा करना तो कर्तापने की मान्यतारूप अज्ञान ही है।

अहा ! शैली तो देखो ! गांग रहित वीरग भिन्नतिरूप अहिसा ही परमधर्म है। इसके सिवाय परजीव की दंड के रागरूप विकल्प को वास्तविक अहिंसारधम मानना मिथ्याल मैं है।

सारांश यह है कि सम्प्रमुख्त जीव को जब पर की ओर लक्ष्य जाता है तब ऐसा भाव आता है कि ‘मैं पर को बचाओ, रक्षा करूँ, अभयदान दूँ।’ पर उसी समय उसके अन्तरंग में ऐसा दृढ़ निश्चय रहता है कि मैं किसी का जीवनदाता, सुख-दुःखदाता नहीं हूँ। मैं पर को अभयदान दे ही नहीं सकता। इनका जीवन तो इन्हीं के कारण है। मेरा विकल्प तो उनकी रक्षा में निमित्त मात्र है, कर्ता नहीं।’ जो ऐसा यथार्थ जानता है, वह सम्प्रमुख्त है। •
समयसार गाथा २५१-२५२

कथमयमध्यवसायोज्ञाननिति चेतुः

आयुर्दयेन जीवति जीवो एवं भणांति सच्चादेहुः।
आउं च एक देसि तुम हङ ते जीविनं कडं तेसिं। ॥ २५१॥
आयुर्दयेन जीवति जीवो एवं भणांति सच्चादेहुः।
आउं च एक दिशि तुहं कडं पु ते जीविनं कडं ते हिं। ॥ २५२॥
आयुर्दयेन जीवति जीव एवं भणांति सर्वज्ञाः।
आयुर्वेच न ददासि तवं कथं त्या जीवितं कृंतं तेशाम्। ॥ २५३॥
आयुर्दयेन जीवति जीव एवं भणांति सर्वज्ञाः।
आयुर्वेच न ददासि तथं कथं नु ते जीवितं कृंतं तैः। ॥ २५४॥

जीवितं हि तावज्ञीवान ज्ञानसुः कर्मोदयेनैव, तदूः भौवे तस्य भावयतु्रभावयत्वताः; स्वायुः कर्म च नान्यन्यन्यन्य दांतु शक्यं, तस्य स्वपरिभाषापनैव उपार्थ्यमाणमाण्यताः; ततो न कथंचनापि अन्योजन्यस्य जीवितं कुर्यात्। अतो जीवयामि, जीवे चेत् ध्यमयसायो ध्रुवमज्ञानम्।

अब यह प्रसन होता है कि यह (जीव का) अध्यवसाय अज्ञान कैसे है?

इसका उत्तर कहते हैं :-

सब आयु से जीवित रहें - यह बात जिनवर ने कही।
जीवित रखोगे किसतरह जब आयु दे सकते नहीं?
सब आयु से जीवित रहें यह बात जिनवर ने कही।
कैसे बचाये वे तुझे जब आयु दे सकते नहीं?

गाथार्थ : - [ जीवः ] जीव [ आयुर्दयेन ] आयुकर्मके उद्दय से
[ तवं ] तू [ आयुः च ] पर जीवोन का आयुकर्म तो [ न ददासि ] नहीं देता
[ त्या ] तो (हे भाई !) तूने [ तेशाम् जीवितः ] उनका जीवन (जीवित रहना)
[ कथं कृंतं ] कैसे किया?

[ जीवः ] जीव [ आयुर्दयेन ] आयुकर्म के उद्दय से [ जीवितः ] जीत है
[ एवं ] ऐसा [ सर्वज्ञः ] सर्वज्ञदेव [ भणांतः ] कहते हैं; पर जीव तवं तुझे
[आयु: च] आयुर्कर्म तो [ न ददति ] देते नहीं हैं [ तैः ] तो (हे भाई !) उन्होंने [ ते जीवित] तेरा जीवन (जीवित रहना) [कथ्य नु कृतं] कैसे किया?

टीका - प्रथम तो, जीवों का जीवित रहना (जीवन) वास्तव में अपने आयुर्कर्म के उदय से ही है; क्योंकि अपने आयुर्कर्म के उदय के अभाव में जीवित रहना असंग्रह है और अपना आयुर्मर्म दूसरे से दूसरे को नहीं विया जा सकता, क्योंकि वह (अपना आयुर्कर्म) अपने परिणाम से ही उपार्जित होता है; इसलिए किसी भी प्रकार से कोई दूसरे का जीवन नहीं कर सकता। इसलिए 'में पर को जिलाते हूं और पर मुझे जिलाता है' इसप्रकार का अध्यवसाय ध्वस्तरूप से (नियतरूप से) अज्ञान है।

भावार्थ - पहले मरण के अध्यवसाय के सम्बन्ध में कहा था, इसप्रकार यहाँ भी जाना।

गाथा २५१-२५२ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

टीका के प्रारंभिक बोल में जो यह लिखा है कि 'जीवों का जीवित रहना वस्तुतः अपने-अपने आयुर्मर्म के उदय से ही होता है' इस कथन में से लोकिकजन प्रायः यह अर्थ निकलते हैं कि देखो ! शास्त्र में स्पष्ट लिखा है कि जीव आयुर्मर्म से ही जीवित रहता है'।

इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य यहाँ कहते हैं कि अरे भाई! यह तो निम्न अपेक्षा किया गया कथन है। वस्तुतः तो दूसरा कोई त्रय्य किसी को जीवित रखे - ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं है। यहाँ इन गाथाओं में यही वस्तु का स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयत्न है। आयुर्मर्म की निमित्तता का ज्ञान कराकर यह सिद्ध किया है कि 'अन्य जीव तो किसी अन्य के प्राण हरण करने में यथार्थ निमित्त भी नहीं है।' अतः यह मानना छोड़ दे कि में किसी को मार सकता हूँ या बचा सकता हूँ।

वस्तुस्वरूप की ओर से देखा जाये तो आयुर्मर्म भी जड़ है, वह भी जीवों को जीवित रखने में अकंचित्कर ही है। जब दो भिन्न-भिन्न द्रव्यों में
अत्यन्ताभाव पड़ा है तो एक-दूसरे में क्या कर सकते हैं? जब दोनों वस्तुएँ ही भिन्न-भिन्न हैं तो कर्म जीव का क्या करे, कैसे करे; आखिर करे भी क्यों?

जीव को इस जड़ शरीर में रहना है, पर इसका शरीर में रहना भी अपनी स्वतन्त्र योग्यता से होता है, शरीर या कर्म के कारण नहीं। आयुकर्म के कारण रहता है - ऐसा जो शास्त्रों में कहा है तो वह तो निमित्त की मुख्यता से किया गया व्यवहार का कथन है।

जीव को वह समझा पड़ेगा कि वस्तु का स्वरूप क्या है, स्वयं कौन है, यह कारण-कार्य व्यवस्था कैसी है, तथा जिनवाणी में कथन के विभिन्न प्रयोग किस-किस प्रकार के होते हैं?

भगवान! तू मैं चिदानन्दन प्रभु एक चैतन्य स्वरूप है न? शुद्ध चैतन्य प्राणों से सदा जीवित चैतन्य का पिण्ड प्रभु है न? सर्वसत्तासम्पन्न आत्मप्रभु को अन्य कौन जीवित रखे?

जो शुद्धप्राणी ऐसा अहंकार करते हैं कि ‘हमने बचाया या हम मार सकते हैं’ उनका यह अहंकार तोड़ने के उद्देश्य से जिनवाणी में ऐसा कथन आता है कि ‘जब तू किसी को आयु दे नहीं सकता तो तूने जीवनदान कैसे दिया? और जब तू किसी का आयुकर्म छीन नहीं सकता तो तूने किसी को कैसे मारा? जीव के जीवन व मरण में तथा मुखी-दु:खी होने में तथा स्वयं जीव के आयुकर्म व साता-असाता कर्म निमित्त हैं। तू तो निमित्त भी नहीं है। अत: तेरा अहंकार मिथ्या है।

यहाँ निमित्त से कथन करके निमित्त का कर्मस्व विद्ध नहीं करना है, बल्कि अन्य कोई जीव, कर्म या नोकर्म किसी को मार/बचा नहीं सकता, मुखी/दु:खी नहीं कर सकता - ऐसा पर के अहंकार-ममकार व कर्मस्व छुड़ाने के पवित्र उद्देश्य से यह निमित्त का कथन किया है।

देखो, कैसी गजब की शैली है। कहा है कि ‘जीवों का जीवन वास्तव में अपने आयुकर्म के उदय से ही है।’ इस शैली के अभिप्राय को यथार्थ समझे...
बिना अज्ञानी जीव भ्रमित हो जाते हैं, अतः अपने पूर्व आग्रह को छोड़कर अत्यन्त जिज्ञासा से कथन के यथार्थ भाव को ग्रहण करना चाहिए।

देखो, 'अपना आयुकर्म' इसका अर्थ क्या? क्या आयुकर्म जीव का है? आयुकर्म तो स्पष्ट जड़रूप है। फिर भी अपना जो कहा, उसका प्रयोजन तो केवल संयोग का व निमित्त का कथन करना है। तथा 'आयुकर्म के उदय से ही' - ऐसा जो कहा है, उसका यह अर्थ कदापि ग्रहण नहीं करना कि सुख-दुःखादि कर्म से ही होते हैं। भाई! ऐसा कथन से बस इतना समझना कि जब भी जीवन-मरण होगा या सुख-दुःख होगा तब आयु अर्थात् आयुकर्म का उदय आदि ही नियम से निमित्त रूप होता है। अन्य किसी प्रकार के निमित्त होने का नियम नहीं है। आत्मा या जीव तो अपनी योग्यता से ही देख में रहता है। आयुकर्म तो मात्र निमित्त है।

अहा! 'में अन्य जीवों को जीतित रख सकता हूँ, उनका पालन-पोषण करता हूँ, उनका जीवन-निर्वाह करता हूँ, स्त्री-पुत्र परिवार आदि सबका जीवनमात्र, संस्कृति आदि हूँ' - ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है, अज्ञान है। यह सिद्ध करने के लिए यह कहा है कि जीवों का जीवन वस्तुत: अपने-अपने आयुकर्म के उदय के कारण ही है।

आगे कहा है कि 'अपने आयुकर्म के उदय के अभाव में जीतित रखना भी असंभव है' यदि अपना आयुकर्म शोष न हो, श्रीण हो गया हो तो अन्य कोई बड़े से बड़े वैद्य-डॉक्टर जीतित रखने में समर्थ नहीं है। जबतक अपना आयुकर्म हो, तभी तक हम जीवित रह सकते हैं।

यदापि आयुकर्म जड़ है फिर भी इसे जीव का कहा सो यह सब कथन निमित्त का ज्ञान कराने के लिए कहा है।

अब आगे कहते हैं कि 'तथा अपना आयुकर्म एक से दूसरे को दिया नहीं जा सकता; क्योंकि अपने-अपना आयुकर्म अपने-अपने परिणामों से ही उपार्जित होता।' लौकिक लोकोकर्तियों में जो आयु देने की बातें प्रचलित हैं, वे तो बालकथाएं हैं जो बालकों को समार्थ पर लगाने के प्रयोजनवास
कथाकारों द्वारा कल्पित कथाओं के रूप में लिख दी जाती हैं। उन्हें अक्षरशः सत्य नहीं समझना चाहिए। कथाओं का तो स्वरूप ही कल्पित होता है। उन्हें तो प्रयोजन पुरा ही सत्य कहा जाता है। अपना आयुकर्म तो कोई किसी को दे ही नहीं सकता।

ज्ञेय आयुकर्म जो बंधता है, वह तो जड़ पुद्राण का परिणाम है और उसमें असकाल में जीव का परिणाम निमित्त होता है। इस भव के पहले पूर्वभाव में जो आयुकर्म बंधा वह अपने-अपने परिणाम से ही बंधा है।

भगवान! तू तो आत्मा है न? प्रभु! तेरे जो परिणाम आयुकर्म के बंधने में निमित्त होते हैं, वे परिणाम भी वस्तुः तेरी (चेतन्य की) जाति के नहीं है; क्योंकि वे बंध के परिणाम हैं।

आत्मा शुद्ध ज्ञानन्दस्वरूप प्रभु है; पर इसने अज्ञातपने में जो विकारी परिणाम किए, उनके निमित्त से आयुकर्म की स्थिति बंधी - ऐसा दोनों में सहज निमित्त - नैमित्तिक सम्बन्ध है। आयु कर्म के बंध के योग्य अपने जो परिणाम हुए वे निमित्त और आयुकर्म जो बंधा, वह नैमित्तिक है। इस प्रकार निमित्त के सम्बन्ध से हुई दशा-पर्याय को नैमित्तिक कहते हैं। ‘निमित्त से नैमित्तिक हुआ’, यह कहना व्यवहार कथन है।

जो नयविभाग नहीं समझते और अपनी हठ करते हैं, उनकी तो होनहार हो खोटी है; उनसे क्या चर्चा की जाए? शासनों में तो कदम-कदम पर व्यवहार का कथन आता है कि जहाँ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ऐसा व्यवहार कथन हो, उस कथन की अपेक्षा को अन्य सब समझना चाहिए। उसका अभिप्राय समझें विना सत्य समझना संभव नहीं है।

निश्चय की अपेक्षा जब वस्तुस्वरूप का विचार करते हैं तो वास्तविकता यह है कि कर्म आत्मा के नहीं हैं और जीव के परिणामों में से कर्म उत्पन्न नहीं होते।
भाई! बीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग कोई अलौकिक है। जिसको नया का वास्तविक ज्ञान न हो, उसे यह बात नहीं बैठ सकती। यद्यपि शास्त्रों में सब प्रमाण मौजूद हैं, पर उनका वहाँ क्या प्रयोजन है? यह बराबर समझना चाहिए।

प्रश्न — ‘अपना आयुक्तम अपने परिणाम से ही उपार्जित होता है’ यह कह कर क्या सिद्ध करना चाहते हैं?

उत्तर — इस कथन का यह प्रयोजन है कि एक दूसरे को अपना आयुक्तम नहीं दे सकता अर्थात् किसी भी प्रकार कोई किसी को — एक-दूसरे को जीवित नहीं रख सकता; क्योंकि आयुक्तम का बंध अपने परिणाम से ही होता है।

इससे सिद्ध है कि पर को बचाने-मारने का अध्यवसाय-मिथ्या-अभिप्राय निषिध रूप से अज्ञान है। यहाँ अध्यवसाय का अर्थ केवल राग नहीं लेना, बल्कि राग की एकतावुद्दिवाला मिथ्या अभिप्राय लेना। वह अध्यवसाय ही संसार का कारण है, बंध का कारण है।

भावार्थ पर प्रवचन

आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभावी है। राग का एवं पर का कर्त्तव्य उसके स्वभाव में है ही नहीं। जिसे अपने इस ज्ञानानन्द स्वभाव का भान हुआ, वह धर्मवीज कर की क्रिया को परस्पर जानता है। ‘पर की क्रिया में कर सकता हूँ’ — ऐसा नहीं मानता। स्वयं में जो शुभाशुभ भाव होते हैं, उनमें भी वह अपना कर्त्तव्य नहीं मानता। मात्र उनका ज्ञात रहता है; क्योंकि ज्ञाता-दृष्टा (अकर्षा) रहना ही आत्मा का स्वभाव है और वह अपने स्वभाव का अवलम्बन लिए रहता है। यद्यपि ज्ञानी के भी प्रमादवश दूसरों को मारने-बचाने के विकल्प तो हुआ करते हैं; परन्तु उनके अभिप्राय में दूसरों को मार सकने व बचा सकने का मिथ्या अहंकार नहीं होता। जो विकल्प आते हैं, उनका भी वह ज्ञाता-दृष्टा रहता है। उसे ऐसी अटूट श्रद्धा होती है कि ‘जबतक जीवों की आयु शेष है व यात्रा का उदय है तबतक उन्हें कोई मार नहीं सकता, दु:खी नहीं कर सकता।’
भाई! ज्ञानी जीव बस यही सिद्धान्त लक्ष्य में रखता है कि ‘प्रत्येक द्रव्य की पर्याय अपने क्रमबद्ध रूप से स्वस्थान में होती है।’ इससे उसके सम्पूर्ण कर्तृत्व का मिथ्या अभिमान नष्ट हो जाता है और समता व शान्ति का अनुभव होता है। बस यही धर्म है, यही समाधि है।

पहले ज्ञानीकार मरण के अध्यवसाय के सम्बन्ध में कहा है, उसीप्रकार जीवन के सम्बन्ध में व सुख-दुःख के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए। वस्तुतः कोई किसी को न मार सकता है, न बचा सकता है, न रक्षा कर सकता है। फिर भी ऐसा मानना कि ‘मैंने रक्षा की, पालन-पोषण किया, अथवा मैं चाहूँ तो सुखी-दुःखी कर सकता हूँ’ यह अज्ञान है; मिथ्या अध्यवसाय है।

हाँ, अमूक के द्वारा मारा गया, रक्षित किया गया, सुखी या दुःखी किया गया – ऐसा व्यवहार का कथन निमित्त का ज्ञान कराने की अपेक्षा तो सत्य है, पर ऐसा मानना मिथ्यात्व है। यह यथार्थ समझान चाहिए।
समयसार गाथा २५३

दुःखमुक्तकरणाध्यवसायस्यापि एवं गति –

जो अप्पणा दु मण्णादि दु:खितसुखित्तर्क्षनम् करोमि सत्ते ति ।
सो मूढो अप्पणादु भाषाभिच्छ एतो दु विवरीदो ॥ २५३ ॥
य आत्मना तु मन्यते दुःखितसुखित्तर्क्षनम् करोमि सत्तानिति ।
स मूढोजानी ज्ञानांतस्तु विपरीत: ॥ २५३ ॥

परजीवानं दु:खितानु सुखितांश्च करोमि, परजीवेतु:खित: सुखितांश्च क्रियेअभिमित्यध्यवसायो धुममृतानमू। स तु यस्यांति सोऽज्ञानित्वाभिमित्यध्यवसाय:। यस्य तु नासित स ज्ञानित्वाभिमित्यध्यवसाय:।

अब यह कहते हैं कि दुःख–सुख करने के अध्यवसाय की भी यही गति है –

में सुखी करता दुःखी करता हूं जगत में अन्य को ।
यह मान्यता अज्ञान है क्यों ज्ञानियों को मान्य हो ？॥ २५३॥

गाथार्थ – [ यः ] जो [ इति मन्यते ] यह मानना है कि [ आत्मना तु ]
अपने द्वारा[ सत्तान् ] में (पर) जीवोऽको [ दुःखितसुखितानु ] दुःखी–सुखी
[ करोमि ] करता हूँ, [ सः ] वह [ मूढः ] मूढ (मोही) है, [ अज्ञानी ]
अज्ञानी है, [ तु ] और [ अतः विपरीतː ] जो इससे विपरीत है वह [ ज्ञानी ]
ज्ञानी है।

टीका – ‘परजीवों को में दुःखी तथा सुखी करता हूँ और परजीव मुझे
दुःखी तथा सुखी करते हैं’ इसप्रकार का अध्यवसाय ध्रुवरूप से अज्ञान है।
वह अध्यवसाय जिसके हैं, वह जीव अज्ञानीपने के कारण मिथ्यादृष्टि है और
जिसके वह अध्यवसाय नहीं है, वह जीव ज्ञानीपने के कारण सम्यगदृष्टि है।

भावार्थ – यह मानना अज्ञान है कि ‘में परजीवों को दुःखी या सुखी
करता हूँ और परजीव मुझे दुःखी या सुखी करते हैं।’ जिसे यह अज्ञान है, वह
मिथ्यादृष्टि है और जिसके यह अज्ञान नहीं है, वह ज्ञानी है – सम्यगदृष्टि है।
गाथा २५३ पर प्रवचन

इस गाथा में मुख्यः पर को सुखी-दुःखी करने-कराने के मिथ्या अहंकार करने वालों को अज्ञात ठहराया है। आचार्य कहते हैं कि जो ऐसा मानता है कि ‘में पर जीवों को प्रतिकूल संयोग जुटाकर दुःखी कर सकता हूँ और अनुकूल संयोग मिला कर सुखी कर सकता हूँ’ वह अज्ञात है, मूढ़ है।

प्रश्न - यदि यह सब अज्ञात है तो फिर अपनी बेटियों के लिए अच्छे घर-वर का चुनाव करना कि नहीं? गरीबों को आर्थिक योगदान देना कि नहीं? बीमारों के लिए अस्पताल एवं दवाई की व्यवस्था करनी-करानी कि नहीं? ऐसे और भी अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं, उनकी क्या समाधान है?

उत्तर - अरे भाई! कौन किसको देता है या दे सकता है? हम-तुम तो केवल विकल्प मात्र करते हैं। जो भी आदान-प्रदान होता है, वह सब अपनी-अपनी तत्समय योग्यता से होता है। अपने-अपने कारण से लेना-देना होता है। भाई! तेरी यह मान्यता ही मिथ्या है कि ‘में देता हूँ या दे सकता हूँ।'

भाई! सभी जीवों के अपने-अपने अनारंग पूण्य-पाप के निमित्त से अनुकूल-प्रतिकूल समाग्री मिलती है। कोई किसी को कुछ दे सके - यह वात त्रिकाल में कभी संभव ही नहीं है; क्योंकि ऐसी वस्तु की स्थिति ही नहीं है।

प्रश्न - क्या ऐसी कोई परोक्ष-अदृश्य ईश्वरीय शक्ति है जो जीवों को उनके कर्मों के अनुसार सुख-दुःख देने की व्यवस्था करती हो?

उत्तर - भाई! जैनदर्शन के अनुसार तो ऐसी कोई अदृश्य (ईश्वरीय) शक्ति या व्यवस्थापक नहीं है जो यह सब करता हो। जैनदर्शन तो परमाणु को भी सर्वशक्ति सम्पन्न मानता है। प्रत्येक परमाणु में एक सम्प्रदान नाम का गुण है, जिसके कारण वह स्वयं ही स्वयं को देता है और स्वयं ही स्वयं से स्वयं के लिए लेता भी है। भाई! तत्वदृष्टि बहुत सूक्ष्म है। इन पौद्गालिक परमाणुओं में भी कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान-अधिकरण (शटकारक) रूप शक्ति है। अहा! प्रत्येक पदार्थ में जो समय-समय पर्याय होती है, वह उसके
स्वयं के परम्पराक से ही होती है। पर से न परमाणु की कोई क्रिया होती है और न जीवों की ही कोई क्रिया पर के कारण होती है।

प्रश्न - परमाणुओं को तो कुछ ज्ञान ही नहीं है। वे तो जड़ है, अचेतन हैं; वे स्वत: परिणाम कैसे कर सकते हैं?

उत्तर - अरे भाई! परिणाम करने के लिए ज्ञान की क्या जरूरत है? परिणाम करना-कराना तो पदार्थ की क्रियावती शक्ति का काम है। क्रियावती शक्ति के कारण प्रत्येक पदार्थ में प्रति समय परिणाम हुआ ही करता है। चाहें वह चेतन हो या अचेतन। परिणाम करना तो प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है।

उपयुक्त कथन से दो सिद्धांत फलित होते हैं। प्रथम तो यह कि ‘जीवों के सम्पर्क में आये हुए प्रत्येक परमाणु में जिस काल में जो परिणाम होना था, वही हुआ और स्वयं के कारण से ही हुआ।’ ऐसा निर्णय होने से ‘में परजीवों को अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री देता हूँ व सुखी-दुःखी करता हूँ’ - ऐसा अध्यवसाय या अज्ञानभाव समाप्त हो जाता है। और दूसरा यह कि ‘मुझे जो मेरे सम्पर्क में आये जीवों को सुखी-दुःखी करने का विकल्प हुआ, वह विकल्प भी अपने काल में होना ही था; वह अपने क्रमबद्ध में स्वयं से ही हुआ है।’ ऐसा निर्णय होने पर अपनी दृष्टि सहज ही भगवान ज्ञात आता पर चली जाती है और स्वभाव का आश्रय होकर सम्मिलन उत्पन्न हो जाता है।

यद्यपि उस समय रागभाव भी रहता है, पर उस राग का कर्त्तव्य समाप्त हो जाता है तथा स्वयं में मात्र ज्ञाता-दृष्टापना रह जाता है। इसप्रकार निम्नांकित दो सिद्धांत फलित हुए।

एक तो यह कि ‘वस्तु में प्रत्येक परिणाम अपने स्वकाल में क्रमबद्ध ही होता है।’ तथा दूसरा यह कि – ‘स्व के आश्रय से ही धर्म प्राप्त होता है।’ भाई! यही वस्तुकी स्थिति है।

अहा! यहाँ कहते हैं कि परजीवों के प्रतिकूल सामग्री देकर दुःखी करता हूँ – यह मान्यता अज्ञान है, मिथ्यात्व है; क्योंकि प्रतिकूल सामग्री तो जीवों के अभ्यन्तर (अन्तरंग) पापक्रम के उदय से आती है। यद्यपि यह भी निमित
का ही कथन है; क्योंकि पापकर्म भिन वस्तु है और प्रतिकूल सामग्री भिन वस्तु है। दोनों भिन-भिन हैं, फिर भी निमित-नैमितिक सम्बन्ध तो है ही। अतः कर्म की अपेक्षा यह व्यवहार जिनानम में सर्वत्र मिलता है।

देखो, एक ओर पाप का उदय और उसी समय दूसरी ओर प्रतिकूल सामग्री का अपनी स्वच्छत्व की स्वतःतंत्र योग्यता से आना होता है; फिर भी दोनों का निमित-नैमितिक सम्बन्ध है। यह देखकर ऐसा कहा जाता है कि ‘पाप के उदय के कारण जीवों के प्रतिकूल सामग्री का योग मिलता है।’

इसीप्रकार यह अध्ययन भी अजान है कि में अन्य जीवों को आहार, पानी, औषधि आदि देकर सुखी करता हूँ; क्योंकि अनुकूल सामग्री तो पुण्योदय से आती है और अजानी यह मानता है कि मैंने सुखी किया।

भाई ! ‘अनुकूल सामग्री तो पुण्य के उदय से आती है’ - यह कहना भी निमित का कथन है; क्योंकि पुण्य का उदय व अनुकूल सामग्री दोनों भिन-भिन वस्तुएं हैं। हाँ, इतना सम्बन्ध अवश्य है कि जब जीव के पुण्य का उदय होता है, उसीकाल में अनुकूल सामग्री का आना भी होता है। यदापि दोनों अपने-अपने स्व-चुतुष्ट्र की योग्यता से होते हैं; फिर भी निमित-नैमितिक सम्बन्ध तो है ही। ऐसा निमित-नैमितिक सम्बन्ध देखकर व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि ‘पुण्योदय से अनुकूलता मिली, सुख हुआ।’

अहा ! वैद्यमा का निरालम्बी तत्त्व कैसा तर्कसंगत है। पर यह जिनवाणी का रहस्य अन्तरंग पुरुषार्थ से ही प्राप्त हो सकता है।

अहा ! ज्ञानी के द्रव्यतृप्ति है। अतः उसे यह दृढ़ निश्चय है कि ‘मैं स्वयं सूद्द ज्ञानानन्दस्वभावी सचिव्यादानन्द स्वरूप भगवान हूँ।’ तथा ज्ञानी को अपने ऐसे शूद्दस्वरूप का आश्रय वर्तता है। जब वह ध्यान दशा में होता है, तब तो उसे अन्य कोई विकल्प होता ही नहीं है; परन्तु जब अन्तर्ध्यान में नहीं होता तब उसे प्रभावदेव स्वरूप की अस्थिरता के कारण शुभाशुभ विकल्प भी आता है। ऐसी स्थिति में वह सोचता है कि ‘मैं अमुक को सुखी या दुःखी करूँ’
परन्तु उसे उस समय भी ऐसा अध्यवसान-अज्ञान नहीं है कि ‘मैं किसी को सुखी-दुःखी कर सकता हूँ.’ दूसरों को सुखी-दुःखी करने का मात्र विकल्प आता है; परन्तु उसकी ऐसी मान्यता नहीं है। बस ज्ञानी व अज्ञानी की मान्यता में यही तो सबसे बड़ा अंतर है।

ज्ञानी को जो पुण्य-पाप का परिणाम आता है। यद्यपि उसके निमित्त से उसको भी किंचित पुण्य-पाप बंधता है। परन्तु वस्तुतः तो ये जो विकल्प आते हैं और उनसे जो पुण्य-पाप बंधता है, ज्ञानी उनका भी ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है; वह उनका स्वामी नहीं बनता, दोनों को पर्यंत रूप ही जानता है।

आचार्य अज्ञानी से पूछते हैं कि जो तेरी यह मान्यता है कि ‘मैं अहार-पानी दे सकता हूँ, औषधि आदि देकर दूसरों को सुखी कर सकता हूँ, सो तू यह बता कि क्या तेरे अहारादिद पदार्थ तेरे चैतन्य स्वरूप में हैं? क्या तू इन जड़ पदार्थों का स्वामी है, जो तू इन्हें दूसरों को दे सके? अरे भाई! तू जुड़ा है और ये पदार्थ तुझे सर्वथा जुड़े हैं तथा इन पदार्थों को लेने वाला जीव भी तुम दोनों से जुड़ा है। जब सब जुदे-जुदे हैं तो कौन किसको देवे और कौन किससे लेवे?

प्रश्न – आपकी यह बात सिद्धान्तरूप से तो सत्य प्रतिष्ठा होती है, पर व्यवहार में कम से कम दुःखी जीवों के, गरीबों के आँसू तो पोछना चाहिए न?

उत्तर – अरे भाई! आँसू पोछने का विकल्प तो ज्ञानी को भी हो सकता है, पर उसे यह विवेक भी उसी समय है कि ‘कौन किसके आँसू पोछ सकता है?’ परद्रव्य में कोई क्या कर सकता है? यद्यपि यह बात अति सूक्ष्म है, पर ज्ञानी की दृष्टि से ओझल नहीं है। वह जानता है कि जब परमाणु-परमाणु अपने स्वकाल में पलटकर अपनी नियत पर्यायरूप से स्वयं परिणामित है, वहाँ दूसरा कोई क्या कर सकता है?

भाई! तत्त्व का विषय अतिपूर्ण है। अज्ञानी की स्थूल दृष्टि में यह तत्त्व को बात बैठना बहुत कठिन है। अज्ञानी की दृष्टि निमित्ताधीन होती है;
अतः वह सब जगह कर्म पर ही बल देता है। वह कहता है जो भी होता है, कर्म से होता है, निमित्त से होता है। उसे ध्यान में रखकर यहाँ आचार्य कहते हैं कि ऐसा अध्यवसाय जिसे है, वह अज्ञानीपने के कारण मिथ्यादृष्टि है? तथा जिसे ऐसा मिथ्या अध्यवसाय नहीं रहा, वह जीव ज्ञानीपन के कारण सम्यग्दृष्टि है। जगत में निमित्त-नैमितिक सम्बन्ध की मुख्यता से भले ही ऐसा बोला जाता है कि दूसरों को सुखी करना चाहिए, परोपकार करना चाहिए आदि। परस्तु ऐसा होना अर्थात् दूसरों को सुखी-दुःखी करना किसी के हाथ की बात नहीं है। इसकारण ज्ञानी को ऐसा मिथ्या अध्यवसाय नहीं होता।

अहा ! धर्मी-ज्ञानी की दृष्टि शुद्ध चैतन्यतत्त्व पर होती है। उसने अपने एक ज्ञायकभव, अकेले ज्ञानरस के कन्दस्वरूप आत्मा को अपना ध्येय बनाया है। उसे न तो पर का आलंबन है और न राग का ही आलंबन रहा है। इसकारण अब उसे ऐसा अध्यवसाय नहीं रहा कि ‘मैं किसी अन्य को सुखी-दुःखी कर सकता हूँ या अन्य कोई मुझे सुखी-दुःखी कर सकता है।'

परमाणु में भी प्रतिसमय जो पर्याय होती है, वह उसका जन्मक्षण है। प्रवचनसार के ज्ञेयअधिकार की १००वीं गाथा में यह बात आती है। वहाँ ऐसा कहा है कि जगत में जीव-अजीव आदि जितने ज्ञेय हैं, उनकी समय-समय जो पर्यायः होती हैं, वही उनका जन्मक्षण है, उन पर्यायों की उत्पत्ति का वही स्वकाल है। वे पर्यायः किसी अन्य के कारण नहीं हुई हैं। पूर्व की पर्यायः के कारण तो वे हुई ही नहीं हैं, किन्तु वे स्वयं के द्रव्य व गुण के कारण भी नहीं होतीं। ऐसी स्थिति में पर के कारण होने का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

जगत में जाति अपेक्षा छ: द्रव्य सर्वज्ञ भगवान ने देखे हैं; जो कि संख्या की अपेक्षा अन्तः हैं। जीव अन्तः, पुद्गल अनन्तः, एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाश व असंख्यात कालाणु। उन अन्तः द्रव्यों की जब जो अपने-अपने स्वसमय में पर्यायः होती हैं, वही उनका जन्मक्षण है। वही उनकी उत्पत्ति का काल है। इन्हें अन्य कोई उत्पन्न नहीं करता।
गाथा २५३ के भावार्थ पर प्रवचन

“में परजीवों को सुखी-दुःखी करता हूँ और परजीव मुझे सुखी-दुःखी करते हैं” - ऐसा मानना अज्ञान है। अहा! यह मिथ्या मान्यता ही संसार में रखड़ने का मूलभूत कारण है।

पंचास्तिकाय गाथा १३६ में आता है कि ‘जन्मार्गव में रखड़ते हुए प्राणियों को भूख-प्यास आदि से पीड़ित देखकर ज्ञानियों को करणापूर्वक ऐसा खेद होता है कि अरे ! यह जीव मिथ्यात्व के कारण भवार्षव में रखड़ता है।’

उससमय ज्ञानी अपनी भूमिकानुसार उसकी भूख-प्यास आदि को मिटाने की कोशिश तो करता है, पर अधीर नहीं होता; क्योंकि वह जानता है कि बाह्यक्रियाएँ अपने आधीर नहीं हैं; अपने अधीरकार में नहीं हैं। जबकि अज्ञानी ऐसा मानना बेढ़ा है कि ‘में ऐसा कर सकता हूँ, वैसा कर सकता हूँ’ वह ऐसी अज्ञानमय इच्छा द्वारा आकृतित होता है। अज्ञानी परद्वय की क्रिया में अपने कर्त्तव्य की मान्यता से आकृतित होता है।

प्रवचनसार गाथा ५५ में अज्ञान के तीन बोल आये हैं। एक – पदार्थ जैसे हैं उनको वैसा न मानकर पदार्थों का सत्यस्वरूप न मानकर उनके विषय में अन्यथा समझ; दूसरे – तिर्जुच्छों तथा मनुष्यों के प्रति करण भाव तथा तीसरे – विषयों की संगति। (इस्त्र विषयों में प्रति व अनिष्ट विषयों में अभिनति) – यही सब मोह के लक्षण हैं।

अहा ! तिर्जुच व मनुष्य मात्र प्रेक्षा योग्य हैं – केवल जानने-देखने के विषयभूत ज्ञय हैं – ऐसा न मानकर; में उनकी दया कर सकता हूँ – ऐसे तन्मयपने से दया का भाव-करणा का भाव अज्ञान है, मिथ्यात्व है। में तिर्जुच व मनुष्य के प्रति दया कर सकता हूँ, उन्हें सुखी-दुःखी कर सकता हूँ – ऐसी मान्यता अज्ञान है।

जिन्हें ऐसा अज्ञान है, वे मिथ्यावृद्धि हैं तथा जिन्हें ऐसा अज्ञान नहीं है; वे ज्ञानी हैं, सम्यगवृद्धि हैं – ऐसा ज्ञाना।
समयसार गाथा २५४ से २५६

कथमयमध्यवसायोज्ञानमित चेतुः
कम्मोदिता जीवा दुःखदसुहिदा हवांति जिद सब्ये।
कर्मष्ठ च ण देसि तुमं दुःखदसुहिदा कह कया तैः ॥ २५४ ॥
कम्मोदिता जीवा दुःखदसुहिदा हवांति जिद सब्ये।
कर्मष्ठ च ण दिशं तुहं करोसिस कहं दुःखदो तेहिः ॥ २५५ ॥
कम्मोदिता जीवा दुःखदसुहिदा हवांति जिद सब्ये।
कर्मष्ठ च ण दिशं तुहं कहं तं सुहिदो करो सेहिः ॥ २५६ ॥

cर्मोदिता जीवा दुःखितसुखिता भवांति यदि सवर्।
कर्मष्ठ च न देशासि तत् दुःखितसुखिता: कथं कृतास्ते ॥ २५४ ॥
cर्मोदिता जीवा दुःखितसुखिता भवांति यदि सवर्।
कर्मष्ठ च न ददति तव कृतससि कथं दुःखितास्ते: ॥ २५५ ॥
cर्मोदिता जीवा दुःखितसुखिता भवांति यदि सवर्।
कर्मष्ठ च न ददति तव कथं तव सुहितं: कृतास्ते ॥ २५६ ॥

सुखुः खे हि ताव्यजीवानं स्वकर्मोदितायणैव, तद्भवे
तयोभवतुमश्क्यलात। स्वकर्म च नाय्यनायय दातुः शास्त्रं, तत्याः
स्वपरिणाममेिवोपायार्यमाणालात। ततो न कर्थं चनापि अन्योजनाय
सुखुः खे कृतांत। अतिः सुखितुः खितान् करोमिः, सुखितुः खितः: क्रिये
चेत्यध्यवसायो ध्वंभजानम्।

यहाँ प्रसन है कि अध्ययन अज्ञान कैसे है? उसका उत्तर कहते हैं -
हें सुखी होते दुःखी होते कर्म से सब जीव जब।
तु कर्म दे सकता न जब सुखु-दुःख दे किस भांति तव ॥ २५४ ॥
हें सुखी होते दुःखी होते कर्म से सब जीव जब।
दुःखर्म दे सकते न जब दुःख दर्द दे किस भांति तव? ॥ २५५ ॥
हें सुखी होते दुःखी होते कर्म से सब जीव जब।
सत्कर्म दे सकते न जब सुख-शांति दे किस भांति तव? ॥ २५६ ॥

गाथार्थ :- [यदि] यदि[ सवर् जीवा:] सभी जीव [कर्मोदिता] कर्म
के उदय से[ दुःखितसुखिता:] दुःखी-सुखी[ भवांति] होते हैं,[ च] और
समवसार गाथा २५४-२५६


टीका – प्रथम तो, जीवों को सुख-दुःख वास्तव में अपने कर्मोदय से ही होता है, क्योंकि अपने कर्मोदय के अभाव में सुख-दुःख होता होना अशक्य है; और अपना कर्म दूसरे के द्वारा दूसरे को नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह (अपना कर्म) अपने परिणाम से ही उपार्जित होता है; इसलिए किसी भी प्रकार से एक-दूसरे को सुख-दुःख नहीं कर सकता। इसलिए यह अध्यवसाय ध्रुवरूप से अज्ञान है कि ‘में परजीवों को सुखी-दुःखी करता हूँ और पर जीव मुझे सुखी-दुःखी करते हैं’।

भावार्थ – जीव का जैसा आशय हो तदनुसार जगत में कार्य न होते हों तो वह आशय अज्ञान है। इसलिए, सभी जीव अपने-अपने कर्मोदय से सुखी-दुःखी होते हैं। वहाँ यह मानना कि ‘में पर को सुखी-दुःखी करता हूँ और पर मुझे सुखी-दुःखी करता है,’ सो अज्ञान है। निमित्ताविदिक भाव के आश्रय से (किसी को किसी के) सुख-दुःख का करनेवाला कहना सो व्यवहार है; जो कि निशचय की दृष्टि में गोपण है।

गाथा २५४ से २५६ पर प्रवचन

यहाँ प्रश्न है कि यह अध्यवसाय अज्ञान कैसे है ?
इस प्रश्न के उत्तर में ही ये गाथायें कही गई हैं। यहाँ कहते हैं कि ‘जीवों
को सुख-दुःख वास्तव में अपने-अपने कर्मोदय से ही होता है; क्योंकि अपने
कर्मोदय के अभाव में सुख-दुःख होना अशक्य है।’

जगत में अधिकांश जीव ऐसे हैं जो अपने सुख-दुःख का कारण दूसरों
को ही मानते हैं। इस कारण बे दूसरों पर तोष-रोष प्रगट किया करते हैं। उनके
इस अज्ञान को दूर करने के लिए तथा दूसरों के प्रति कषायन न करने के उद्देश्य
से यहाँ यह कहा गया है कि ‘हमारे सुख-दुःख के कारण पर नहीं, बल्कि
अपना कर्मोदय ही है।’ यहाँ यह सिद्ध करना है कि जीवों को अन्य कोई
सुखो-दुःख नहीं कर सकता। यह सिद्ध करने के लिए कहा है कि अपने कर्म
के उदय से जीव सुखो-दुःख होते हैं, पर के कारण नहीं। पर से उपयोग
हटाकर कर्म पर लाए हैं। वस्तुतः देखा जाए तो हमारा सुख-दुःख कर्मकृत
भी नहीं है; क्योंकि कर्म तो जड़ है। क्या जड़ से भी जीवों को सुख-दुःख
होता है?

सुख के साधन के रूप में जीवों को जो धन-धान्य आदि अनुकूल सामग्री
मिलती है, वह सब तो अपने-अपने स्वच्छत्व की योग्यता से, अपने कारण
व अपने काल में मिलती है। हाँ, इतना अवश्य है कि उसी समय निमित्तरूप
में वहाँ सातावेदनीय आदि पुण्य-कर्म का उदय भी अपने स्वच्छत्व की
योग्यता से उपस्थित रहता ही है। बस इतने समकाल रूप सम्बन्ध के कारण
व्यवहार से ऐसा कथन किया जाता है कि ‘कर्म के उदय से बाह्य सामग्री
मिलती है।’ वस्तुतः कर्म का उदय धन-धान्य आदि सामग्री का स्वामी नहीं है,
जो धन-धान्य लावे।

यहाँ सुख-दुःख से तात्पर्य अनुकूल-प्रतिकूल संयोग मिलने से है जो
कि अपने उपादान को तत्सम को योग्यता से आते हैं और उनमें पूर्वकर्म
निमित्त होता है। अनुकूलता में पुण्य कर्म का उदय निमित्त है और प्रतिकूलता
में पापकर्म का उदय निमित्त है। ऐसा निमित्त-नैनिमित्त भाव जानकर यहाँ
कहा है कि जीवों को वास्तव में अपने-अपने कर्म के उदय से ही
सम्वसर गाथा २५४-२५६

सुख-दुःख होता है। मूलतः यहाँ सिद्ध यह करना है कि कोई किसी अन्य जीव को सुख-दुःख नहीं दे सकता। देखो, कैसी सूक्ष्म बात कही है? अहो! दिगम्बर सत्त्वों ने गजब का काम किया है। तत्त्र की एक-एक पर्व खोलकर रख दी है।

अब कहते हैं कि ‘अपना कर्म दूसरे के द्वारा दूसरे को नहीं दिया जा सकता; क्योंकि वह अपने परिणाम से ही उपार्जित होता है।’

यहाँ ‘अपना कर्म’ ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि इस कर्म का सम्बन्ध दूसरे के साथ नहीं है। बस यह बताने के लिए – ‘अपना कर्म’ कहा है। वस्तुतः कर्म तो जड़ है। कर्म आत्मा के कहाँ हैं? वे तो मात्र आत्मा के परिणामों के निमित्त से उत्पन्न हुए हैं; इसकारण व्यवहार से उन्हें आत्मा का कहते हैं।

अपने कर्म दूसरों को दिये नहीं जा सकते तथा दूसरा कोई ‘अपने कर्म’ किसी अन्य को दे देवे और दूसरों को सुखी-दुःखी कर दे – ऐसा बन नहीं सकता। अहा! अपने कर्म के उदय से ही अनुकूल व प्रतिकूल संयोग मिलते हैं।

आजकल यह बात बहुत जोरों से चलती है कि ‘जो कुछ होता है, वह सब कर्म के कारण ही होता है। जैसे कि ज्ञानवर्णी कर्म ज्ञान को रोकता है, आदि ……।’

पर यह जो कथन शास्त्रों में आता है वह तो निमित्त की प्रधानता से किया गया कथन है। वस्तुतः क्या जड़ कर्म कहाँ आत्मा की रूकावट बन सकते हैं? अरे! आत्मा व कर्म के बीच तो अत्यन्ताभाव की वत्त जैसी दीवाल खड़ी है। जहाँ अत्यन्ताभाव होता है, वहाँ कर्म जीव का कर ही क्या सकता है? बात तो ऐसी हो कि जब-जब जीव स्वयं ही अपनी उपाधान योग्यता से अल्पता ही परिणित होता है, तब स्वयं ही अपना आत्मा करता है, किंतु उस समय निमित्त-नैमित्तिक को देखकर व्यवहार में ऐसा कहा जाता है कि ‘ज्ञानवर्णी ने ज्ञान को रोका आदि!’ भाई! यदि कोई एक तत्त्व को दूसरे में मिलाने का असफल
प्रयत्न करेगा तो वह तो मिलेगा नहीं; पर तेरी मान्यता आँधी होने से तुझे मिथ्यात्वजनित आक्षेपता अवश्य मिलेगी।

इसलिए यह कहा गया है कि पर को सुखी-दुःखी करने की मान्यता रूप अध्यवसाय निर्दिष्ट रूप से अज्ञात है, मिथ्यात्व है; मिथ्यादृष्टियों को ही ऐसा अध्यवसाय होता है और उन्हें वह अनन्त संसार का कारण बनता है।

श्री जयसेनाचार्य की टीका में काया, मन, वचन और शास्त्र - इन चारों बोलों से यही बात कही गई है। वे कहते हैं कि ‘कायासे में अन्य जीवों को सुखी-दुःखी कर सकूँ, मन से दूसरों को सुखी-दुःखी कर सकूँ, वाणी से में दूसरों को सुखी-दुःखी कर सकूँ और शास्त्र या हथियारों से में दूसरों को सुखी-दुःखी कर सकूँ, मारकाट करके उन्हें पीड़ित कर सकूँ आदि’ - ऐसा अभिप्रयास - अध्यवसाय मिथ्यात्वभाव है; क्योंकि जीव तो अपने कर्म के उदय से दूसरी दृष्टि में होता है, उसमें दूसरा क्या करें?

अरे भाई! शास्त्र को जब तू छूटा ही नहीं है, उसका स्पर्श ही जब तू नहीं करता तो तू फिर शास्त्र को चला कैसे सकता है? भगवान तो ऐसा कहते हैं कि प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्याय का ही चुम्बन करता है, परत्वल्य को तो कोई द्रव्य छूटा ही नहीं है। जब दो भिन-भिन द्रव्यों में अत्यन्ताभाव है तो फिर मन-वचन-काय व शास्त्र आदि जड़ पदार्थों से तू दूसरों को सुखी-दुःखी कैसे कर सकता है? फिर भी तू ऐसा माने कि में सुखी-दुःखी कर सकता हूँतो तेरी यह मान्यता मिथ्या है।
अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं -

( वसन्ततिलका )

सर्व सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य
कुर्यात्मुमान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्॥ १६८ ॥

श्लोकार्थ - [ इह ] इस जगत में [ मरण-जीवित-दुःख-सौख्यम् ]
जीवों के मरण, जीवन, दुःख, सुख - [ सर्व सदैव नियतं स्वकीय-
कर्मोदयात् भवति ] सब सदैव नियम से [ -निशिचत रूप से ] अपने
कर्मोदय से होता है; [ पर: पुमान् परस्य मरण-जीवित-दुःख-सौख्यम्
कुर्यात् ] दूसरा पुरुष दूसरे के मरण, जीवन, दुःख, सुख को करता है [ यत्
तु ] ऐसा जो मानना [ एतत् अज्ञानम् ] वह तो अज्ञान है ॥ १६८ ॥

कलश १६८ पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि जीवों को जो जीवन-मरण और उन्हें जो सुख-दुःख
के संयोग मिलते हैं, वे सब हमेशा नियम से अपने कर्म के उदय से ही मिलते
हैं। कोई एक-दूसरे को जीवन-मरण व सुख-दुःख देता ही नहीं है, दे ही नहीं
सकता। फिर भी जो दूसरों को सुखी-दुःखी करना मानता है - उसका ऐसा
मानना अज्ञान है।

एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्ता माने या ईश्वर को समस्त सृष्टि का
कर्त्ता माने - ये दोनों ही मान्यताएँ एक जैसी अज्ञानमय हैं।
पुनः इसी अर्थ को दृढ़ करने वाला और आगामी कथन का सूचक काय्य कहते हैं –

(वस्तन्ततिलकः)

अज्ञानमेतदिधिगम्यः परात्मरस्य
पश्यति ये मरणंजीवितदुःखोऽधिगम्यः।
कर्माण्यहृदकृतिसेनं चिकिर्षवस्ते
मिथ्यादृशोऽन्यतमात्महो भवति || १६९||

शर्लोकार्थ – [एततुः अज्ञानम् अधिगम्यः] इस (पूर्वकथित मान्यतारूप) अज्ञान को प्राप्त करके [ये परात्म परस्य मरणं जीवितं दुःखोऽधिगम्यं पश्यति] जो पुरुष पर से पर के मरण, जीवन, दुःख, सुख को देखते हैं अर्थात् मानते हैं, [ते] वे पुरुष – [अहृदकृतिसेन कर्माणि चिकिर्षवः] जो कि इसप्रकार अहंकारसे कर्मों को करने के इच्छुक हैं (में इन कर्मों को करता हूँ, ऐसे अहंकारपूर्ण रस से जो कर्म करने की – मारने-जिलाने को, सुखी-दुःखी करने की – वांछा करने वाले हैं) वे – [नियतम्] नियम से [मिथ्यादृशः आत्महः भवति] मिथ्यादृष्टि हैं, अपने आत्मा का घाट करने वाले हैं।

भावार्थ – जो पर को मारने-जिलाने का तथा सुखी-दुःखी करने का अभिप्राय रखते हैं, मिथ्यादृष्टि है। वे अपने स्वरूप से चुत होते हुए रागी, द्वेषी, मोही होकर स्वतः ही अपना घाट करते हैं, इसलिये वे हिंसक हैं || २६९||

कलश १६९ पर प्रवचन

यहाँ इस कलश में उपर्युक्त अर्थ को दृढ़ करते हुए आगामी गाथा का सूचक कथन किया है। आचार्य कहते हैं कि जो पुरुष ऐसा मानते हैं कि हम पर के इद्रिय, मन, वचन, काय, आयु व स्वासोच्छवास आदि प्राणों को हर सकते हैं, रक्षा कर सकते हैं एवं अन्य को इष्ट-अनिष्ट संस्योग मिला सकते हैं, सुखी-दुःखी कर सकते हैं; वे अज्ञानी हैं – मिथ्यादृष्टि हैं। ऐसी मान्यता वाले अहंकारपूर्ण रस से कर्म करने की वांछा वाले हैं।
कलश १६९

इस प्रकरण से कुछ व्यक्ति उल्टा अर्थ निकालते हैं। वे ऐसा कहते हैं कि दूसरों का काम तो करो, किंतु उसका अहंकार मत करो, अहंकार का निषेध है, न कि काम करने का; परंतु उनकी यह मान्यता या उनका यह सोचना भी अज्ञान है - विपरीत मान्यता है।

यदि कोई पर का कुछ भला-बुरा कर सके तो फिर उसका अहंकार या गौरव आने में क्या दोष है? जब हमने कोई भला काम किया है या कर सकते हैं तो उसका गौरव हमें क्यों न हो? होना ही चाहिए।

पर भाई! वास्तविकता तो यह है कि हम किसी का भला-बुरा न करते हैं और न कर सकते हैं; फिर भी छूटा अहंकार करते हैं। यही तो मिथ्या अध्यवसाय है; मिथ्यात्म का दोष है।

आत्मा दूसरों को आहार, पानी, औषधि, वस्त्र आदि कुछ भी नहीं दे सकता। दूसरों का जीवन-मरण नहीं कर सकता - यह मूल सिद्धान्त है। जीवों को जो भी अनुकूल-प्रतिकूल संयोग मिलते हैं, वे सब अपने-अपने पुण्य-पाप के उदय अनुसार मिलते हैं। पर अज्ञानीजन तो ऐसा मानते हैं कि अपने को परस्पर एक-दूसरे की मदद करनी चाहिए; एक-दूसरे के काम आना चाहिए; ये अपने कर्त्तव्य हैं; परंतु भाई! त्रिलोकनाथ की आज्ञा में तो यह आया है कि आत्मा पर का कोई भी कार्य नहीं करता और न कर ही सकता है।

प्रश्न - जीवों के मन में जो सतु आदि को जहर देकर या शस्त्रादि से मारने का भाव आता है, कौनसा भाव है?

उत्तर - यह भाव मिथ्यात्मबाह्य है; क्योंकि पर को मारने-बचाने का अभिप्राय मिथ्यात्मबाह्य है। जब कोई अक्षम को मार ही नहीं सकता और न मरते हुए को जीवित ही रख सकता है; तो फिर उसका यह सोचना तत्वज्ञान विषयक अज्ञान हुआ कि नहीं? और अज्ञान भरी मान्यता ही तो मिथ्यात्म है।

जीवों का मरना-जीना तो उनके आयुकर्म के कारण होता है। आयु का उदय ही तो लाखों प्रयत्न करने पर भी मारा नहीं जा सकता और आयुकर्म
का क्षय हो गया हो तो लाखों प्रवाल करने पर भी बचाया नहीं जा सकता। यहाँ इतना विशेष जानना है कि जीव आयुकर्म के उदय में जीवित रहता है और आयुकर्म के क्षय हो जाने पर मरण को प्राप्त होता है।

वास्तव में तो जीव की जिस देह में रहने की जितनी योग्यता है, उतने काल तक उस देह में रहता है और आयुकर्म का उदय नियम से उसमें निभित है। इस कारण आयुकर्म से जीवित है – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। इसीप्रकार स्थिति पूरी होने पर जब देह छूटती है, तब व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि आयुकर्म के क्षय से मरण हुआ।

यह वस्तुस्थिति है। ऐसा होते हुए भी जो इस वस्तुस्थिति को नहीं समझता और पर से पर का जीवन-मरण, सुख-दुःख मानता है, वह अहंकार रस से भरा हुआ होने से कर्म करने का इच्छुक है। आचार्यदेव ने मूल पाठ में भी कहा है – ‘अहंकृतिर्सेन कर्माणि चिकिर्षयः।’

पण्डित जयचन्द्रजी छाबड़ा ने इसका बहुत ही उत्तम अर्थ किया है। वे लिखते हैं –

‘पर का कार्य तो करना, परंतु उसका अहंकार नहीं करना, ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं है। बल्कि जो ऐसा मानता है कि ‘मैं पर कार्य करता हूँ, कर सकता हूँ’ – ऐसे अहंकार रस से भरा, पर का कार्य करने की इच्छावाला जीव मूढ़ है, अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है।’ ‘मैं पर का कार्य करता हूँ, कर सकता हूँ’ – यह मान्यता ही अहंकार रस युक्त मिथ्याल्ब है।’

गर में दस-बीस व्यक्ति हीं और उनमें घर के मुखिया एक-दो कमाने वाले हीं तो वे ऐसा मानते हैं कि हम ही सब घर भर का भरण-पोषण करते हैं; परंतु वास्तविकता यह नहीं है। यहाँ यह कहते हैं कि तू दूसरों का पालन-पोषण कर ही नहीं सकता। ‘मैं सबका पालन-पोषण करता हूँ’ – ऐसा अहंकार करके तू अपने मिथ्याल्ब व कपाय का ही पोषण करता है।

घर में महिलाएँ प्रतिदिन स्वादिष्ट और गरम-गरम भोजन बनाकर प्रेमपूर्वक परोसती हैं और ऐसा मानती है कि मेरी यह सुनदर व्यवस्था मेरी
कल्पना १६९

चतुराई से चलती है। मैं ही यह सब करती हूँ। एक दिन भी यह सब न करने
तो सारे घर भर को पता चल जाएगा कि व्यक्ति कैसे की जाती है; परन्तु
उन महिलाओं की ऐसी मान्यता मिलित है। भाई ! बात सुनने में भले ही अटपटी
लगे और मातायें-बहिनें भी माने या न मानें; परंतु बात वस्तुतः यह है कि रोटी
आदि का बनाना माता-बहिनों का काम नहीं है। अरे ! पुद्गल के रजकण
अपने स्वयं के कारण, अपनी तत्समय की योग्यता से रोटी रूप परिवर्तित होते
है; महिलाएँ तो उसमें निमित्त मात्र हैं। फिर भी जो मातायें ऐसा मानती हैं कि
मैं करती हूँ तो उनकी यह मान्यता मिथ्याल्प है; क्योंकि कोई किसी अन्य का
कार्य तो कभी कर ही नहीं सकता।

प्रश्न – अमुक कार्य मैंने कि या मैं कर सकता हूँ – ऐसा माने तो क्या
उसकी यह मान्यता मिथ्या नहीं है?

उत्तर – यह मन्दिर मैंने बनाया और इसके अन्दर अमुक प्रतिमा की
स्थापना मैंने की इत्यादि पर की क्रिया ‘मैंने की’ – ऐसा जो मानते हैं, वे
अंतःकार रस से भरे हुए पर का कर्म करने की बांछा बाले होने से आत्माधाती
हैं। आत्मा का स्वभाव तो शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा है। उसे वैसा न मानकर पर
का कर्म करनेवाला माना; इससे अपने स्वभाव का घाट हुआ, स्वभाव की
हिंसा हुई।

प्रश्न – अनासक्तिभाव से पर का कार्य करने का जो उपदेश दिया जाता
है, उसका क्या तात्पर्य है? जैसे कि ‘भरतजी घर में ही वैरागी’। ऐसा अनासक्त
रहकर अन्य का कार्य करे तो क्या बाधा है?

उत्तर – अरे भाई ! पर का कार्य करने का विकल्प आना और निमित्त-
नैमितिक भाव से वैसी प्रवृत्ति दिखाई देना जुदी बात है, और ‘मैं पर का कार्य
कर सकता हूँ’ – ऐसी मान्यता जुदी बात है। पर के कार्य करने का विकल्प
होना व तदनुर्म सहज प्रवृत्ति होना संभव है, जबकि पर में फेरबदल करने
का अभिप्राय व मान्यता मिथ्याल्प है।

‘करना’ व ‘अनासक्त’ – ये दो बातें एक साथ ही ही नहीं सकतीं। अन्य
मत में ऐसा उपदेश है कि अनासक्त भाव से पर का काम करो, पर को सेवा
करो। बीतारागी शासन में तो यह कहा है कि पर का में कर सकता हूँ— यह मान्यता ही आसक्ति है, मिथ्यात्माभाव है।

अहा ! में पर का भला-बुरा करता हूँ, कर सकता हूँ — अजानी ऐसा अभिमान करता है। जबकि आत्मा में ऐसी कोई शक्ति ही नहीं है कि वह पर का, शरीर का, धन-धान्यादि उपार्जन करने का और अन्य जीवों का कोई भी कार्य कर सके। प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपना कार्य करने में समर्थ है।

प्रश्न — चरणानुयोग के शास्त्रों में मुनि को आहारदान देने की महिमा के प्रकरण में तो साफ-सफ्ल लिखा है कि जिन श्रावकों ने मुनिराज को आहार दान दिया, उन्होंने मानो मुनिराजों को मोक्षमार्ग ही दिया है। जब एक द्रव्य दूसरे का कुछ कर ही नहीं सकता, दूसरे को कुछ दे ले ही नहीं सकता; तो फिर इस उपयुक्त कथन का क्या अभिप्रय है?

उत्तर — भाई ! यह तो निमित की अपेक्षा से किया गया व्यवहार का कथन है। इस कथन में तो मात्र निमित-नैमितिक सम्बन्ध का ज्ञान कराया है। इस कथन में यह सिद्ध करना उद्देश्य नहीं है कि श्रावक मुनिराज को दान दे सकता है, उन्हें मोक्षमार्ग दे सकता है। मुनिराज तो स्वयं अपनी आत्मसाधना व स्वरूप आराधना के अपूर्व पुरुषार्थ द्वारा मोक्षमार्ग में स्थित ही हैं, उन्हें कोई क्या मोक्षमार्ग देगा? वहाँ तो मात्र इतना बताना है कि मोक्षमार्ग में स्थित मुनिराज को जिसकाल में आहार लेने का विकल्प आता है, उसी काल में श्रावक को आहारदान देने का विकल्प आता है और उसी समय आहार देने की क्रिया जिस रूप में सम्पन्न होने की योग्यता हो, वह भी उसीसमय उसी रूप में अपनी योग्यतानुसार सहज सम्पन्न होती ही है। तब व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि श्रावक ने मुनिराज को आहारदान दिया। ऐसी ही वस्तुव्यवस्था है। बाकी, परद्रव्य की क्रिया आत्मा करे — ऐसा तो त्रिकाल में संभव ही नहीं है।

भाई ! मोक्षमार्ग तो अन्तर साधना की चीज है। यह शुद्ध अन्तस्तत्व तो एक ज्ञात्स्वभावी आत्मा के अन्तर अवलम्बन से प्रगट होता है। इसे अन्य
कोई अन्य किसी को कैसे दे सकता है? जहाँ तक दान देने की बात है सो भाई! वहाँ दान अधिकार के प्रकार में तो यह सिद्ध करना है कि धर्मी आदिकों को अपनी भूमिका में एवं आदिकों को आहारदान देने का परिणाम होता ही है। ऐसा कह कर दान की महिमा प्रवत की है। बाकी यह सब उपचार कथन जानना।

यहाँ कहते हैं कि इस जड़ शरीर और इन्द्रियों द्वारा में अन्य जीवों को तथा स्त्री-पुत्र-परिवार आदि को भोगादि सुख देने सकता हूँ - ऐसी मान्यता अहंकार रस से भरी है और मिथ्यात्व है क्योंकि शरीर-इन्द्रियादि जड़ की क्रिया तथा परजीवों के सुख-दुःख की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। शरीर आदि की क्रिया स्वयं ततसम्बन्धी पुरुषों परमाणुओं द्वारा होती है तथा अन्य जीव सब अपने-अपने भावों से ही सुखी-दुःखी होते हैं।

भाई! यह तो जैन परमेश्वर के द्वारा कहा गया वस्तुत: रूप है। जैन नामधारी होकर भी चिदानन्दरस को छोड़कर अहंकार रस को पोषते हैं - यह आश्चर्य की बात है। जो ऐसा मानते हैं कि दुकान पर समय पर जाने से और कम कर बैठने से ही ध्यान-व्यापार अच्छा चलता है। मैं यह सब कारोबार इसीप्रकार चलाता हूँ, तब कहाँ पैसे का मुँह देखने को मिलता है। ऐसा मानने वालों से आचार्य कहते हैं कि भाई! तेरा यह अहंकार मिथ्या है; क्योंकि एक-एक परमाणु की प्रति समय होनेवाली एक-एक पर्याय स्वयं अपने-अपने स्वतंत्र परमाणुओं से होती है। परमाणु की क्रिया को मैं करता हूँ - ऐसा कहने वाला अहंकार रस भरा होने से नियम से मिथ्याशूर्प है।

प्रश्न - यदि हम ऐसा माने कि पर की रक्षा तो करना चाहिए, पर उसका अहंकार नहीं करना चाहिए तो इसमें क्या दोष है?

उत्तर - अरे भाई! जब कोई किसी को रक्षा कर ही नहीं सकता तो फिर कोई किसी की रक्षा करेगा कैसे?

सेठों को ऐसा बहुत अभिमान होता है कि हम अपने उद्योग-दुःख द्वारा सैकड़ों को आजीविका देते हैं, पर यह उनका कोरा भ्रम है। कोई किसी का
भला-बुरा, पालन-पोषण या आजीविका आदि देने अथवा छूनने का काम कर ही नहीं सकता। में पर का कुछ करूँ - ऐसा मानना ही मिथ्याच्य है, अज्ञान है। आत्मा में ऐसी कोई शक्ति ही नहीं है।

निश्चय से पर का जीवन-मरण में करता हूँ या कर सकता हूँ एवं पर को सुख-दुःख में देता हूँ या दे सकता हूँ - ऐसा मानने वाला मिथ्या अहंकार रस से भरा हुआ पर का काम करने की इच्छा वाला मूढ़-मिथ्यादृष्टि है और आत्मा का घात करने वाला है। यद्यपि आत्मा तो त्रिकाल धूृव वस्तु है, वह तो जैसी है वैसी ही है; मूलतः उसका घात तो होता नहीं है; परंतु पर्याय में जो उसकी शान्ति भंग होती है, उसे ही यहाँ आत्मघात होना कहा है। यह मान्यता आत्मा के वीरराजी परिणाम को प्रगट नहीं होने देती।

वे मिथ्यादृष्टि आत्मा का हनन करने वाले हैं - ऐसा कह कर आचार्य-देव ने गजब किया है। वस्तुतः पर को कोई मार ही नहीं सकता; फिर भी 'पर को मार सकता हूँ' - ऐसी मान्यता से वह स्वयं का घात कर रहा है। पर की रक्षा भी नहीं कर सकता है; फिर भी 'पर की रक्षा करता हूँ' - ऐसी मान्यता से अपने स्वयं के जीवन का घात करता है। स्वयं भी पर को सुख-दुःख कर नहीं सकता है, आहार-औषधि द्वारा पर का उपचार कर नहीं सकता; तथापि 'पर को सुख-दुःख करता हूँ, पर का उपचार कर सकता हूँ' - ऐसी मान्यता से अपना आत्मघात हो जाता है। इसलिए कहते हैं कि 'पर का कार्य में करता हूँ' - ऐसी मान्यता से अहंकार करनेवाले मिथ्यादृष्टि आत्मघाती महापापी ही हैं।

कलश १६९ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, पर को मारने, रक्षा करने अथवा जीवित रखने का जिसका अभिप्राय है, वह मिथ्यादृष्टि है तथा पर को सुख-दुःख कर सकने का भी जिसके मन में अभिप्राय होता है, वह भी मिथ्यादृष्टि है।

जो ऐसा मानतो है कि - 'में पर जीवों की रक्षा कर सकता हूँ, पर जीवों को मार सकता हूँ, तथा उनको अनुकूल-प्रतिकूल संयोग जुटाकर
सुखी-दुःखी कर सकता हूँ’ – ऐसा मानने वाले अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप से भ्रष्ट होकर तथा रागी-द्वेषी-मोही होकर अपने द्वारा ही अपने आत्मा का घाट करते हैं। बस इसी कारण वे हिंसक हैं। ऐसी मान्यता वालों ने अपने शुद्ध, अखण्ड, एक ज्ञानान्दस्वभावी आत्मा का ही निषेध कर दिया। उन्होंने अपने शुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वरूप चैतन्यप्रणाली को रक्षा नहीं की; अतः वे आत्मघाती होने से हिंसक ही हैं।

आत्मा सदैव – तीनोंकाल अपने चैतन्य प्रणाली से – ज्ञान-दर्शन आदि प्रणाली से जीवित रहता है। यही उसका वास्तविक जीवन है। किन्तु जो इसे भूलकर, इससे भ्रष्ट होकर – ‘में पर को जीवनदान देता हूँ, पर की रक्षा करता हूँ’ – ऐसा अभिप्राय रखता है, वह अपने शुद्ध प्रणाली का घाट करने वाला अपना ही यात्रक होने से हिंसक है।

प्रश्न – पर को दया पालना तो जीव का स्वभाव है न?

उत्तर – अरे भाई! जीव का स्वभाव तो एकमात्र ज्ञान है। भगवान आत्मा तो ज्ञानमात्र है। उसके स्वभाव में पर की दया आदि करने जैसा कोई धर्म नहीं है। पर की दया पालने के अभिप्राय को तो यहाँ मिथ्यात्म कहा है। भाई! जहाँ दया को जीव का स्वभाव कहा है, वहाै स्वदया की बात है। आत्मा जैसा स्वभाव से रागरहित-वोतराग एक ज्ञानस्वभावी है, वैसा ही पर्याय में प्रसिद्ध करने का नाम वास्तविक दया एवं अहिंसा है और वही आत्मा का स्वभाव है। गजब बात है भाई! जन्म-मरण से रहित होने का मार्ग सम्पूर्ण जगत से जुड़ा है, निराला है। पर को मारने, जिज्ञासा रखने का अभिप्राय स्वरूप से चुत होने रूप विपरीत भाव है। यह अभिप्राय आत्मा को स्वरूप का यात्रक है। अहा! ऐसी वात भाग्यशालियों को ही सुनना-समझना किया मिलती है और इसको समझे बिना आत्मा का उद्द्वार भी संभव नहीं है।
समयसार गाथा २५७-२५८

जो मरदि जो य दुःखिदो जायदि कम्मोद्धापण सो सव्वो।
तम्भा दु द्वारिधो देव दुहाविधो चेरदि ण हु मित्ता। २५७।।
जो ण मरदि ण य दुःखिदो सो वि य कम्मोद्धापण चेर खलु।
तम्भा ण द्वारिधो णो दुहाविधो चेरदि ण हु मित्ता। २५८।।
यो प्रित्यते यर्च दुःखितो जायते कम्मद्यतेन स सर्वेः।
तस्मात्तु मारितस्ते दुःखितश्चेति न खलु मिथ्या। २५७।।
यो न प्रित्यते न दुःखित: सोपिचा कर्मद्यतेन चेर खलु।
तस्मात्तु मारितो नो दुःखितश्चेति न खलु मिथ्या। २५८।।
यो हि प्रित्यते जीवित वा, दुःखितो भवति सुखितो भवति वा, स खलु
स्वकर्मोद्धेत्येन तदभावे तस्य तथा भवितुमाश्चत्वातू। तत: मयां
माैरित:, अर्थ जीवित:, अर्थ दुःखित:, कृत:, अर्थ सुखित: कृत: इति
पर्यन्त मिथ्यादृश्य।

अब इसी अर्थ को गाथाओं द्वारा कहते हैं -
जो मरे या जो दुःखी हों वे सब करम के उदय से।
‘में दुःखी करता-मारता’ - यह बात क्यों मिथ्या न हो ?। २५७।।
जो ना मरे या दुःखी ना हो सब करम के उदय से।
‘ना दुःखी करता मारता’ - यह बात क्यों मिथ्या न हो ?। २५८।।

gाथार्थ - [ य: प्रित्यते ] जो मरता है [ च ] और [ य: दुःखित:
से होता है; [ तस्मात्तु ] इसलिये [ मारित: च दुःखित: ] ‘मैंं ने मारा, मैंं
दुःखी किया’ [ इति ] ऐसा [ ते ] तेरा अभिप्राय [ न खलु मिथ्या ] क्या
वास्तव में मिथ्या नहीं है ?

न दुःखी होती है [ स: अपि ] वह भी [ खलु ] वास्तव में [ कर्मद्यतेन च
एव ] कर्मद्य से ही होता है; [ तस्मात्तु ] इसलिये [ न मारित: च न
दुःखित: ] ‘मैंं ने नहीं मारा, मैंं दुःखी नहीं किया’ [ इति ] ऐसा तेरा
अभिप्राय [ न खलुमिथ्या ] क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है ?
समयसार गाथा २५७-२५८

टीका - जो मरता है या जीता है, दुःखी होता है या सुखी होता है, वह वास्तव में अपने कर्मोदय से ही होता है, क्योंकि अपने कर्मोदय के अभाव में उसका वैसा होना (मरना, जीना, दु:खी या सुखी होना) अशक्य है। इसलिये ऐसा देखनेवाला अर्थात् माननेवाला कि मैंने इसे मारा, इसे जिलाया, इसे दुःखी किया, इसे सुखी किया मिथ्यादृष्टि है।

भावार्थ - कोई किसी के मारे नहीं मरता और जिलाए नहीं जीता तथा किसी के सुखी-दुःखी किये सुखी-दुःखी नहीं होता; इसलिये जो मारने, जिलाने आदि का अभिप्राय करता है वह मिथ्यादृष्टि हो है - यह निर्देश का वचन है। यहां व्यवहारनय गौण है।

गाथा २५७-२५८ एवं उनकी टीका तथा भावार्थ पर प्रवचन

प्रश्न - आत्मा तो अनादि-अनन्त है और वह सदा अपने शुद्ध चैतन्य प्राणों से जीवित है। वह तो कभी मरता ही नहीं है - ऐसा अमर तत्व है तो फिर ऐसा क्यों कहा कि जीव मरता है या जीवित रहता है?

उत्तर - अरे भाई! जो बाहु दस प्राणों के वियोग होने से देह से देहान्तर रूप क्रिया होती है, उसे मरण कहा जाता है और जो जीव पाँच इन्द्रिय, तीन बल एवं आयु व श्रवण-चब्बास रूप दस प्राणों के वियोग रहते हैं, उन्हें जीवित कहा जाता है। इसीप्रकार जो लोक में अनुकूल साधनों के संयोग में हैं, वे सुखी और जो प्रतिकूल साधनों के संयोग में हैं, वे दुःखी कहे जाते हैं।

इसी अपेक्षा से यहाँ कहा गया है कि जो लोक में मरते हैं अथवा जीवित रहते हैं अथवा सुखी-दुःखी होते हैं, वे सब वस्तुत: अपने-अपने कर्मोदय के अनुसार ही होते हैं - इस कथन का तात्पर्य यह है कि कोई किसी को मार या जीवित नहीं कर सकता तथा कोई किसी को संसार में सुखी-दुःखी भी नहीं कर सकता। जो मरते हैं, वे वस्तुत: अपने स्वकाल में अपने स्वच्छत्व की तत्सम को योग्यता से एवं अंतर्गत निमित्त रूप से कहें तो अपने आयुक्त के क्षय से ही मरते हैं। कोई किसी के मारे मरता ही नहीं है; तथा जो जीवित रहते हैं वे भी वस्तुत: अपने स्वच्छत्व की तत्सम की योग्यता से एवं
आयुकर्म के उदय से ही जीवित रहते हैं। कोई किसी को जीवित रख सके -
ऐसा भी नहीं है।

इसक्षणकार जो आहार, वस्त्र, पानी, ध्न आदि बाह्य अनुकूल सामग्री के
निमित्त से सुखी होते हैं, वे भी वस्तुः अपनी तत्समय की योग्यता एवं
सातावेदनीय के उदय से ही सुखी होते हैं तथा जो प्रतिकूलता के कारण
dुःखी होते हैं, वे असाता वेदनीय के उदय के कारण दुःखी होते हैं। इन्हें कोई
अन्य सुखी-दुःखी नहीं करता। ऐसी ही वस्तु व्यवस्था है।

यहाँ कर्म के उदय की अपेक्षा जो सुखी-दुःखी होने की बात कही है,
उसका प्रजोजन पदव्रय पर जो राग-Deck्ष दोहता था, वह न हो। बस इतना ही
है। तथा अपने स्वच्छुप्रयोग को असली कारण कहने का प्रयेजन कर्मोदय पर
से ऐसी इद्यानिश्च कल्पना का नाश करता है।

जिनवाणी में किये गए प्रत्येक कथन का प्रयोजन व अपेक्षा जुदी-जुदी
होती है, जिसे जानना अति आवश्यक है। इसे यथार्थ जाने बिना आत्मा सुखी
नहीं हो सकता।

देखो भाई! जब भी सुखदुःख या जीवन-मरण रूप कोई कार्य सम्पन्न
होता है तो उसमें तीन प्रकार के कारण बनते हैं - एक बहिरांग निमित्त कारण
में बाह्य अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री, दूसरा अन्तरंग निमित्त कारण में कर्मोदय
एवं तीसरा उपादान कारण में तत्समय की योग्यता। इनमें से तीसरा कारण
जो तत्समय की योग्यता रूप उपादान कारण है, वही वास्तविक कारण है।
आयुकर्म के उदय व क्षय से जीवन-मरण एवं साता-असाता कार्म के उदय
से सुख-दुःख कहना तो निमित्त का ज्ञान कराने वाला र्षयर्वार का कथन है।

बाहर के संयोगों में प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल रजकण अपने-अपने
स्वच्छुप्रयोग की योग्यता से आता है। जिससमय जिन रजकणों के आने की
योग्यता होती है, वे ही आते हैं और उस काल में साता या असाता का
निमित्त पन भी सहज-रूप से स्वत: ही होता है। वस्तुः न कर्म-रूप निमित्त के
कारण संयोग आते हैं और न आयु कर्म के कारण कोई जीता-मरता है। लोक
में कहावत प्रसिद्ध है न कि दान-दाने पर खाने वाले का नाम लिखा है। तात्पर्य
यह है कि जो रजकम जब जिसके संयोग में आनेवाले होते हैं, वे निश्चितरूप से स्वसमय में उसके संयोग में आते ही हैं। कोई किसी पर कुपा करके या क्रोध करके अनुकूल संयोग न दे सकता है, न छीन सकता है।

जो आहार, ओषधि आदि के परमाणु जिस काल में जिस विधि से आने वाले होते हैं, वे उस काल में अपनी-अपनी तत्समय की योग्यता से ही संयोग में आते हैं और उनमें जीव के साता कर्म का निमित्त होता है। कोई किसी को सुख-दुःख या संयोगी वस्तु देता-लेता नहीं है। यही बात यहाँ कही जा रही है कि जीवों को उनके कर्मोदय के अभाव में कोई सुखी-दुःखी नहीं कर सकता, उन्हें जीवन-मरण नहीं दे सकता। जिनागम के अनुसार जीवों के द्वारा एक-दूसरे का काम करना शक्य ही नहीं है।

इसलिए यहाँ कह रहे हैं कि मैंने अमुक को मारा या जीवित रखा, मरने नहीं दिया, अमुक को सुखी किया, अमुक को दुःखी किया – ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है, मूढ़ है, अज्ञानी है।

जीवों का जीवन-मरण, सुख-दुःख अपने-अपने कर्म के उदय से ही होता है। ऐसी वस्तुमयवस्था होते हुए भी जो ऐसा मानते हैं कि मैंने इसे हथियार से मार डाला या मैंने इसे विष से या हथियार से मार सकता हूँ, वे मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि आयुकर्म के उदय के बिना किसी का जीवन टिक ही नहीं सकता व आयुकर्म को क्षय होने पर कोई किसी के जीवन को अधिक काल तक रख भी नहीं सकता। इसीप्रकार सुखी-दुःखी करने/कराने के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए।

पर को सुखी-दुःखी कर सकने या जीवन-मरण दे सकने की मायता वाले जीव मिथ्यादृष्टि हैं, मूढ़ हैं। उनको यह मिथ्या अहंकार नहीं करना चाहिए। उनको यह मायता सही है।

‘हम किसी पर का उपकार कर सकते हैं’ – यह अभिप्राय ही अपने आप में अहंकाररूप मिथ्याभाव है और ऐसे अभिप्राय वाला जीव मिथ्यादृष्टि है। उसे सत्य की खबर नहीं है।
समयसार नाटक में श्री बनारसीदास ने ऐसा कहा है कि —
करे करम सोई करतारा, जो जाने सो जाननहारा।
जो करता नहिं जाने सोई, जाने सो करता नहिं होई॥

जो पर के लेन-देन का, जीवन-मरण का और सुख-दुःख के कार्यों का
कर्ता बनता है वह अज्ञात है। जो पर के कार्यों को करने का अभिप्राय रखता
है, वह ज्ञान-दृष्ट नहीं रह सकता। जो अभिप्राय में पर का कर्ता नहीं बनता,
वही ज्ञान-दृष्टा रहता है और वही ज्ञानी है। जो पर का मात्र ज्ञानादृष्टा रह
cर ऐसा परिणमन करता है कि 'में तो साक्षी रूप से मात्र पर का जाननहार
हूँ — वही ज्ञानी है।

आत्मा तो स्वभाव से सदा निर्मलान्द ज्ञानान्दस्वभावी भगवान है। पयाय
में उस अतीत्तिय आनंद की प्राप्ति का उपाय एकमात्र यही श्रद्धा ज्ञान है कि
में पर की क्रिया कर ही नहीं सकता, पर का जीवन-मरण या सुख-दुःख कर
ही नहीं सकता; पर के कार्य पर से ही होते हैं। में तो उनका मात्र ज्ञान-दृष्टा
हो हूँ। इसप्रकार मात्र ज्ञान-दृष्टा रहकर परिणमना ही अतीत्तिय आनंद की
प्राप्ति का सच्चा उपाय है। भाई! करने-कराने का अभिप्राय रखना तो एक
नये दुःख को पैदा करना है और ज्ञान रहने में निराकुल आनंद है। ज्ञानी सदैव
निराकुल आनंद की मौज में रहते हैं।

(अनुस्तुप)

अब आगे के कथन का सूचक श्लोक कहते हैं—
मिथ्यादृष्टे: से एवास्य बंधेहतुर्विर्ययात्।
य एवाध्वसंयोजयमञ्जनात्मास्य दृष्टयते॥ १७०॥

श्लोकार्थ: — [अस्य मिथ्यादृष्टे:] मिथ्यादृष्टि के [य एव अयम्
अज्ञातमा अध्यवसाय: दृष्टयते] जो यह अज्ञानस्वरूप अध्यवसाय
dिखाई देता है [स: एव] वह अध्यवसाय ही [विपर्ययात्] विपर्ययस्वरूप
(मिथ्या) होने से [अस्य बन्धहेतु:] उस मिथ्यादृष्टि के बन्ध का
उपगम है।
भावार्थ – मिथ्या अभिप्रय ही मिथ्यात्व है और वहीं बंध का कारण है –
ऐसा जानना चाहिए। १७०।

कलश १७० पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि ऐसा अभिप्रय रखता है कि मैंने अपने
कुटुम्ब परिवार का भरण-पोषण किया, पाल-पोसकर बड़ा किया, पढ़ाया–
लिखया; अच्छे-अच्छे संस्कार देकर धर्म में लगाया; परंतु भाई! उसका यह
मिथ्या अभिप्रय है, अज्ञान रूप अध्यवसाय है।

देखो, जो परिणाम मिथ्या अभिप्रय सहित हों, स्व-पर के एकत्व के
अभिप्रय वाले हों अथवा वैभाविक हों; उन परिणामों के लिए यहाँ अध्यवसाय
शब्द का प्रयोग किया है। वैसे अध्यवसाय शब्द का एक अन्य अर्थ ‘भाव’ भी
होता है। इसप्रकार अध्यवसाय शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है एक – ‘मिथ्या
अभिप्रय’ और दूसरा ‘भाव’। यहाँ मिथ्या अभिप्रय के अर्थ में प्रयोग है।

प्रवचनसार गाथा २५५ में जो यह कथन आता है कि ‘रागो पसत्यभूतोऽ;
उसका आशय यह है कि – ‘तीर्थकर, चक्रवर्ती, बलदेव आदि प्रशस्त पद
सम्प्रदृष्टि को प्रशस्त रागस्वरूप शुभोपयोग से मिलते हैं।’

अज्ञानी इस कथन से ऐसा अर्थ निकालते हैं कि प्रशस्त राग से प्रशस्त पद
मिलते हैं और इन पदों से मोक्ष होता है। इसलिए प्रशस्त राग बंध का कारण
नहीं है; परंतु भाई! इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि प्रशस्तराग भी है
तो बंध का ही कारण। यहाँ सम्प्रदृष्टि के प्रसंग में यह कथन गौण है – यह
बात जुदी है।

तथा कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि समयसार के पुष्प-पपु अधिकार
की गाथा १४७ में जो शुभाशुभ कर्म के साथ राग और संस्कर का निषेध किया
गया है। उनसे कहते हैं कि वहाँ वह कथन जड़कर्म की अपेक्षा से है। शुभाशुभ
भावों के साथ राग व संस्कर होने का निषेध नहीं किया है।

अरे भाई! समयसार गाथा १५३ की टीका में आचार्य अमृतचंद्र ने कर्म
शब्द का अर्थ करते हुए ब्रत, नियम, शील, तप वगैरह सभी को कर्म कहा
है। तथा प्रश्नश्रांग के - हेतु, स्वभाव, अनुभव और आत्म्र - ऐसे चार भेदों
का निषेध करके शुभाशुभ कर्म एक ही है - ऐसा सिद्ध किया है। इसप्रकार
शुभाशुभ परिणाम भी कर्म कहलाता है और इसके बंधन को भी कर्म ही कहा
जाता है।

भाई! शास्त्र को अभिप्राय के साथ अपनी दृष्टि का मिलान होना चाहिए।
अपनी दृष्टि से शास्त्र का आंधा अर्थ करना तो जिनवाणी के साथ
महाविपरीतता है, अन्याय है।

जिनवाणी में अध्यवसाय का अर्थ अत्यन्त स्पष्ट रूप से यह किया गया
है कि जो परिणाम स्व-पर के एकत्व के अभिप्राय सहित हो अथवा वैभाविक
हो, उस परिणाम को अध्यवसाय शब्द से अभिहित किया जाता है।

इसप्रकार मुख्य रूप से तो स्व-पर की एकत्वबुद्धि सहित अज्ञानमय
परिणाम को - मिथ्या अभिप्राय को ही अध्यवसाय कहा है। परंतु कहाँ अकेले
(स्व-पर की एकत्वबुद्धि रहित) परिणाम को भी अध्यवसाय कहा गया है और
कहाँ निर्मल शुद्ध परिणाम के अर्थ में भी अध्यवसाय शब्द उपयोग में लिया
गया है। अतः अपेक्षा को ध्यान में रखकर ही अर्थ करना चाहिए।

यहाँ तो यह कहते हैं कि जो यह अज्ञानस्वरूप अध्यवसाय देखने में आता
है, वह अध्यवसाय विविध श्वरूप होने से - मिथ्या होने से मिथ्यादृष्टि के
लिए बंध का कारण है।

भाई! ऐसा मानना कि ‘में पर को मार या जिला सकता हूँ’, अथवा
सुख्मा-दुःखी कर सकता हूँ, सुख-दुःख के साधन जुटा सकता हूँ’ यह सब
आत्मा के ज्ञानस्वभाव से सर्वथा विपरीत मान्यता है। यह मान्यता आत्मा के
भाव से विरुद्ध भाव होने से विभाव परिणाम या अध्यवसाय नाम से कही
जाती है। यह अध्यवसाय ही मिथ्यादृष्टि के बंध का कारण है।

भाई! ‘में पर को जीवित रखता हूँ’ - ऐसा अध्यवसाय जो तू करता है,
वह मिथ्या है; क्योंकि तू ऐसा तीनकाल में नहीं कर सकता। उस जीव को आतु
कलश १७०

हो तो ही वह जीवित रहेगा और आयु शेष न हो तो जीवित नहीं रहेगा। तेरे जिवाये-वह न आज तक कभी जीवित रहा, न भविष्य में कभी रहेगा। कोई किसी को जिलाता भी नहीं है; क्योंकि जगत की प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है।

भगवान! तू सच्चिदानन्दस्वरूप प्रभु अखंड एक ज्ञानमात्र वस्तु स्वतंत्र है। तू शाश्वत ज्ञान व आनंद का भंडार तथा सदा शाश्वत परमात्मस्वरूप से विराजमान है। अहा! तेरे आनन्दसुख की प्राप्ति तेरे से ही होती है। यदि तू ऐसा मानता है कि कोई दूसरा मुझे सुखी करेगा या मैं पर को सुखी करता हूँ, सहयोग करता हूँ – तो तेरा यह मानना सर्वथा मिथ्या है, बंध का कारण है।
समवसार गाथा २५९

अब, यह कहते हैं कि यह अज्ञानमय अध्यवसाय ही बंध का कारण है —
एसा दु जा मदी दे दुःखिदसुहिदे करोमि सत्ते ति।
एसा दे मूढमदी सुहासुहं बंधदेकर्मम्॥ २५९॥
एसा तु या मतिस्ते दुःखितसुखितान् करोमि सत्तानित।
एसा ते मूढमति: शुभाशुभं बद्धाति कर्मम्॥ २५९॥

परजीवानहं हिन्दुमि, न हिन्दुमि, दु:खियामि सुखियामि इति य एवायम्ज्ञानमयोऽध्यवसायोऽमिथ्यादृष्टे: स एव स्वयं रागादिरूपत्वात्तस्य शुभाशुभबंधे हैं।

मैं सुखी करता दुखी करता हूँ जगत में अन्य को।
यह मान्यता ही मूढ़मति शुभ-अशुभ का बंधन करे॥ २५९॥


टीका — ‘मैं परजीवों को मारता हूँ, नहीं मारता हूँ, दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ’ ऐसा जो यह अज्ञानमय अध्यवसाय मिथ्यादृष्टि के है, वही (अर्थात् वह अध्यवसाय ही) स्वयं रागादिरूप होने से उसे (— मिथ्यादृष्टि को ) शुभाशुभ बंध का कारण है।

भावार्थ — मिथ्या अध्यवसाय बंध का कारण है।

गाथा २५९ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्याय से स्वतंत्र है। अन्यद्रव्य के गुण-पर्यायों को परिणम करने की शक्ति किसी द्रव्य में नहीं है। तथा किसी अन्य के पुण्य-पाप के उदय को करने या बदलने की शक्ति किसी में नहीं है। यह
समयसार गाथा २५९

वस्तुस्थिति है। ऐसा होने पर भी यदि कोई ऐसा माने कि ‘मैं पर को मार या बचा सकता हूँ’ तो यह उसका अज्ञान है।

अरे भाई! पर को मारने, बचाने या सुखी-दुःखी करने की तेरी शक्ति ही नहीं है। पर का कार्य करना तेरे अधिकार में ही नहीं है। फिर भी तू जो ये सब विकल्प करता है, वे मिथ्या हैं, बंध के कारण हैं।

बात कुछ कठिन है; क्योंकि इसमें हमारे वे भाव भी समझा हैं, जिन्हें हम द्या-धर्म कहते हैं और ऐसा करके अपने को धन्य मानते हैं। नंगों को वस्त्र देकर, भूखों को भोजन देकर, रोगों को औषधि देकर जो हम ऐसा मानते हैं कि ‘मैंने इनका दुःख दूर किया’ यह अभिप्रय मिथ्या है; क्योंकि वे जो सुखी हुए हैं या उनका जो दुःख दूर हुआ है, वह तुम्हारे कारण नहीं, बल्कि उनके अपने पुण्योदय से हुआ है।

अरे भाई! अपनी सत्ता का कार्य अपनी सत्ता से है या अपनी सत्ता का कार्य अन्य की सत्ता करती है? क्या अन्य की सत्ता अपने में मिल जाती है, जो वह हमें सुखी, दुःखी कर सके? ऐसा तो वस्तु के स्वरूप में ही नहीं है। अपनी-अपनी सत्ता में अपना-अपना कार्यागुण है, जो अपने कार्य का कर्त्ता है। कर्म नाम का गुण भी आत्मा में स्वतंत्ररूप से है जो कर्मरूप परिणामता है।

यहाँ कोई ऐसी शक्ति कर सकता है कि पर के बचाने का एकत्वबुद्धि रूप अध्यवसाय तो बंध का कारण है, परंतु पर को बचाने का भाव बंध का कारण नहीं है, उसके उत्तर में कहते हैं कि अरे भाई! तू यह क्या कहता है? यहाँ कोई बाहर के पाणिंडत्य से काम नहीं चलेगा, कुतरक काम नहीं आयेगा। इससे तो तुझे उलटी हानि ही होगी। यह तो यहाँ स्पष्ट करते ही आ रहे हैं कि यह जो अत्मानमय अध्यवसाय मिथ्याहृद्यियों के ही होता है, वह स्वर्याधी रूप होने से शुभाशुभ रूप बंध का कारण है। बचाने का शुभभाव भी बंध का कारण है।

अहा! आत्मा तो चिन्मात्रा एक पूर्ण परमानंद स्वरूप प्रभु है। वह पर से क्या ग्रहण करे और क्यों करें? वह तो स्वर्य परिपूर्ण पदार्थ है तथा पर भी अपने में परिपूर्ण है। सभी पदार्थों में एक त्यागोपायनशून्यत्व शक्ति पड़ी है, जिसके कारण आत्मा न पर का कुछ ग्रहण करता है और न त्याग ही करता है।
परंतु अपने ऐसे परिपूर्ण परमात्मपद के भान बाना अज्ञानी जीव अनादि से पराधीन हो रहा है। स्वयं चेतन्यचक्रवर्ती होने पर भी अपनी प्रभुता के ज्ञान बाना भिखारी की भांति दीन-हीन हो रहा है। भोगों से, विषयों से एवं धन-दौलत आदि से सुख की अपेक्षा रखता है।

प्रभु! तू तो अनन्त-अनन्त गुणों का धाम है। अनन्त शक्तियों का संग्रहालय है। जिसप्रकार मिश्री का स्वभाव मीठा है, उसीतरह तेरा स्वभाव ज्ञान व आनंद है। इसमें से तू जितना चाहे, जैसा चाहे, जो चाहे, जब चाहे प्रगट कर सकता है। तुझे कभी आनन्द की कमी नहीं आयेगी। तुझमें ऐसा असीमित सुख का भंडार है। ऐसा ज्ञानन्दस्वरूपलक्ष्मी का अटूट भंडार होते हुए भी तू इस नस्वर देह में, दुःखमय रागादि भावों में एवं इन्द्रियों के क्षणिक विषयों में कहाँ भटक गया है? उस भटकन को छोड़ और अपने निज वैभव को देख।

में जीवों की दया करता हूँ तथा दीन-दुःखी जीवों को दान देता हूँ, दूसरों की भक्ति करता हूँ - ऐसे अज्ञानमय रागभाव का अभिप्राय छोड़ दे तथा अपने आत्मा पर दयाकर। इसे अनन्त दुःखों से बचाने का उद्देश्य कर।

अहा! यदृपि अशुभ से बचने के लिए भूमिकानुसार दया, दान, भक्ति इत्यादि शुभराग आता है; परंतु इससे आत्मा का कल्याण होना मानना अज्ञान है।

यहाँ तो यह कह रहे हैं कि में पर को बचाता हूँ, बचा सकता हूँ, या मारता हूँ - मार सकता हूँ; सुखो-दुःखो कर सकता हूँ इत्यादि जो अध्यवसाय है, वह अध्यवसाय स्वयं पूण्य-पाप के भावरूप, रागादिरूप होने से शुभाशुभ बंध का कारण है। ऐसा अध्यवसाय मिथ्यादृष्टि के होता है और उसके लिए वह बंध का ही कारण है।

ज्ञानी को भी ये भाव अपनी भूमिकानुसार आते हैं, पर वह इन पूण्य-पाप के भावों का स्वामी व कर्ता नहीं होता। वह तो इन सवका ज्ञायक ही रहता है।
समयसार गाथा २६०-२६१

अथाध्यवसायं बंधहेतुतत्त्वेनावधार्यति -

दुःखितसुखितान् सत्त्वान् करोमि यदेवमध्यवसितं ते।
तं पावबंधं वा पुण्यस्य व बंधं होदि॥ २६०॥
मार्यामि जीवयामि य सत्त्वान् ज एवमध्यवसितं ते।
तं पावबंधं वा पुण्यस्य व बंधं होदि॥ २६१॥

dुःखितसुखितान् सत्त्वान् करोमि यदेवमध्यवसितं ते।
तत्पापबंधं वा पुण्यस्य वा बंधं भवति॥ २६०॥
मार्यामि जीवयामि वा सत्त्वान् यदेवमध्यवसितं ते।
तत्पापबंधं वा पुण्यस्य वा बंधं भवति॥ २६१॥

च एवायं मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानजन्मा रागमयोध्यवसायः स एव बंधेहुः:
इत्यवधारणीयम्। न च पुण्यपापवेन हिताद्वादन्वस्य तद्वेद्वितरम्येवर्त्यं;
एकेनावनाग्नध्यवसायेन दुःखायामिति, सुखायामि जीवयामि
च द्विधा शुभाशुभां कार्यसनिर्भरतया द्वयोरपि पुण्यपापयोर्ध्यः
हेतुतत्वस्याविरोधात्।

अब, अध्यवसाय को बन्ध के कारण के रूप में भलीभाँति निरीक्ष न करे हैं
(अर्थात् मिथ्या अध्यवसाय ही निर्य में बन्ध का कारण है - ऐसा
कहते हैं) -

‘में सुखी करता दुःखी करता’ यही अध्यवसाय सब।
पुण्य एवं पाप के बंधक कहे हैं सूत्र में॥ २६०॥
‘में मारता में बचाता हूँ’ यही अध्यवसाय सब।
पाप एवं पुण्य के बंधक कहे हैं सूत्र में॥ २६१॥

गाथार्थ :– ‘[सत्त्वान्] जीवों को में [दुःखितसुखितान्] दु:खी–सुखी
[करोमि] करता हूँ’ [एवम्] ऐसा [यतु ते अध्यवसितं] जो तेरा
प्रवचनरत्नाकर भाग ८


टीका – मिथ्यादृष्टि के इस अज्ञान से उत्पन होनेवाला रागमय अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है – यह भलीभाँति निरिच्छत करना चाहिए और पुण्य-पापरूप से बन्ध का द्वित्व (दो-पना) होने से बन्ध के कारण का भेद नहीं हूँ दूःखन चाहिए (अर्थात् यह नहीं मानना चाहिए कि पुण्य-बन्ध का कारण दूसरा है और पाप-बन्ध का कारण कोई दूसरा है), क्योंकि यह एक ही अध्यवसाय ‘दुःखी करता हूँ, मारता हूँ’ इसप्रकार और ‘सुखी करता हूँ, जिलाता हूँ’ यों दो प्रकार से शुभ-अशुभ अंकार रस से परिपूर्णता के द्वारा पुण्य और पाप – दोनों के बन्ध के कारण होने में अविरोध है। अर्थात् एक ही अध्यवसाय से पुण्य और पाप – दोनों का बन्ध होने में कोई विरोध नहीं है।

भावार्थ – यह अज्ञानमय अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है। उसमें, ‘मैं जिलाता हूँ, सुखी करता हूँ’ ऐसे शुभ अहंकार से भरा हुआ वह शुभ अध्यवसाय है और ‘मैं मारता हूँ, दुःखी करता हूँ’ ऐसे अशुभ अहंकार से भरा हुआ वह अशुभ अध्यवसाय है। अहंकारनुपूर्व मिथ्याभाव दोनों में है; इसलिए अज्ञानमयता से दोनों अध्यवसाय एक ही हैं। अतः यह न मानना चाहिए कि पुण्य का कारण दूसरा है और पाप का कारण कोई अन्य अज्ञानमय अध्यवसाय ही दोनों का कारण है।

* जो परिणमन मिथ्या अभिप्राय सहित हो (स्वप्न के एकच के अभिप्राय से युक्त हो) अथवा वैभाविक हो उस परिणमन के लिए ‘अध्यवसाय’ शब्द प्रयुक्त किया जाता है। (मिथ्या) निश्चय अथवा (मिथ्या) अभिप्राय करने के अर्थ में भी ‘अध्यवसाय’ शब्द प्रयुक्त होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com
गाथा २६०-२६१ एवं टीका पर प्रवचन

अब इन गाथाओं में यह नककी कर रहे हैं कि अध्यवसान ही बन्ध के कारण के रूप में माने गये हैं। अर्थात् मिथ्या अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है।

यदि कोई कहेगा कि शुभराग से पुण्य तो बंधता है न? जो कि पाप की अपेक्षा तो भला ही है। तो, उसका समाधान यह है कि जब पर को बचाने या मारने का अभिप्राय ही मिथ्याल्प है तो भले ही बचाने के अभिप्राय से मिथ्याल्प को पुण्य बन्ध होता है; तो भी मिथ्याल्प की भूमिका में जो पुण्यबन्ध होता है, वह वस्तुतः तो पाप ही है।

भाई! यह शरीर तो हाड़-मांस व चमड़े का पिण्ड है। यह कहीं आत्मा नहीं है। यह तो एक दिन शरीर में ध्वसकात हुई अगनि में जलकर भस्म हो जाएगा और आत्मा तो अनन्त अनन्त अविनाशी वस्तु है। उस चिन्मात्र एक अपने आत्मा को जाने विना सारी धर्म क्रियाएँ संसार खाते में ही जातीं हैं। इससे संसार का परिभ्रमण नहीं मिलता।

लाखों रूपए खर्च करके जो मंदिर बनाता है, प्रतिमा स्थापित करता है; उसका वह भाव शुभभाव है, उससे पुण्य बंधता है। अशुभ से बचने के लिए ऐसे शुभभाव भूमिकानुसार होते हैं; परन्तु यदि इन्हें कोई धर्म मान ले तो उसकी वह मान्यता मिथ्या है।

देखो! भगवान् आत्मा तो शुद्धचिन्मात्रवस्तु है। उसमें तो राग-विकार है नहीं; फिर भी राग-विकार के साथ एकत्र मानना अत्याधिक रागमय अध्यवसाय ही है और वही बन्ध का कारण है - ऐसा नक्की करना। यह तो सामान्य कथन हुआ।

अब विशेष कहते हैं कि बन्ध में पुण्य-पापरूप दोपना होने से बन्ध के कारणों में भेद नहीं खोजना। ऐसा नहीं मानना कि पुण्यबन्ध का कारण कोई अन्य है और पापबन्ध का कारण कोई अन्य है।

प्रश्न - जिनको राग में एकत्वबुद्धि नहीं है, उन्हें तो इन शुभ भावों से लोक में प्रशस्त पद मिलते हैं न?
उत्तर – अरे भगवान! यह तुम क्या कहते हो? देवादि के पद, जिन्हें लोग प्रशस्त पद कहते हैं, वे वस्तुतः प्रशस्त हैं ही नहीं। भाई! ये सब तो धूलधारी हैं। ज्ञानी तो इन्हें जीर्णतृणवत् गिनते हैं। जिनको राग में एकत्र बुद्धि नहीं है, उन समक्षतियों को पूण्य की इच्छा भी नहीं होती। समक्षति संसार में किसी पद की इच्छा नहीं करते। अज्ञानी ही इन पदों की इच्छा करते हैं। ज्ञानी को पूण्य–पाप का भाव होता तो है, पर उन्हें उनकी इच्छा नहीं होती।

खूबी तो देखो। आचार्य कहते हैं कि दूसरों को सुखी करँ, बचाएँ – ऐसा अध्यवसाय पूण्यवंच का कारण है और उन्हें दुःखी न करें – ऐसा अध्यवसाय पापवंच का कारण है। पर इन दोनों में कारण भेद नहीं मानना। दोनों में जो रागमय अध्यवसाय है, एक वही बन्ध का कारण है। दोनों में दो जुदे–जुदे कारण नहीं हैं। यही बात अब कारण सहित स्पष्ट करते हैं –

‘में दूसरों को बचाएँ या मारँ, सुखी करूँ या दुःखी करूँ’ – ऐसा जो आंकार रस से भरा अज्ञानमय अध्यवसाय है, एक उस से ही पूण्य व पाप के बन्ध होने में कोई विरोध नहीं है, अविरोध है। ‘में बचाएँ या सुखी करूँ’ ऐसा राग का परिणाम तथा ‘में मारूँ या दुःखी करूँ’ – ऐसा द्वेष का परिणाम – दोनों एक ही अज्ञानमय अध्यवसाय हैं। भले ही वे दोनों पूण्य–पाप के बन्ध के कारण होते हैं, पर हैं तो दोनों ही बन्ध स्वरूप ही न?

जो पूण्यवंच को अच्छा मानते हैं, उन्हें इस दृष्टि से सोचना चाहिए कि सदा अबद्वस्रूप आन्दोल का धाम भगवान आत्मा का बन्धन में पड़ना अच्छा कैसे हो सकता है? भले ही पूण्य से बंधे; पर हैं तो बन्धन ही न? यदि पाप लोहे की बेड़ी है तो पूण्य सोने की बेड़ी है; पर हैं तो दोनों बन्धन ही न? वस्तुतः देखा जाए तो पूण्यवंच में भी आकुलता जनित दुःख तो रहता ही है। सच्चा सुख तो निराकुलता में ही है, अतः पूण्यवंच भी पापवंच है ते ही है।

भाई! मुक्ति का मार्ग वीरतागता का ही मार्ग है; अतः यहाँ सभी प्रकार के राग का निषेध किया गया है।
राजस्थान के भावार्थ पर प्रवचन

'यह अज्ञानमय अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है।' देखो, यहाँ 'पुण्य-पाप' शब्द न लेकर 'में जीवों को बचाता हूँ या मारता हूँ, दुःखी करता हूँ या सुखी करता हूँ - ऐसे जो अज्ञानमय अध्यवसाय है, वे ही बन्ध के कारण हैं' - ऐसा कहा है।

फिर आगे कहा है कि 'बचाओ, सुखी करो' यह शुभ अहंकार से भरा हुआ राग भाव शुभ अध्यवसाय है और 'मारो, दुःखी करो' - यह अशुभ अहंकार से भरा हुआ द्वेषभाव अशुभ अध्यवसाय है। अहंकाररूप मिथ्यात्बाव तो दोनों में हैं। इसकारण दोनों अज्ञानरूप अध्यवसाय एक जैसे ही हैं। अज्ञानपने की अपेक्षा से शुभ व अशुभ दोनों एक ही हैं।

इसलिए ऐसा नहीं मानना चाहिए कि पुण्य का कारण अन्य है और पाप का कारण अन्य। अज्ञानमय अध्यवसाय ही दोनों का कारण है। अज्ञानी के पुण्य परिणाम हो या पाप परिणाम हो, उन दोनों में रहा हुआ मिथ्यात्बाव-अज्ञानमय अध्यवसाय ही अनन्त संसार के बंध का कारण है; बाह्य क्रियाओं से बन्ध नहीं होता।
समयसार गाथा २६२

एवं हि हिंसाध्यवसाय एव हिंसेत्यात्यात्मूः -

अज्ञावसिदेण बंधो सते मारेम व मारेम ।

एसो बंधसमासो जीवाणं निष्क्षयणयस्स । २६२।।

अध्यवसितेन बंधः सत्त्वान् मारयतु मा वा मारयतु ।

एष बंधसमासो जीवाणं निष्क्षयनयस्स । २६२।।

परजीवानां स्वकर्मोद्वैचित्यवशेष प्राणव्यपरोपः कदाचिि्भवतु,

कदाचिमा भवतु, य एव हिनस्मीत्यंहंकारसनिर्भरो हिंसायामध्यवसायः

स एव निष्क्षयतस्तत्स्य बंधहेतुः, निष्क्षयेन परभावस्य प्राणव्यपरोपस्य

परेण कर्तमशाक्यक्वातू।

'इसप्रकार वास्तव में हिंसा का अध्यवसाय ही हिंसा है यह फलित हुआ’ - यह कहते हैं : -

मारो न मारो जीव को हों बंध अध्यवसाय से ।

यह बंध का संक्षेप है तुम जान लो परमार्थ से । २६२।।

गाथार्थ - [ सत्त्वान् ] जीवाण को [ मारयतु ] मारो [ वा मा मारयतु ]

अथवा न मारो - [ बंधः ] कर्मबन्ध [ अध्यवसितेन ] अध्यवसाय से ही होता

है । [ एषः ] यह [ निष्क्षयनयस्स ] निष्क्षयनस्य, [ जीवाणां ] जीवाण के

[ बंधसमासः ] बंध का संक्षेप है।

टीका - परजीवान्य अपने कर्मोद्वै विचित्रतावश प्राणों का व्यपरोप

(-उच्छेद, वियोग) कदाचित हो, कदाचित्र न हो, - किन्तु ‘में मारता हू’ ऐसा

अहंकार रस से भरा हुआ हिंसा का अध्यवसाय ही निष्क्षय से उसके (हिंसा

का अध्यवसाय करने वाले जीव को) बंध का कारण है, क्योंकि निष्क्षय से

पर का भाव जो प्राणों का व्यपरोप वह दूसरे से किया जाना अशक्य है (अर्थातः

वह पर से नहीं किया जा सकता)।
भावार्थ – निश्चयन्य से दूसरे के प्राणों का वियोग दूसरे से नहीं किया जा सकता; वह उसके अपने कर्मों के उदय की विचित्रता के कारण कदाचित् होता है और कदाचित् नहीं होता। इसलिए जो यह मानता है – अहंकार करता है कि ‘में परजीव को मारता हूँ’ उसका यह अहंकाररूप अध्यवसाय अज्ञानमय है। वह अध्यवसाय ही हिंसा है – अपने विशुद्ध चैतन्य प्राण का घात है और वही बन्ध का कारण है। यह निश्चयन्य का मत है।

यहाँ व्यवहारन्य को गोपन करके कहा है ऐसा जानना चाहिए। इसलिए वह कथन कथांचित् (अपेक्षापूर्वक) है ऐसा समझना चाहिए; सर्वथा एकान्तपक्ष मिथ्यालब है।

गाथा २६२ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

अबतक के कथन से यह तो स्पष्ट हो गया कि वस्तुः हिंसा का अध्यवसाय ही हिंसा है। अब कहते हैं कि परजीव अपने आयु कर्म के उदय से जीवित ही रहता है अर्थात् जीव का अपना आयुकर्म शेष हो तो तीन द्वेषपूर्वक उसे मारने के अनेक प्रयत्न करने पर भी, वह नहीं मरता।

यहाँ कहते हैं कि वह जीव मरे अथवा न मरे; उसके प्राणों का विच्छेद हो अथवा न हो – पर ‘में मारता हूँ’ – ऐसा अहंकार रस से भरा जो अध्यवसाय है, वही निश्चय से बन्ध का कारण है।

इसीप्रकार परजीव के आयुकर्म के क्षय होने पर कोई उसे बचाने के लाख प्रयत्न करे तो भी वह जीवित नहीं रह सकता; मर ही जाता है। इसीलिए कहा है कि परजीव मरे या न मरे, उसके मरने न मरने से हिंसा-आहिंसा का कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु हिंसा में जो अहंकार युक्त अज्ञानमय अध्यवसाय होता है, वही हिंसा है तथा वही बंध का कारण है।

अब इसका कारण समझाते हुए कहते हैं कि अन्य जीवों के दस प्राण परभाव हैं। ये कोई आत्मा के भाव नहीं हैं और परभावों का नाश निश्चय से अन्य कोई कर नहीं सकता। उन प्राणों का नाश हो अथवा न हो – वे
प्रवचनरत्नाकर भाग ८

तो अपने आयु कर्मानुसार होते हैं। अन्य के भावों के कारण किसी अन्य के प्राणों का घाट अर्थात् मरण आदि हो ही नहीं सकता। फिर भी यदि कोई अहंकार करे कि ‘में परजीव को मारता हूँ या बचाता हूँ’ तो वह उसका अहंकार रूप अज्ञानमय अध्यवसाय है। वही अध्यवसाय आत्मा की हिंसा है – अपने विशुद्ध चौतन्यप्राणों का घात है। और वही बंध का कारण है। ऐसा निश्चयनय का मत है।

इसीप्रकार ‘में पर को बचा सकता हूँ’ – ऐसा भाव भी अपने शुद्ध चौतन्यमय ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव का घात है। ये ही अध्यवसाय निश्चय से बंध के कारण हैं।

यहाँ यह सब कथन व्यवहार को गौण करके कहा गया है – ऐसा जानना। दूसरों के मरण–जीवन के संदर्भ में इतना विशेष जानना चाहिए कि मारने व बचाने के भाव निमित्त रूप से होते हैं। इस कारण व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति ने अमुक को मारा व बचाया। निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण ऐसा जो व्यवहार है – वह यहाँ उपरोक्त कथन में गौण है। उसको सर्वथा एकान्त रूप से वैसा ही नहीं समझ कर दोनों नयों की अपेक्षा को पहचानना चाहिए। सर्वथा एकान्त का पक्ष तो मिथ्यात्व है।

उदाहरणार्थ, जब परजीव का मरण हुआ तो उसमें हमारा मारने का अध्यवसाय (मारने का भाव) तो हुआ; फिर भी यदि हम ऐसा कहें कि – मुझे बंध नहीं हुआ; क्योंकि पर को तो कोई मार ही नहीं सकता तो मुझे बंध कैसे हो सकता है? तो उसके उत्तर में कहते हैं कि अरे भाई! यह तेरी मान्यता अज्ञानमय है – एकान्तरूप है। ऐसा पक्ष मिथ्यात्वस्वरूप है। अपना जो मारने का अध्यवसाय है, वह नियम से बंध का कारण है। •
समयसार गाथा २६३-२६४

अथाध्यवसायं पापपूण्ययोर्बध्येन दर्शयति -

एवलिए अद्ते अबंभचेरे परिग्रहे चेव।
कीर्दिअञ्ज्ञावसाणं जं तेणा दु बञ्ज्ञादे पारं। ॥ २६३॥
तह वि य सच्चे दते बंधे अपरिग्रहति रो चेव।
कीर्दिअञ्ज्ञावसाणं जं तेणा दु बञ्ज्ञादे पुण्यं। ॥ २६४॥

एवमलिए दर्तते ब्रह्माचर्यं परिग्रहे चेव।
क्रियते अध्यवसायं यत्रेन तु बध्यते चापमु। ॥ २६३॥
तथापि च सत्य दते ब्रह्मण अपरिग्रहति चेव।
क्रियतेः अध्यवसायं यत्रेन तु बध्यते पुण्यम्। ॥ २६४॥

एवमयमेज्जानात् यो यथा हिंसायं विधीयतेः ध्यानवायः, तथा
असत्यादत्ता-ब्रह्मापरिग्रहे द्वस्त विधीयते स निर्जीयपि केवल एव
पापबंध्येत्। यस्तु अहिंसायं यथा विधीयते अध्यवसायः, तथा यस्तु
सत्यंदत्तब्रह्मापरिग्रहे विधीयते स निर्जीयपि केवल एव पुण्यबंध्येत्।

अव, (हिंसा-अहिंसा की भौति सर्व कार्यों में) अध्यवसायां को ही पाप-
पूण्य के बन्ध के कारणरूप से दिखाई हैं :-

इस ही तरह चोरी असत्य कुशील एवं ग्रंथ में।
जो हुए अध्यवसाय हों वे पाप का बंधन करें। ॥ २६३॥
इस ही तरह अचौर्य सत्य सुशील और अग्रन्थ में।
जो हुए अध्यवसाय हों वे पुण्य का बंधन करें। ॥ २६४॥

गाथार्थः - [एवम्] इसीप्रकार (जैसा कि पहले हिंसा के अध्यवसाय
के सम्बन्ध में कहा गया है) उसीप्रकार [अलीके] असत्य में, [अदत्ते] चोरी
में, [अब्रह्मचर्यं] अब्रह्मचर्य में [च एव] और [परिग्रहे] परिग्रह में [चतुः]
जो [अध्यवसायं] अध्यवसाय [क्रियते] किया जाता है [तेन तु] उससे
[पाप बध्यते] पाप का बनथ होता है; [तथापि च] और इसीप्रकार [सत्ये]
सत्य में, [दत्ते] अचौर्य में, [ब्रह्मण] ब्रह्मचर्य में [च एव] और

टीका – इसप्रकार (पूर्वोक्त प्रकार) अज्ञान से यह जो हिंसा में अध्यवसाय किया जाता है उसीप्रकार असत्य, चोरी, अन्नहर्ष्य और परिग्रह में भी जो (अध्यवसाय) किया जाता है, वह सब पाप बन्ध का एकमात्र कारण है; और जो अहिंसा में अध्यवसाय किया जाता है उसीप्रकार सत्य, अचर्च, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में भी (अध्यवसाय) किया जाये, वह सब पुण्यबन्ध का एकमात्र कारण है।

भावार्थ – जैसे हिंसा में अध्यवसाय पापबन्ध का कारण कहा है; उसीप्रकार असत्य, चोरी, अन्नहर्ष्य और परिग्रह रूप अध्यवसाय भी पापबन्ध का कारण है। और जैसे अहिंसा में अध्यवसाय पुण्यबन्ध का कारण है; उसीप्रकार सत्य, अचर्च, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप अध्यवसाय भी पुण्यबन्ध का कारण है। इसप्रकार, पाँच पापों में (अन्तरों में) अध्यवसाय किया जाये सो पापबन्धका कारण है और पाँच (एकदेश या सर्वदेश) ब्रतों में अध्यवसाय किया जाये सो पुण्यबन्ध का कारण है। पाप और पुण्य दोनों के बन्धन में, अध्यवसाय ही एकमात्र कारण है।

गाथा २६३-२६४, उनकी टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

अब हिंसा-अहिंसा की तरह सब कार्यों में अध्यवसाय को ही पाप-पुण्य के बंध के कारणरूप से दिखाते हैं –

आगम में अध्यवसाय शब्द चार अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

१. मिथ्या श्रद्धानुरूप स्व-पर की एकत्वबुद्धि का अध्यवसाय।

२. पर में सूक्ष्म है, पुण्य से धर्म होता है, पाप में अर्थात् विधेयों में आनन्द है, इत्यादि स्वप्नरूप-ध्यानिकियम श्रद्धाबुद्धि सहित विभावभावरूप अध्यवसाय।

३. यद्यपि ज्ञानी के ये विभाव परिणाम अनवत संसार के कारण नहीं हैं; इस कारण इन्हें गौण करके बन्ध में नहीं गिनते; पर वस्तुतः ये विभाव परिणाम
किंचित् बंध के कारण तो हैं ही। कथन की अपेक्षा समझनी चाहिए। दोनों ही अपेक्षाएं अपनी-अपनी जगह सही हैं।

4. जिन परिणामों ने प्रज्ञांवनी के द्वारा राग व आत्मा के बीच में भेद करके शुद्ध चैतन्यस्वभावी आत्मा में एकत्व किया है, - ऐसे निर्मल परिणामों को भी आगम में अध्यवसाय की संज्ञा दी गई है; पर वे अध्यवसाय मोक्ष के कारण हैं। इसप्रकार जहाँ जो अर्थ होता हो वहाँ यथासम्भव वैसा अर्थ करना चाहिए। अज्ञानी को पर में एकत्वबुद्धि पूर्वक जो अध्यवसाय है, वह तो बंध का ही कारण है। जबकि ज्ञानी को पर में एकत्वबुद्धि रहित परिणाम होता है; अतः वह मुख्यपने बन्ध का कारण नहीं है।

भाई ! उपयुक्त कथनों की अपेक्षाओं में बहुत बड़ा अन्तर है। अतः अपने को जैसा मन भावे, वैसा - मनमाना अर्थ नहीं करना चाहिए।

वस्तुतः सम्बन्धृत राग में एकत्व नहीं करता; इसकारण उसे बन्ध नहीं है। उसको जो अस्थिरता जनित बंध परिणाम होते हैं, उन परिणामों से किंचित् बंध तो होता है, पर उनको यहाँ बंध में गिना नहीं गया है।

यहाँ कहते हैं कि हिंसा-अहिंसा सम्बन्धी अध्यवसाय की भौति ही असत्य, अदत्त, अब्रहमचर्य और परिग्रह में भी जो अध्यवसाय किए जाते हैं या होते हैं, वे भी पाप के बंध के एकमात्र कारण हैं।

झूठ बोलने रूप भाषा में बोल सकता हूँ - यह अध्यवसाय मिथ्यात्व है, बंध का कारण है; क्योंकि बोलनेकुछ जो वचन है, वह तो भाषावर्गण का कार्य है।

भाई ! युग्मे जो झूठ बोलनेकुछ अशुभ भाव होता है, उसभाव को और झूठ वचन के साथ तू जो एकत्वबुद्धि करता है, उस क्रिया में जो अहंकार करता है, वह मिथ्यात्व है और वह पापबन्ध का कारण है। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि हम होशयारी से वाक् चातुर्य से ऐसा झूठ बोलते हैं कि जो सच जैसा लगता है और हमारा काम वन जाता है। इसप्रकार झूठ बोलकर हम बहुत बड़े-बड़े काम निकाल लेते हैं। अब सच का जमाना ही कहाँ है · · · · · आदि। परन्तु भाई ! यह उनकी मिथ्याशल्य है और उनके अनंत संसार का कारण है।
इसीप्रकार अदत्र ग्रहण में - में पर की वस्तु चुराकर ले सकता हूँ - ऐसा अध्यवसाय भी मिथ्यात्व है तथा पापबन्ध का कारण है। देखो, अदत्रग्रहण में हुई जड़ की क्रिया में तथा अपने चोरी के परिणाम में अहंकार करता है कि देखो! में ने कितनी हाथ की सफाई से, कितनी तरकीब से चोरी की, जिसे साधारण पुलिस तो क्या खुफिया पुलिस भी नहीं पकड़ पायी। पर भाई! यह अहंकार रूप तेरा अध्यवसाय पापबंध का कारण तो है ही; मिथ्यात्व के महापाप से भी लिप्त है। अतः अनंत संसार का कारण है।

इसीप्रकार अब्रह में विषय-भोगों का - मैथुन का जो भाव है, वह तो अशुभ भाव है। उसमें कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि का होना और भी बड़ा अपराध है, जोकि अनन्तसंसार का कारण है। शारीरिक मैथुन की क्रिया में कर सकता हूँ - ऐसा अध्यवसाय मिथ्यात्व है।

भगवान आत्मा शुद्ध एक ज्ञायकभावमात्र ग्रहावन्द स्वरूप है। तथा शरीर तो जड़-भिन है। वहाँ विषय सेवन में शरीर की जो क्रिया होती है, वह में करता हूँ - ऐसा मानना मिथ्यात्व है और उसका फल अनन्त संसार है।

इसीप्रकार परिप्रेक्ष में - में वस्त्र रख सकता हूँ; रुपया-पेसा रख सकता हूँ; पेसा कमा सकता हूँ; पेसे की व्यवस्था कर सकता हूँ; सोना-चौंदी, शरीर, वाणी, आदि पर की क्रिया कर सकता हूँ - ऐसा जो पर के परिप्रेक्ष एकत्र का अध्यवसाय है - वह मिथ्यात्व है और वह चार गतिरूप संसार में भटकने का कारण है।

इसप्रकार, अज्ञानी को असत्य, अदत, अब्रह और परिप्रेक्ष में जो पर के एकत्ररूप अध्यवसाय है वह पापबंध का कारण है।

अहा! बीतराग का मार्ग संसार के मार्ग से सर्वथा भिन है, बिलकुल उल्टा है। जो ज्ञान की पर्याय का परिणाम मात्र परसमृज्ज होता है, वह मिथ्यात्व सहित होने से मिथ्याज्ञान है और वही संसार का कारण बनता है। तथा जो ज्ञान का परिणाम भगवान ज्ञायक के समुख होकर होता है, वह सम्यज्ञान है और वही मोक्ष का कारण है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com
समवसार गाथा २६३-२६४

ज्ञानी को भी भूमिकानुसार अस्थित्व के कारण यतिकिंचित् हिंसा-शृङ्ख-चोरी आदिरूप अशुभ राग भी होता है; परन्तु उनमें ज्ञानी को एकत्र एवं कर्मवृत्ति की बुद्धिरूप मिथ्या अध्यवसाय नहीं रहता। उसे राग का अनन्त रस ढूट गया है; और चारित्रमोह जनित जो अल्प रस सहित बन्ध पड़ता है, उसे यहाँ गिना नहीं गया है; क्योंकि वह भी अल्पकाल में निजरने वाला है।

उन अल्परागरूप अस्थित्व के परिणामों की मुख्यता से देखें तो ज्ञानी को भी उन परिणामों जनित पापबंध तो होता ही है। परन्तु उस राग को यहाँ गौण करके अबन्ध कहा है। सर्वथा अवन्ध मानने वाले भूत में हैं।

अब आगे इससे सूक्ष्म बात कहते हैं। ‘में पर को बचा सकता हूँ, दूसरों की दया पाल सकता हूँ’ — ऐसा जो अध्यवसाय है तथा इसी प्रकार ‘में सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह का पालन करता हूँ, कर सकता हूँ’ — ऐसा जो अध्यवसाय है, वह मिथ्यात्म है एवं पुन्य बंध का कारण है।

तीन लोक के नाथ सर्वज परमात्मा, जिन्हें एक समय में सब कुछ ज्ञान में झलकता है; उनकी वाणी में ऐसा आया है कि हिंसादि की भौति अहंसा, सत्यादि का अध्यवसाय भी मिथ्या है और वह पुन्यबंध का कारण है। पुन्यबंध की बात सुनकर खुश होने जैसा नहीं है; क्योंकि पुन्य व पाप दोनों में ही बन्ध का कारण तो अहंकार युक्त एक मिथ्या अध्यवसाय ही है। पुन्य भला तथा पाप बुरा — दोनों में ऐसा अन्तर करना उचित नहीं है। बन्ध की अपेक्षा दोनों समान ही हैं।

इसप्रकार जो पाँच अवतार पापरूप हैं एवं पाँच महाव्रत पुन्यरूप हैं, इन्हें में करता हूँ या कर सकता हूँ, — ऐसा जो अध्यवसाय है, वह मिथ्यात्म है और यह पाप व पुन्यबंध का कारण होता है। महाव्रत के परिणाम भी में करूँ — ऐसी जो एकत्रबुद्धि है, वह मिथ्यात्म सहित पुन्यबंध का कारण है, उसमें जरा भी धर्म नहीं है।

प्रश्न — शुभभावों में जितनी अशुभभाव की निवृत्ति है, उतना तो धर्म है न? तथा जितना शुभभाव है उतना पुन्यबंध का कारण है — ऐसा मानने में क्या दोष है?
उत्तर — अरे भाई! यह तो सर्वथा विपरीत बात है। मिथ्यात्म सहित जो पुण्य परिणाम होते हैं, शुभभाव होते हैं, उनसे पुण्य बंध तो होता है, पर धर्मरूप संवर-निर्जरा किंचित् भी नहीं होती। मिथ्यादृष्टि का शुभभाव संवर का कारण नहीं है।

अरे भाई! अज्ञानी जीवों के अहिंसादि के पालन करने में पर में जो कर्तृत्व व एकलबुद्धि का परिणाम है, वह मिथ्यात्म है। तथा शुभभावरूप अध्यवसाय एकमात्र पुण्य बंध का कारण है - यह तो सत्य है; किन्तु वह जरा भी धर्म या संवर-निर्जरा का कारण नहीं है।

मोक्षमार्गप्रकाशक के चौथे अधिकार में आता है कि मिथ्यादर्शन के कारण अज्ञानी जीव बाह्य सामग्री का संयोग होने पर उसे भी अपनी मान लेता है। पुत्र-श्री, धन-धान्य, हाथी-घोड़ा, मन्दिर व नौकर-चाकर आदि तो अपने से प्रत्यक्ष भिन्न हैं। देखो, प्रत्यक्ष भिन्न वस्तु में ममकार-अहंकार करना ही मिथ्यादर्शन है।

अपरिग्रह में धनादि के दान देने का भाव शुभभाव है। तथा धन आदि जाने की खिया जो होती है वह तो पर की खिया है। उसमें जीव का कुछ कर्तृत्व नहीं है। फिर भी यदि कोई उसमें अपना कर्तृत्व भाव जोड़े और तत्सम्बन्धी शुभभावों को अपना कर्तृत्व माने तो उसका वह अहंकार व ममकार भाव पुण्यबंध का कारण है; पर है तो वह मिथ्यात्म है।

पण्डित टोडमरलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में शास्त्रों के गंभीर रहस्य खोले हैं। बहुत खुलासा किया है। वहाँ मुख्यरूप से यह कहा गया है कि एक मिथ्या अध्यवसाय ही अनन्त संसार का कारण है।

यहाँ एकदेश अर्थात् शावक के पाँच अणुव्रतों में और सर्वदेश अर्थात् मुनियों के पाँच महात्रतों में जो शुभभाव रूप अध्यवसाय होते हैं, वे पुण्य बंध के कारण हैं - ऐसा कहा है।
समयसार गाथा २६५

न च बाह्यवस्तु द्वितीयोऽपि बन्धहेतुरिति शांक्यम् ।  
वत्थुं पद्यच्यं जं पुण्य अज्ञावसानं तु होदि जीवाणम् ।  
ण य वत्थुदो तु बंधो अज्ञावसाणेण बंधोति ॥ २६५॥  

वस्तु प्रतीतिय यत्पुनररधवसानं तु भवति जीवानाम् ।  
न च वस्तुतस्तु बन्धोसध्वसाणेन बंधोति ॥ २६५॥  

अध्यवसानमेव बन्धहेतुः न तु बाह्यवस्तु, तस्य बन्धेरोरध्वसानस्य 
हेतुत्त्वेनैव चरितार्थत्वत् । तत्स किमत्रथ बाह्यवस्तुप्रतिषेधः।  
अध्यवसानप्रतिषेधार्थः। अध्यवसानस्य हि बाह्यवस्तु आश्रयभूतः; न हि 
बाह्यवस्त्वनाशित्य अध्यवसानानात्मानां लभते। यदि बाह्यवस्त्वनाशित्य अध्यवसान 
अध्यवसानं जायेत् तदा, यथा चीरस्यूतस्य अश्रयभूतस्य सद्वाभ चीरस्यूतुं 
हिन्स्मीत्यध्वसायो जायेत्, तथा वंध्यासुतस्य अश्रयभूतस्यासद्वाभ चीरस्यूतुं 
हिन्स्मीत्यध्वसायो जायेत्। न च जायेत्। ततो निराश्रयं 
नास्त्यध्वसानामिति नियमः। तत् एव चाध्यवसानाश्रयभूतस्य 
बाह्यवस्तुनोऽस्त्यंप्रतिषेधः। हेतुप्रतिषेधेनैव हेतुमप्रतिषेधात्। न च 
बन्धेरुतुहेतुद्वे सत्यपि बाह्यवस्तु बन्धेरुतुः स्वात्, ईर्यासमिति- 
परिवर्तणतयतीन्द्र पद्यच्यापादायमानवेगापतवत्काल चोदितकु लिङ्गवत्, 
बाह्यवस्तुनो बन्धेरुत्तौरवन्धेरुतुल्चेन बन्धेरुत्तुम्यासानाकांतिकवातः। अतो 
न बाह्यवस्तु जीवायत्रावो बन्धेरुतुः। अध्यवसानमेव तस्य तद्भवावो 
बन्धेरुतुः। 

और भी ऐसी शंका न करनी कि ‘बाह्यवस्तु वह दूसरा भी बन्ध का कारण 
होगा’। (‘अध्यवसाय बन्ध का एक कारण होगा और बाह्यवस्तु बन्ध का दूसरा 
कारण होगा’ ऐसी भी शंका करने योग्य नहीं है; अध्यवसाय ही एकमात्र बन्ध 
का कारण है, बाह्यवस्तु नहीं।) इसी अर्थ की गाथा अब कहते हैं ।:-  
ये भाव अध्यवसान होते वस्तु के अवलम्ब से ।  
पर वस्तु से ना बंध हो हो बंधः अध्यवसान से ॥ २६५॥

टीका - अध्यवसान ही बन्ध का कारण है, बाह्य वस्तु नहीं; क्योंकि बन्ध का कारण जो अध्यवसान है उसके कारणतः से ही बाह्यवस्तु की चलितार्थता है (अर्थात् बन्ध के कारणभूत अध्यवसान का कारण होने में ही बाह्यवस्तु का कार्यक्षेत्र पूरा हो जाता है, वह वस्तु बन्ध का कारण नहीं होती)। यहाँ प्रश्न होता है कि - यदि बाह्यवस्तु बंध का कारण नहीं है तो (‘बाह्यवस्तु का संग मत करो, किन्तु त्याग करो’ इसप्रकार) बाह्यवस्तु का निषेध किसीलिए किया जाता है? इसका समाधान इसप्रकार है :-

अध्यवसान के निषेध के लिये बाह्यवस्तु का निषेध किया जाता है। अध्यवसान को बाह्यवस्तु आश्रयभूत है; बाह्यवस्तु का आश्रय किये बिना अध्यवसान अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं होता अर्थात् उत्पन्न नहीं होता। यदि बाह्यवस्तु के आश्रय के बिना भी अध्यवसान उत्पन्न होता हो तो, जैसे आश्रयभूत वीरजननी के पुत्र को मारता हु’ इसप्रकार आश्रयभूत बंधुपुत्र के असद्भाव में भी (किसी को) ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न होना चाहिए कि ‘में बंधुपुत्र को मारता हु’। परन्तु ऐसा अध्यवसान तो (किसी को) उत्पन्न नहीं होता। (जहाँ बंध्या का पुत्र ही नहीं होता वहाँ मारने का अध्यवसाय कहाँ से उत्पन्न होगा ?) इसलिये यह नियम है कि (बाह्यवस्तुरूप) आश्रय के बिना अध्यवसाय नहीं होता और इसलिए अध्यवसाय को आश्रयभूत बाह्यवस्तु का अत्यन्त निषेध किया है; क्योंकि कारण के प्रतिपेध से ही कार्य का प्रतिपेध होता है। (बाह्यवस्तु अध्यवसाय का कारण है इसलिए उसके प्रतिपेध से अध्यवसाय का प्रतिपेध होता है)। परन्तु, यद्यपि बाह्यवस्तु बन्ध के कारण का (अर्थात् अध्यवसाय का) कारण है तथापि वह (बाह्यवस्तु) बंध का कारण नहीं है; क्योंकि इंतेरसेमिटि में परिणमित मुनीद्र के चरण से मर जानेवाले - ऐसे किसी वेग से आपतित कालप्रेत उड़ते हुए जीव की भांति, बाह्यवस्तु
समयसार गाथा २६५

- जोकि बन्ध के कारण का कारण है वह - बन्ध का कारण न होने से, बाह्यवस्तु को बन्ध का कारणत्व मानने में अनैकान्तिक है व्यभिचार आता है। (इसप्रकार निर्णय से बाह्यवस्तु को बन्ध का कारणत्व निर्वाचनत्य सिद्ध नहीं होता।) इसलिये बाह्यवस्तु जो कि जीव को अस्त्यवावृत्त है वह बन्ध का कारण नहीं है; किन्तु अध्यवसाय जो कि जीव को तद्भववृत्त है वही बन्ध का कारण है।

भावार्थ - बन्ध का कारण निर्णय से अध्यवसाय ही है; और जो बाह्यवस्तुएँ हैं वे अध्यवसाय का आलम्बन है। उनको अवलंब कर अध्यवसाय उत्पन्न होता है, इसलिए उन्हें अध्यवसाय का कारण कहा जाता है। बाह्यवस्तु के बिना निराश्रयत्याः अध्यवसाय उत्पन्न नहीं होते इसलिए बाह्यवस्तुओं का त्याग कराया जाता है। यदि बाह्यवस्तुओं को बन्ध का कारण कहा जाये तो उसमें व्यभिचार (दोष) आता है। (कारण होने पर भी कहाँ कार्य दिखाई देता है और कहाँ नहीं दिखाई देता उसे व्यभिचार कहते हैं और ऐसे कारण को व्यभिचारी-अनैकान्तिक-कारणभास कहते हैं।) कोई मुनि इर्षयासमितिपूर्वक यत्न से गमन करते हैं और उनके पैर के नीचे कोई उड़ता हुआ जीव वेगपूर्वक आ गिरे तथा मर जाये तो मुनि को उसकी हिंसा नहीं लगती। यहाँ यदि बाह्यवस्तु से देखा जाये तो हिंसा हुई है, परंतु मुनि के हिंसा का अध्यवसाय नहीं होने से उन्हें बन्ध नहीं होता। जैसे पैर के नीचे आकर मर जानेवाला जीव मुनि के बन्ध का कारण नहीं है उसप्रकार अन्य बाह्यवस्तुओं के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। इसप्रकार बाह्यवस्तु को बन्ध का कारण मानने में व्यभिचार आता है, इसलिये बाह्यवस्तु बन्ध का कारण नहीं है यह सिद्ध हुआ। और बाह्यवस्तु का आश्रय फिर बिना अध्यवसाय नहीं होता, इसलिये बाह्यवस्तु का निपेध भी है ही।

गाथा २६५, टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

प्रश्न - पर में एकत्र का अध्यवसाय बन्ध का कारण है, यह तो टीक; पर जिनके कारण अध्यवसाय होता है, वे पदार्थ या बाह्य वस्तुएँ भी बन्ध के कारण हैं या नहीं?
उत्तर - अरे भाई! ऐसी तो शंका ही नहीं करना। बाह्यवस्तुएँ कभी भी बंध का कारण नहीं होतीं। एकमात्र तत्संबंधी अपना अध्यवसाय ही बंध का कारण होता है।

‘मैंने हिंसा, झूठ चोरी आदि नहीं को अथवा आहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि तथा दया, दान आदि किए’ - ऐसा जो पर के साथ की एकत्रबुद्धि का अध्यवसाय है, वही एकमात्र बंध का कारण है। शरीरादि बाह्य वस्तुओं से जो क्रिया होती है, वह बंध का कारण नहीं है।

यद्यपि अपने में हुए अध्यवसाय का आश्रय बाह्यवस्तु का है, पर वे बाह्य-वस्तुएँ बंध का कारण नहीं हैं। बंध का कारण तो एकमात्र अध्यवसाय ही है। यही आश्रय इस गाथा में प्राप्त किया गया है। यद्यपि बाह्यवस्तुएँ अध्यवसाय का आश्रय है; जो अध्यवसाय या विभाव परिणाम हुआ है, उसका निमित्त कारण बाह्य वस्तुएँ हैं, तथापि वे बाह्यवस्तुएँ बन्ध का कारण नहीं हैं।

यह शरीर इन्द्रिय, वाणी, धन, लक्ष्मी, स्त्री-परिवार आदि परवस्तुएँ (बाह्यवस्तुएँ) बंध की कारण नहीं हैं। शरीरादि की क्रिया भी बंध का कारण नहीं है।

यहाँ प्रस्तुत उपस्थित होता है कि यदि बाह्यवस्तुएँ बंध का कारण नहीं हैं तो बाह्यवस्तुओं के लय का उपदेश क्यों दिया जाता है? बाह्यवस्तुओं के उपभोग का निषेध क्यों किया जाता है?

इसका समाधान यह है कि अध्यवसाय के प्रतिषेध के लिए बाह्यवस्तुओं का निषेध किया जाता है। अध्यवसाय को आश्रयभूत बाह्यवस्तुएँ हैं। बाह्यवस्तुओं का आश्रय किए बिना अध्यवसाय उपनन नहीं होता।

यदि बाह्यवस्तु के आश्रय किए बिना भी अध्यवसाय उपनन होता हो तो जिसप्रकार आश्रयभूत बीरजननी के पुत्र के सद्भाव में किसी को ऐसा अध्यवसाय उपनन होता है कि में बीरजननी के पुत्र को माहूँ; उसीप्रकार आश्रयभूत बंध्यापुत्र के असद्भाव में भी किसी को ऐसा अध्यवसाय उपनन होना चाहिए कि में बंध्यापुत्र को मारता हूँ; परन्तु ऐसा अध्यवसाय तो किसी को उपनन नहीं होता।
समयसार गाथा २६५

जहाँ बंध्या का पुत्र ही नहीं होता, वहाँ मार्ग का अध्यवसाय कहाँ से उत्पन्न होगा? अतः यह नियम है कि ‘आश्रय के बिना अध्यवसाय नहीं होता।’

इसलिए, अध्यवसाय को आश्रयभूत बाह्यवस्तुओं का निषेध किया गया है; क्योंकि कारण के प्रतिषेध से ही कार्य का प्रतिषेध होता है।

यद्यपि बाह्यवस्तु का बंध का कारण कहाँ है, पर वह बाह्यवस्तु वस्तुतः बंध का कारण नहीं है; क्योंकि ईर्षयमितिपूर्वक गमन करते हुए मुनिराज के पंग के नीचे आ जाने वाले काल प्रेरित उड़ते-падते जीव की भूमि, बाह्यवस्तुएँ जिन्हें कि बंध के कारण का कारण कहा है, वे वस्तुतः बंध के कारण नहीं हैं। उक्त बाह्यवस्तुओं को कारण मानने में अनौपचारिक है।

इसप्रकार निर्विवाद से बाह्यवस्तु को बंध का कारणपना निर्वाच गति से सिद्ध नहीं होता। इसलिए बाह्यवस्तु जो जीव को अत्द्भावरूप है, वह बंध का कारण नहीं है।

जो भी विभाव परिणाम होते हैं, उन परिणामों के होने में बाह्यवस्तु निमित्त है। यद्यपि समयेर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्विवाद धर्म के परिणाम स्वदेश के आश्रय से उत्पन्न होते हैं, तथापि वह स्वदेश (त्रिकाली चैतन्य महाप्रभु) मोक्ष का कारण नहीं है; क्योंकि मोक्ष का कारण तो शुद्धरक्त्र वा परिणाम है। हाँ, शुद्धरक्त्र के परिणाम का; संबंध-निर्ज्ञरा के परिणाम का आश्रय स्वदेश है - यह वात सत्य है; तथापि ये पददेश बन्ध या मुक्ति के कारण नहीं हैं।

जिनके सम्पर्क में आने से चित आकर्षित हो जाता है; ऐसे स्थानों में तो न जाया जाय न?

उन वस्तुओं की ओर आकर्षित होने का भाव तो जीव का स्वयं का है न? परवस्तुएँ तो निमित्तमात्र हैं। इसकारण परवस्तु कभी भी बंध का कारण नहीं बनती। फिर भी वस्तुओं को त्यागने का उपदेश जिनवाणी में है। यह सब कारण का कारण होने से व्यवहार से कहा गया है।

प्रवचनसार के ज्ञानान्धिकार गाथा ६७ में आता है कि ‘विषय-अंकितचित्कर हैं’। पाँच इन्द्रियों के विषय जीव को रागरूप विभाव के परिणाम नहीं करते;
बल्कि जीव ही स्वयं विषयों के प्रति रागदिभाव रूप परिणमत है। जीव स्वयं जो रागदि परिणाम करता है, उनके होने में परवस्तुएँ आश्रयरूप अवश्य होती हैं। परन्तु वे परिणाम उन परवस्तुओं के कारण होते हों; परवस्तु के परिणामने से परिणमते हों - ऐसा नहीं है।

यह बात सच है कि परद्रव्य वंध का कारण नहीं है, तथापि परद्रव्य का आश्रय अथवा लक्ष्य छुड़ाने के लिए ‘परद्रव्य से संसर्ग न रखो’ - ऐसा उपदेश जिनवाणी में है।

अध्यवसाय छुड़ाने के लिए पर का आश्रय छुड़ाते हैं, परन्तु पर को छोड़ने के लिए अध्यवसाय को छोड़ने की बात नहीं है। परवस्तु तो छोटी ही है, उसे कहाँ छोड़ना है? जहाँ ‘पर को छोड़ो’ ऐसा कहा है, वहाँ पर के आश्रय से होनेवाले अध्यवसाय को छोड़ने की बात है। भाई! इसमें तो बस इतना कहा जा रहा है कि जो लक्ष्य पर के ऊपर है, वह पलटकर स्व के ऊपर आ जाता है। ११वीं गाथा में जो ऐसा आता है कि भूतार्थ के आश्रय से जीव सम्यग्दृष्टि होता है, उसका भी यही अर्थ है। वहाँ भूतार्थ का अर्थ स्वद्रव्य है और स्वद्रव्य के आश्रय से लक्ष्य से जीव सम्यग्दृष्टि होता है। परद्रव्य के लक्ष्य से तो विभावरूप मिथ्यादर्शन ही होता है।

अहाहा! भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है। यदि यह जीव स्वयं उस आनन्दस्वरूप अपने आत्मा पर लक्ष्य करे तो मोक्ष की पर्याय ही प्रगट होती है।

यद्यपि यह बात सत्य है कि त्रिकाली द्रव्य के लक्ष्य से मोक्ष की निर्मल पर्याय प्रगट होती है, तथापि वह त्रिकाली द्रव्य उस मोक्ष पर्याय का दाता नहीं है, मोक्ष पर्याय को उत्पन्न करने/कराने वाला नहीं है। शुद्ध रत्नरूप जो मोक्ष का मार्ग है, उस मोक्षमार्ग का लक्ष्य यद्यपि त्रिकाली द्रव्य पर है; परन्तु वह द्रव्य पर्याय का दाता नहीं है। मोक्षमार्ग व मोक्ष की पर्याय का कर्ता द्रव्य नहीं है, पर्याय स्वयं अपनी कर्ता है। देखो यह वस्तु की स्वतंत्रता!

प्रश्न - पर्याय होती तो द्रव्य से ही है न?
उत्तर — ‘द्रव्य में से पर्याय होती है’ यह व्यवहार का कथन है। वस्तुतः पर्याय जो होती है, वह स्वरूप अपने पद कारकों से सम्पन्न होती है। यदि द्रव्य से पर्याय हो तो प्रत्येक पर्याय भिन्न-भिन्न रूप कियों होती है? सभी पर्यायों एक जैसी ही होनी चाहिएँ। पर्यायों में शुद्धि की जो क्रमशः वृद्धि होती जाती है उसी से सिद्ध होता है कि प्रत्येक पर्याय अपने स्वतंत्र स्वच्छता से होती है। हाँ, यह अवश्य है कि इस शुद्ध पर्याय का आश्रय स्वद्रव्य है।

इसीप्रकार हिंसा, सृष्ट, चोरी आदि अथवा भक्ति, दया, दान, ब्रत, पूजा आदि अशुभ का या शुभयोगों में भी जो मनन-तीव्रता रूप तारतम्यता आती है, वह भी स्वरूप पर्याय के कारण से ही आती है, पर के कारण नहीं। परन्तु विभव परिणाम होने में ततस्मातः परवस्तु का आश्रय अवश्य होता है।

प्रश्न — वर्तमान में बाहवस्तु विद्यमान न हो – मौजूद न भी हो तो भी विभव परिणाम (अध्यवसाय) तो होता ही है न?

उत्तर — भाई! विभव परिणाम या अध्यवसाय होने में बाह्यवस्तु का आश्रय तो अवश्य होता ही है, भले ही वह वस्तु वर्तमान में समीप न हो। बाह्यवस्तु का कार्य के समीप होने का नियम नहीं है, परन्तु उसका आश्रय तो होता ही है।

मोक्षमार्गप्रकाशक के चतुर्थ अधिकार में आता है कि पापी जीवों के तीव्र मोह होने से बाह्य कारण के न होते हुए भी उसके संकल्प होने के कारण राग-द्रव्यों होते देखा जाता है। तत्पर्य यह है कि भले ही बाह्य पदार्थ तत्काल हाजिर न हो, समीप न हो, तो भी मन में उसकी कल्पना करके विभव के परिणाम अज्ञानी करता है। इसप्रकार रागादि अध्यवसाय जो होते हैं, उनमें बाह्यवस्तु का आश्रय तो होता ही है। यद्यपि बाह्यवस्तु अध्यवसाय उत्पन्न नहीं करती; तथापि अज्ञानी के जो हिंसादि का अध्यवसाय होता है, बाह्यवस्तु के आश्रय से ही होता है।

सचिवदान्दस्वरूप भगवान आत्मा अन्तर में स्वरूप विराजता है, परन्तु अज्ञानी को उसका लक्ष्य नहीं है। अज्ञानी का लक्ष्य बाह्यवस्तु पर है।
बाह्यवस्तु के लक्ष्य से - आश्रय से परिणमते हुए उसे हिंसा-अहिंसादि का अध्यवसाय उत्पन्न होता है। वह अध्यवसाय ही उसके बन्ध का कारण है। परवस्तु तो मात्र उस अध्यवसाय के उत्पन्न होने में निम्नित कारण है। वह बंध का कारण नहीं है।

श्री जयसेनाचार्य की टीका में उसे परम्परा कारण कहा है। इसका अर्थ ही यह है कि वह साक्षात्सीधा कारण नहीं है। यथार्थ वस्तुस्थिति जैसी है, वैसी ही यहाँ सिद्ध की गई है।

अध्यवसाय को बाह्यवस्तु आश्रयभूत है; बाह्यवस्तु का आश्रय किए बिना अध्यवसाय अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं होता। जिसतरह स्व के आश्रय के बिना निर्मल-निर्विकारी परिणाम कभी भी - त्रिकाल में भी नहीं हो सकता; उसीप्रकार बाह्यवस्तु के आश्रय बिना बंध का परिणाम भी नहीं हो सकता।

अब कहते हैं कि यदि बाह्यवस्तु का आश्रय लिए बिना भी अध्यवसाय उत्पन्न होता है तो 'में बंध्यापुत्र को मारता हूँ' - ऐसा अध्यवसाय भी उत्पन्न होना चाहिए। जबकि आश्रयभूत बंध्यापुत्र के अभाव में ऐसा भाव ही उत्पन्न नहीं होता।

देखो! यहाँ अध्यवसाय के उत्पन्न होने में बाह्यवस्तु का आश्रयभूत सिद्ध करते हैं। वीरजन्नी के पुत्र का अस्तित्व होने से उसी के हनने का भाव हो सकता है। जब बंध्य के पुत्र का अस्तित्व ही नहीं है तो उसका आश्रय भी कहाँ से होगा? जब आश्रय ही नहीं तो वैसा अध्यवसाय भी कैसे होगा? अतः यह नियम है कि बाह्यवस्तु के आश्रय बिना अध्यवसाय होता ही नहीं है।

आत्मा में जो आश्रय-बंध के भाव होते हैं, वे पर के आश्रय बिना नहीं होते। इसका अर्थ यह नहीं है कि बाह्यवस्तु का अस्तित्व है - इसकारण आश्रय-बंध होता है। विलक्प परवस्तु के आश्रय बिना आश्रय-बंध नहीं होता।

इसीकारण अध्यवसाय की आश्रयभूत बाह्यवस्तु का अत्यन्त निषेध है, क्योंकि कारण के बिना कार्य का प्रतिपेध होता है।
बाह्यवस्तु अध्यवसान की आश्रयभूत है। इसलिए अध्यवसान का त्याग करने के लिए बाह्यवस्तु का त्याग करने में आता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मलिन या निर्मल परिणामों के होने में बाह्यवस्तु के प्रहण-त्याग की पराधीनता है। दोनों स्वाधीन होते हुए भी दोनों में सहज निमित्त-नैनिमित्तिक सम्बन्ध हो सकता है - ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है।

यहाँ जो बाह्यवस्तु के त्याग का उपदेश दिया - उसका अभिप्राय तो पराश्रय से उत्पन्न हुए अध्यवसान का त्याग करना है। अहा ! ऐसा कहकर पर का आश्रय छुड़ाकर स्व का आश्रय करने का प्रयोजन है। यदि कोई स्व का आश्रय तो करे नहीं और बाह्य में स्त्री-कुपट्टा, घरबार, वस्त्र आदि का त्याग करदे तो उससे कुछ भी प्रयोजन पूरा नहीं होगा; क्योंकि पराश्रय तो मौजूद ही है।

अहा ! जिसतरह सम्यगदर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम स्वदेश के आश्रय से होते हैं; उसीप्रकार विकारी परिणाम श्रद्धालु के आश्रय से होते हैं। यह कितनी सीधी और स्पष्ट बात है। फिर भी जगत कहता है कि व्यवहार-रत्नत्रय के परिणाम स्वदेश के आश्रय से प्राप्त होते हैं।

अरे प्रभु ! तू यह क्या कहता है ? व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम जो होते हैं, उनका आश्रय तो बीतरागी देव-शास्त्र-गुरु हैं। पर ये तो परवस्तु हैं और इनके आश्रय से हुआ शुभभाव पुण्यबंध का कारण है। देव-शास्त्र-गुरु पुण्यबंध के कारण नहीं है; किन्तु देव-शास्त्र-गुरु के आश्रय से हुआ शुभभाव-व्यवहार-रत्नत्रय का परिणाम पुण्यबंध का कारण है। निश्चय-रत्नत्रयरूप - धर्म के परिणामों को तो त्रिकाली एक ज्ञायक वस्तु का ही आश्रय होता है। ११६१था गः में भी आया है न ? "शूद्रस्वस्मिसदृशयानु सम्मादिनिहाय जीवो"। सम्यगदर्शन में तो मात्र एक भूतार्थ अखण्ड ज्ञायकभाव मात्र आत्मवस्तु ही आश्रय करने योग्य है। अहा ! धर्म के परिणामों को तो त्रिकाली - एक सत्यार्थ-चिदानन्दधन-प्रभु आत्मा का ही आश्रय होता है।

जिसतरह मोक्ष का परिणाम एक अखण्ड-त्रिकाली धूष-विद्वानन्द आत्मा के आश्रय से होता है; उसीतरह बंध का परिणाम भी हिंसा-धूष आदि के तथा
दया-दान-भक्ति आदि के परिणाम परद्रव्य के आश्रय से होता है। यह भगवान की भक्ति-पूजा का जो शुभभाव होता है, उसका आश्रय भगवान का विनित-जिनिविम्ब होता है। जिनिविम्ब बंध का कारण नहीं है; बंध का कारण तो जीव का शुभभाव है। यह मिथ्यात्व सहित की बात है। यहाँ मिथ्यादृष्टि जीव के शुभभावों की अपेक्षा कथन किया जा रहा है।

देखो! कोई दस-बीस लाख रुपया खर्च करके मन्दिर बनावे और उसमें जिनिविम्ब की प्रतिष्ठा करावे। अब इस बात पर विचार करों कि जो मन्दिर बना, वह तो पर की क्रिया है - पुदूर्गल के परमाणुओं का परिणाम है। उसका बनना यद्यपि बनानेवाले के शुभभावों के लिए आश्रयभूत है; तो भी उसकी उन शुभभाव मन्दिर के कारण नहीं हुए, उन शुभभावों का कारण मन्दिर का निर्माण नहीं है। हालांकि यह भी सच है कि मन्दिर का निर्माण उन शुभभावों के आश्रय बिना नहीं हुआ। तथा ये शुभभाव जिसके आश्रय से हुए हैं, वह मन्दिर उसे पुण्य बंध का कारण नहीं है, बल्कि शुभभाव ही बंध के कारण हैं।

अहा! ऐसा वीतारागी मार्ग! जिसे समझना भी कठिन पड़ता है; फिर भी समझना तो पड़ेगा ही। अतः शांति से धीरे-धीरे समझने का प्रयत्न करना। अहा! बंध का कारण जीव का भाव है; उन भावों की आश्रयभूत बाह्यवस्तूएं - मन्दिर व जिनिविम्ब आदि बंध के कारण नहीं हैं। ऐसा होते हुए भी ये शुभ या अशुभ भाव बाह्यवस्तु के आश्रय बिना नहीं होते। इसलिए धर्मों के स्वद्रव्य का आश्रय वर्तता ही है। उस स्वद्रव्य की मुख्यता में किंचित् परद्रव्य के आश्रय से हुए परिणामों को वह गौण कर देता है।

यहाँ कहते हैं कि जिसने स्वद्रव्य में एकत्र स्थापित करके स्वद्रव्य के आश्रय से निर्मल रत्नत्रय का परिणाम प्राप्त कर लिया है, उसको परद्रव्य के आश्रय से कोई परिणाम होता ही नहीं है। ऐसा वीतारागीता का कोई अलौकिक मार्ग है। परस्तु बेचारे अज्ञानी जीवों को लोकिक कारयों में अटके रहने के कारण ऐसे तत्त्व का परिचय ही नहीं है; तत्त्वज्ञान के अभ्यास करने का अवसर ही उन्हें नहीं मिलता। देखो न! पच्चीस-पच्चीस वर्ष तक लोकिक पढ़ाई में
समय चला जाता है। डॉक्टर बनता है, इजीनीयर बनता है; इसी बीच में आयु समाप्त हो जाय तो गये काम से। अमेरिका में जाकर पढ़ता है, ९० प्रतिशत अंकों से पास होता है; इसकारण स्वयं के और कुटुंबीयों के हर्ष का पार नहीं रहता। पर विचार तो करो। इसका एक अर्थलाभ के सिवाय और क्या लाभ है? अर्थलाभ, पुण्योदय के बिना नहीं मिलता; फिर उस लौकिक पढाई का क्या लाभ? पुण्योदय हो तो कम लड़ा-लिखा भी लाखों कमाता है और पुण्य फले न हो तो पढ़े-लिखे को भी रोटियों के लाले बने रहते हैं। जरा सोचो तो सही!

अरे ! तत्त्वज्ञानी को तत्त्वाध्याय के फल में अत्यकाल में केवलज्ञान व अनन्तसुख की प्राप्ति होती है। जिसने इस आत्मा को पढ़ा है, आत्मज्ञान की पढ़ाई को ही सच्ची पढ़ाई माना है; उसे मोक्षसुख की प्राप्ति होती है। स्वरूप में एकत्व का परिणाम ही मोक्ष का कारण है। धर्मी को निश्चय से तो एक स्व के साथ ही एकत्वबुद्धि का परिणाम होता है। पर के साथ ज्ञानी का एकत्व नहीं होता। इसकारण साधारण रूप से जो अस्थित्व का परिणाम होता है, उसे यहाँ गौण कर दिया है।

आगे कहते हैं कि इसलिए ऐसा नियम है कि बाह्यस्वतु के आश्रय के बिना अध्यवसाय नहीं होता। जिसतरह बंध्या के पुत्र नहीं है तो उसे मारने का अध्यवसाय नहीं होता; उसी प्रकार पर के आश्रय बिना कोई भी बन्ध का विकारी परिणाम नहीं होता। विकारी परिणाम का आश्रय परपदर्थ है और निर्विकारी परिणाम का आश्रय स्व है। इसकारण विकारी परिणाम के (शुभभाव के) आश्रय से निर्विकारी (शुद्ध) परिणाम कभी हो ही नहीं सकता; होता ही नहीं है। ठीक इसीतरह निर्विकारी (शुद्ध) चैत्यमात्र वस्तु के आश्रय से विकारी परिणाम कभी हो ही नहीं सकता, होता ही नहीं है। जिसको स्व-स्वरूप शुद्ध विज्ञानिन वस्तु में एकत्व सहित स्व का आश्रय है, उसको मोक्षमार्ग है। उसको पर में एकत्व का परिणाम नहीं है; इसकारण बंध नहीं है। जिसको पर के एकत्पूर्वक पराश्रय का परिणाम है, उसको जो बंधमार्ग
है, उसमें किंचित् भी मोक्ष का कारणपना नहीं है। बस इसी का नाम सम्पूर्ण
अनेकान्त है।

शुभभाव को बन्ध का भी कारण मानना व मोक्ष का भी कारण मानना -
यह अनेकान्त नहीं है। इसीप्रकार शुद्ध भाव को मोक्ष का भी कारण मानना 
और बंध का भी कारण मानना - ऐसा अनेकान्त मानना यथार्थ नहीं है।

वेदान्ती की भाँति ‘सब मिलकर एक ही है’ - ऐसा मानने से तो स्व व 
पर की सिद्धि ही नहीं होगी। मोक्षमार्ग का उपदेश करना तो तभी संभव है 
जब कि वर्तमान में पर के आश्रय से बन्धमार्ग होता है। इसमें स्व व पर -
दोनों की सिद्धि हो जाती है। तथा पर का आश्रय छोड़कर स्व का आश्रय करना 
- ऐसा उपदेश आते ही स्व आत्मतत्व पर से भिन्न सिद्ध हो गया।

अरे बापू ! यह तो चीतागता का अलौकिक मार्ग है। इसका अन्य 
वेदान्तादि किसी भी मत से मेल नहीं खाता। अहा ! जैसा आत्मतत्व स्वयं 
है, वैसे ही आत्मा से भिन्न परवस्तुओं की सत्ता है। तथा उनका आश्रय लेने 
के कारण आत्मा बन्धन में पड़ता है और स्व के आश्रय से मोक्षमार्ग होता है।
यही वस्तुस्थिति है।

भाई ! यदि तुझे धर्म करना है तो स्वदर्श के आश्रय से ही धर्म होगा।
अत: स्वदर्श कैसा है ? यह समझना पड़ेगा और उसका आश्रय करना पड़ेगा।

अरे ! तेरे ज्ञानान्द की लक्ष्मी तुझे लक्ष्य में नहीं आये और तू परवस्तु 
में अटक जाए तो कैसे काम चलेगा ? उससे तो तुझे बंध ही होगा। भले पूजा-
पाठ आदि का शुभभाव हो तो भी पर में एकत्वबुद्धि के परिणाम से तो तुझे 
बंध ही होगा।

ज्ञानी के जो पर में एकत्वबुद्धि रहित भक्ति-पूजा के भाव होते हैं, उन्हें 
भी अस्थिरता रूप परिणामों की मुख्यता से देखें तो वे भाव भी बंध के कारण 
ही बनते हैं। भले ही अल्पबंध हो; पर है तो बंध ही है?

धर्म के ऐसा परस्मुखता का परिणाम होता है; परंतु उसमें उसकी 
एकत्वबुद्धि नहीं होती। अत: उसे निर्जन का कारण कहा है। धर्म को स्व के
अश्रय का विशेष बल है, इससे पर के आश्रय से हुए परिणाम निःसंतान होनेवाले हैं; उनकी परम्परा लम्बाती नहीं है; आगे चलकर छूट जाते हैं। इस अपेक्षा उन परिणामों को निर्जरा का हेतु कहा जाता है। जिनवाणी के कथन में ऐसी अनेक सूक्ष्म-सूक्ष्म अपेक्षाएं भी होतीं हैं, जिन्हें यथायोग्य रीति से समझ लेना चाहिए।

इस कथन में ‘पर का आश्रय’ व ‘स्व का आश्रय’ – ऐसी दो बातों की मुख्यता है। उनमें पर के आश्रय से जो पर में एकत्वबुद्धि होती है, उन्हें बंध का कारण कहा। तथा स्वभाव के आश्रय को मोक्ष का कारण कहा।

ध्यान रहे, यहाँ जो परवस्तु संयोग में आती है, वह बंध का कारण नहीं है और स्ववस्तु जो त्रिकाली आत्मा है वह मोक्ष का कारण नहीं है। बल्कि पराश्रित व स्वाश्रित रूप जो आत्मा के परिणाम होते हैं, वे परिणाम ही अनुक्रम से बंध-मोक्ष के कारण बनते हैं।

यहाँ कोई कह सकता है कि त्रिकाली उपादान में अनेक प्रकार की योग्यताएं हैं; पर जिस समय जैसा निमित्त मिलता है वैसी पर्याय (कार्य) प्रगट हो जाती है।

यह प्रसन निमित्ताधीन दृष्टिवालों की ओर से हो सकता है। परन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है; क्योंकि त्रिकाली द्रव्य को तो व्यवहार से उपादान कारण कहा है। निर्भर से यानि वास्तविक उपादान कारण तो तत्सम की योग्यता रूप वर्तमान पर्याय युक्त द्रव्य है। यहाँ यह ज्ञात्व है कि वस्तु के उपादान के दो भेद कहे हैं।

अष्टसहस्त्र के ५८वें श्लोक की टीका के आधार से चिह्नित से “कारण-कार्यभाव अधिकार” में पृष्ठ ३६ पर आया है कि परिणाम क्षणिक उपादान है और गुण (शक्ति) शास्त्रक-ध्रुव उपादान है। ध्रुव को – द्रव्य की शक्ति को उपादान कहकर तो व्यवहार सिद्ध किया है। प्रगट पर्याय में जो निर्मल दशा प्रगट होती है, वह क्षणिक उपादान है; वह यथार्थ निर्भर है। वह वर्तमान पर्याय निमित्त के आधार से तो होती ही नहीं है; वरन द्रव्य के त्रिकाली ध्रुव उपादान के आधार से भी नहीं होती।
यहाँ कहते हैं कि बंध के कारण भूत अध्यवसान का निषेध करने के लिए अध्यवसान के आश्रयभूत बाह्यवस्तु का निषेध किया है; क्योंकि कारण के प्रतिष्ठान से कार्य का प्रतिष्ठान होता है।

यहाँ मिथ्यात्व के परिणाम कार्य और परिणामों का निमित्तकार कारण अर्थात् आश्रयभूत कारण परवस्तु - कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र आदि को छोड़ने के लिए कहा है; क्योंकि ये परिणाम इनके आश्रय से होते हैं। मिथ्यात्व को छोड़ने के प्रयोग से उसके आश्रयभूत पदार्थों को छोड़ने के लिए कहा है।

ये पदार्थ बंध के कारण हैं - ऐसा नहीं है। बंध का कारण तो मिथ्यात्व ही है, परस्तु ये मिथ्यात्व के परिणाम परपदार्थों के आश्रय से उत्पन्न होते हैं। इसलिए बाह्य पदार्थों का निषेध करके मिथ्यात्व के परिणामों का निषेध करना है।

मात्र बाह्य पदार्थों का निषेध किया गया है - ऐसा नहीं समझना।

यदि कोई निश्चयाधीन प्रश्न करे जिसतरह कुगुरु, कुदेव व कुशास्त्र की श्रद्धा मिथ्यात्व है, उसीतरह सुगुरु, सुदेव व सुशास्त्र की श्रद्धा भी मिथ्यात्व है; तो उसकी यह मान्यता ठीक नहीं है; क्योंकि सुदेवादि की श्रद्धा का भाव तो शुभभाव है; वह शुभभाग मिथ्यात्व नहीं है। ऐसे भाव तो जानी-समझनी के भी होते हैं। हाँ, इन शुभ भावों से कोई धर्म माने तो उसकी वह मान्यता मिथ्यात्व है।

‘में जीवों को मारता हूँ या बचाता हूँ’ इत्यादि जो मिथ्या अध्यवसान है, वही बंध का कारण है। वहाँ अन्य जीव मरा या जीवित रहा, उससे बंध का सम्बन्ध नहीं है; वह बंध का कारण नहीं है। फिर भी जो बाह्यवस्तु का या अन्य जीवों को मारने का निषेध किया है, उसका कारण यह है कि बाह्य वस्तु के आश्रय बिना अध्यवसान उत्पन्न नहीं होता। अतः अध्यवसान के निषेध के लिए बाह्यवस्तु का निषेध भी किया गया है।

प्रश्न - आप तो हमें यह बताइए कि हमें बाह्य वस्तु तथा अध्यवसान दोनों का त्याग करना कि अकेले अध्यवसान का?

उत्तर - अरे भाई! अध्यवसान का त्याग करने के लिए ‘बाह्यवस्तु का संग छोड़ो’ - ऐसा कहा है। वस्तुतः बाह्यवस्तु का ग्रहण-त्याग तो आत्मा
समवसार गाथा २६५

करता ही कहाँ है? परंतु मान्यता में जो बाद्वस्तु का कर्तृक्त माने बैठा है,
उसे छोड़ना है न? उसमें बात्य संयोग भी छूट ही जाता है। अध्यवसाय छूट जाय और तत्संबंधी वस्तु वनी रहे - ऐसा नहीं होता।

यहाँ कहते हैं कि भगवान! तू एकबार सुन तो सही! विचार तो कर!
जो तू ऐसा मानता है कि में दूसरों को दान देता हूँ, धनादि देकर सहायता करता हूँ तो यह तेरा अधिप्राय मिथ्या है; क्योंकि अधिप्राय पैसा देने की क्रिया नहीं कर सकता। अहा! यह पैसा क्षेत्र से क्षेत्रान्तर होने का परिणाम तो जिस काल में जैसा होना होता है, उस काल में अपनी स्वतंत्र, स्वच्छतापूर्वी की योग्यता से होता है और तू मानता है कि ‘मैं देता हूँ’; इसकारण तेरा अध्यवसाय मिथ्या है और यही बंध का कारण है। इस मिथ्या अध्यवसाय में परवस्तु तो मात्र आश्रयभूत है; निमित्तमात्र है।

अब यहाँ कहते हैं कि अध्यवसाय का कारण - आश्रय जो परवस्तु - स्त्री-पुत्र-पैसा आदि हैं; उसका निषेध होने पर - उस ओर के छुकाव की निवृत्ति होने पर कार्यभूत जो मिथ्या अध्यवसाय होता है, उसका भी निषेध हो जाता है; क्योंकि परवस्तु के आश्रय बिना अध्यवसाय उत्पन्न नहीं होता। ऐसा सहज निमित-नैमितिक सम्बन्ध है। इसप्रकार कारण के निषेध से कार्य का निषेध हो जाता है।

इस बंध अधिकार में तो प्रारंभ से ही यह सिद्ध करते आ रहे हैं कि इस जगत में - लोकाकाश में यद्यपि कर्माण्ड वर्गाभरण उसास्थ भरी हैं; तथापि आत्मा उनसे नहीं बंधता, अन्यथा सिद्ध भगवान को भी बंधन उठरेगा।
इसप्रकार मन-वचन-काय की क्रिया से भी आत्मा नहीं बंधता; अन्यथा यथार्थ एकत्व संयम के धारक भगवान अरहंत केवल को भी बंध का प्रसंग प्राप्त होगा, क्योंकि उनके उक्त तीनों की क्रिया विद्यमान है। तथा पाँच इतिहास को क्रिया भी बंध का कारण नहीं है; अन्यथा भगवान केवल को भी बंध होगा।
इसीतरह चेतन-अचेतन का घात भी बंध का कारण नहीं है; अन्यथा समर्पित के धारक मुनि-जनों को भी बंध का प्रसंग आ जाएगा। इसप्रकार परवस्तु बंध का कारण नहीं है।
यहाँ प्रश्न होता है कि तब फिर बंध का कारण क्या है?

उत्तर में कहते हैं कि उपयोग में जो रागादि भाव होते हैं, वे ही एकमात्र बंध के कारण हैं। एक ज्ञायकस्वभावी आत्मा जब अपने ज्ञानस्वभाव को और क्षणिक वर्तमान रागादि परिणामों को एकमेक करता है तो वह परे में एकत्ररूप मिथ्यात्माबाव ही बंध का कारण बनता है।

आगे कहते हैं कि भगवान आत्मा चिदानन्दन प्रभु अखण्ड एक ज्ञायकस्वभाव-मय त्रिकाल ज्ञानोपयोग रूप है। उसके वर्तमान बर्तान ज्ञान के उपयोग में जो पुण्य-पापरूप रागादि को, दया-दानादि के विकल्पों को जोड़ देते हैं - एक करते हैं, उनके वे मिथ्यात्माबाव ही संसार के कारण हैं, बंध के कारण हैं।

बाह्यवस्तु को यदि बंध का कारण मानेंगे तो अनैकान्तिक हेत्वाभास नामक दोष उत्पन्न होगा; क्योंकि बाह्यवस्तु को निर्वाधरूप से बंध का कारणपना सिद्ध नहीं होता। वह नियमरूप बंध का कारण नहीं है।

इसलिए बाह्यवस्तु, जो जीव को अतद्भावरूप है; वह बंध का कारण नहीं हो सकती। अध्यवसान, जो कि जीव को तद्भावरूप है - वही बंध का कारण है।

बाह्यवस्तु जीव को अतद्भावरूप है। वह जीव का स्वयं का भावरूप नहीं है। ये स्वी-कुटम्ब-परिवार आदि परजीव, पैसा, धन-सम्पत्ति, शरीर, वाणी, इत्यादि परस्तुपूर्व आत्मा को अतद्भावरूप हैं, वे आत्मा के भावरूप नहीं हैं। अतः वे जीव के बंध के कारण नहीं हैं।

हाँ, 'में जीवों को बचाता हूँ, मारता हूँ, सुखो-दुःखी करता हूँ, पालता हूँ - पोषता हूँ' आदि जो अहंकार रूप भाव होते हैं, वे अध्यवसान जीव के तद्भावरूप हैं अतः ये ही जीव के बंध के कारण हैं।
समयसार गाथा २६६
एवं बन्धेहुतुलेन निर्धारितस्याध्यवसायनस्य स्वार्थक्रियाकारित्वभावनेन मिथ्यातः दर्शयति -

dुखिखदसुहिदे जीवे करोमि बंधेमि तह विमोचेमि ।
जा एसा मूढमदी गिरिवयथा सा हु दे मिच्छा ॥ २६६॥

dु:खितसुखितान्त्य जीवानू करोमि बन्धयामि तथा विमोचयामि ।
या एसा मूढमति: निरर्थिका सा खलु ते मिथ्या ॥ २६६॥

परानू जीवानू दु:खायमि सुखायात्यादि, बंधयामि मोचयामीत्यादि वा,
यदेतद्धवसानात्तत्त्वर्ममिपि, परभावस्य परस्मिन्याप्रियमणात्वेन
स्वार्थक्रियाकारित्वाभावातु, खकुसुमं लुनामित्यधवसाववमिथ्यारूपं,
केवलमात्मनोजनर्थ्येव।

इसप्रकार बन्ध के कारणः रूप से निश्चित किया गया अध्यवसाय अपनी
अर्थक्रिया करनेवाला न होने से मिथ्या है - यह अब बतलाते हैं :—

में सुखी करता दुखी करता बाँधता या छोड़ता ।
यह मान्यता है मूढमति मिथ्या निरर्थक जानना ॥ २६६॥

गाथार्थ - हे भाई ! '[जीवानू] में जीवों को [दु:खितसुखितान्त्य]
दु:खी-सुखी [करोमि] करता हूँ, [बंधयामि] बंधाता हूँ [तथा
विमोचयामि] तथा छुड़ाता हूँ' [या एसा ते मूढमति:] ऐसी जो यह तेरी
मूढमति (मोहितबुद्धि) है [सा] वह [निरर्थिका] निरर्थक होने से
[खलु] वास्तव में [मिथ्या] मिथ्या है।

टीका - में परजीवों को दु:खी करता हूँ, सुखी करता हूँ इत्यादि तथा
बाँधता हूँ, छुड़ाता हूँ इत्यादि जो यह अध्यवसाय है वह सब, परभाव का पर
में व्यापार न होने के कारण अपनी अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है। इसलिए 'में
आकाश पुष्प को तोड़ता हूँ' ऐसे अध्यवसाय की भाँति मिथ्यारूप है, मात्र अपने
अनर्थ के लिए ही है (अर्थात् मात्र अपने लिए ही हानि का कारण होता है;
पर का तो कोई कुछ कर नहीं सकता)।
भावार्थ – जो अपनी अर्थक्रिया (प्रयोजनभूत क्रिया) नहीं कर सकता वह निरर्थक है, अथवा जिसका विषय नहीं है वह निरर्थक है। जीव परजीवों को दुःखी-सुखी आदि करने की बुद्धि करता है, परन्तु परजीव अपने किचे दुःखी-सुखी नहीं होते; इसलिए वह बुद्धि निरर्थक है और निरर्थक होने से मिथ्या है – झुठी है।

गाथा २६६ एवं टीका पर प्रवचन

देखो, ‘परजीवों को मारँ-बचाऊँ, सुखी-दुःखी करँ’ – ऐसा अभिप्राय मिथ्या अध्यवसान है। यह वात पिछली गाथाओं से स्पष्ट हो चुकी है। अब कहते मैं जीवों को बांधता हूँ, छोड़ता हूँ – यह अभिप्राय भी मिथ्या है; क्योंकि कोई किसी अन्य को बांध सके या बन्धनबद्ध को मुक्त कर सके – ऐसी किसी में योग्यता ही नहीं है। ‘मैं दूसरों को मुक्त करँ’ ऐसा तुम्हारा जो भाव है – वह जीवों को मुक्त नहीं कर सकता।

अरे भाई ! दूसरों को बांधने या मुक्त करने का परिणाम तो तेरा है और बंधन व मुक्त होने की क्रिया अन्य में होती है। जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कुछ फेरफर कर ही नहीं सकता तो तेरा दूसरों को मुक्त करने का परिणाम दूसरों को मुक्ति प्रदान कैसे कर देगा ? जरा सोच तो सही ! क्या तेरे ये भाव निरर्थक नहीं हैं।

एक सेठ था, वह अपना मकान बनवा रहा था। उसका एक शत्रु जिनमंदिर को धोड़ी–सी ईंट उसके मकान की ईंटों में मिलाकर रख आया। इसके पीछे उसकी यह खोटी भावना काम कर रही थी कि सेठ के मकान में देवद्रव्य अर्थांत्य निर्माणद्रव्य का उपयोग होगा तो इसका सर्वनाश हो जाएगा। तीम्र पापबंध होगा। परसुन बेचारे सेठ को तो इस बात का पता ही नहीं था कि उसके मकान में कोई देवद्रव्य लग रहा है। भला उसे पापबंध कैसे हो सकता है ? पाप तो अभिप्राय से होता है, न कि केवल बाह्यक्रिया से। इसीप्रकार दूसरे अज्ञानीजन ऐसे सोचते हैं कि ‘मैं दूसरों को बांधता हूँ’ पर उनका वह अभिप्राय मिथ्या है। स्वयं के खोटे भाव हुए बिना अन्य कोई हमें पापबंध में कैसे डाल सकता है ?
समयसार गाथा २६६

स्वेताम्बर मत में ‘दस अछे़रा’ में एक कथानक है कि “हरि क्षेत्र में एक जुगलिया थी, जो कि मरकर नियम से स्वर्ग ही जाती है। पर उसका एक बैरी देव था। वह जुगलिया का शरीर छोटा बनाकर उसे भरतक्षेत्र में ले आया और वहाँ मांस, शराब आदि खिला-पिलाकर उसे सातों व्यसनों में लगा दिया। फलस्वरूप वह जुगलिया मरकर नरक में गई।”

यह पूरा कथानक कल्पित लगता है; क्योंकि आगमानुसार हरि क्षेत्र से कोई जुगलिया भरत में लाई ही नहीं जा सकती। जुगलिया दारू-मांस का सेवन कभी कर ही नहीं सकती और मरकर कभी नरक जाती ही नहीं।

कोई किसी को बंधन में दलवा दे - यह विचार व अध्यवसाय ही झूठा है।

यहाँ कहते हैं कि ‘अमुक ने दूसरों को सातों व्यसनों में दालकर - पाप में दालकर नरक में पहुँचा दिया’ - यह बात कभी बन ही नहीं सकती। यदि कोई किसी के साथ बलात्कार करके उसके मुंह में मांस डाल दे, शराब पिला दे या किसी अन्य दुर्योग का सेवन करा दे, तो इससे क्या वह पापी हो जाएगा? जिसे स्वयं में उसकी रच नहीं है, जिसे वह व्यसन बिखा समान हेतु लगाए हों; उसे यदि कभी कदाचित् बाध्य होकर दुर्योग का सेवन करना भी पड़े तो भावना उस रूप न होने से उसे पापबंध नहीं होता।

भाई! जो ऐसा मानता है कि कोई किसी के परिणाम फेर सकता है - तो उसका यह अभिप्राय ही खोटा है। न कोई किसी का परिणाम बिगाड़ सकता है; न सुधार सकता है। अतः न बांध सकता है, न बंधन से मुक्त कर सकता है। यह अभिप्राय ही खोटा है कि ‘मैंने किसी को बांधा या छुड़ाया, मारा या बचाया।’

प्रश्न - श्रीगृह उपदेश देकर धर्म प्राप्त कराते हैं न?

उत्तर - नहीं भाई! ऐसा नहीं है। वस्तुतः तो प्रत्येक प्राणी स्वाध्रय से ही धर्म प्राप्त करता है। परन्तु निमित्त की मुख्यता से कथन करने पर ऐसा कहा जाता है कि श्रीगृह की कृपा से धर्म की प्राप्ति हुई है।

उपदेश का विकल्प जब अपने स्वकाल में आता है, तब उसीसमय भाषावर्गणा अपनी योग्यता से अपने स्वकाल में परिणाम जाती है। उसीसमय
श्रीगुरु को अपने स्वतंत्र स्वच्छतापूर्वक की योग्यता से ऐसा विकल्प आता है कि ‘अन्य सभी जीव धर्म का लाभ प्राप्त करें।’ इसप्रकार सबका अपना-अपना स्वतंत्र परिणम होते हुए भी सहज निमित्त-नैमित्तिक भाव से ऐसा बनाव बन जाता है। भाई ! धर्म तो स्वाश्रय से ही होता है, पर के कारण नहीं।

पर को बन्धन में डालने का परिणाम, मुक्त करने का परिणाम, मारने-बचाने का परिणाम, पर को सुखी-दुःखी करने का परिणाम – ये सब मिथ्या अध्यवसान हैं; क्योंकि परभाव का पर में व्यापार नहीं होता। इससे पर को जीवित रखने या मारने के परिणाम वाला पर को जीवित रखने की या मारने की क्रिया नहीं कर सकता। परभाव का पर में व्यापार होना शक्य ही नहीं है। इसकारण सभी अध्यवसान आकाश कुसुम को भूति मिथ्या ही हैं।

इसप्रकार जो ऐसा सोचते हैं कि ‘में ऐसा उपदेश दूँ कि दूसरे व्यक्तियों का उद्दार हो जाए।’ उनसे कहते हैं कि – अरे भाई ! तुम्हारा यह परिणाम भी मिथ्या है, क्योंकि पर का तू क्या कर सकता है ? कुछ भी तो नहीं कर सकता। ‘पर’ को तार देने का, ‘पर’ का उद्दार करने का तेरा परिणाम ‘पर’ को तार नहीं सकता; क्योंकि ‘पर’ का ‘पर’ में अर्थतः एक का दूसरे में व्यापार ही नहीं होता। समक्ति को दूसरों का उद्दार करने का विकल्प आना जुदी बात है। समक्ति की भूमिका में भी ऐसा शुभभाव आ तो सकता है, पर उसके अभिप्राय में ऐसी मात्रता नहीं है कि ‘में पर का उद्दार कर सकता हूँ।’ मिथ्यादृष्टि को पर के कर्तव्य का – पर में फेरफार करने का जैसा विपरीत अभिप्राय होता है, सम्प्रदृष्टि को ऐसी भ्रमबुद्धि नहीं होती।

ज्ञानी माँ-बाप को गृहस्थ की भूमिका में ऐसा परिणाम तो आ सकता है कि ‘में अपनी संतान को पढ़ा-लिखाकर होशियार कर दूँ; अच्छी आजीविका से लगा दूँ; अच्छी जगह सुसंस्कार वाले वर-व्यंग का संयोग मिला दूँ’ – परन्तु साथ में यह अटूट आश्चर्य भी है कि कोई किसी का कुछ भी नहीं कर सकता। इससे यदि उपर्युक्त विकल्प पूरा नहीं होता तो वे अधिक खेद-भिन्न नहीं होते। वे सोचते हैं कि अपना यह विकल्प ही खोटा था; क्योंकि मैं कर ही भय कर सकता
हूँ? यदि संतान के पुन्य का उदय हो, भली होनहार हो तो सभी साधन आप ही आप मिलते चले जाते हैं और यदि पाप का उदय हो तो अनुकूल साधन नहीं मिलते। इसमें कोई क्या कर सकता है?

यह बात अपनी जगह सच है कि अनुकूल साधन मिला देने का भाव आता है, परंतु पुत्र-पुत्री का पापोदय हो तो या तो साधन मिलते ही नहीं, मिलने तो अनुकूल नहीं मिलते।

अरे भाई! आत्मा पर की क्रिया त्रिकाल में कभी कर ही नहीं सकता। हाँ, अपने भाव तू करता है; परंतु अपने भावों के अनुसार पर की क्रिया का करता तू नहीं है। इसकारण तेरा परिणाम निर्दर्ध है और पर में कुछ फेर-बदल करने का तेरा अभिप्रय मिथ्यात्म है।

‘में खूब धन कमाता हूँ, तभी तो ऐसी व्यवस्था कर सका हूँ कि मेरे कुटुम्ब में सब सुखी हैं, सेवक-नौकर-चाकर सुखी हैं, समाज को खूब लाभ होता है।’ - ऐसा पर को सुखी करने का अभिप्रय मिथ्यात्म है, अज्ञान है। अज्ञानी के ऐसे सभी परिणाम मिथ्या हैं और अपने अनर्थ के लिए ही हैं। ऐसी मान्यता से पर का तो कोई कुछ लाभ कर ही नहीं सकता, पर अपना नुकसान अवश्य कर लेता है।

भाई! बहुत सूक्ष्म बात है। यह तो लोगों को सुनने-समझने को भी बहुत कम मिलती है। अधिकांश उपदेश तो वस यही मिलता है कि ‘दूसरों पर दया करो, धान दो, भक्ति करो, तप करो।’ इसप्रकार पर की क्रिया करने का ही उपदेश बहुतायत से मिलता है। इस संदर्भ में यहाँ कहते हैं कि ये पर के हित करने के परिणाम सवर्था निर्दर्ध हैं और अपने स्वर्ण के लिए भी अहितकर हैं।

अहा! भाषा तो देखो! ये परिणाम अपना अनर्थ करनेवाले हैं; क्योंकि वे मिथ्या अभिप्रय सहित हैं। क्या अपनी सत्ता में हुआ परिणाम पर की सत्ता में प्रवेश कर सकता है, जिससे पर का कार्य कर दे? तथा न पर की सत्ता का प्रवेश अपने में ही हो सकता है। इसकारण कोई किसी का कार्य करने में समर्थ नहीं है।
प्रत्येक जीव की व परमाणु-परमाणु की जिस क्षण जो अवस्था होती है, उसे कोई दूसरा कर दे - यह बात तीनकाल में भी संभव नहीं है। प्रत्येक जीव का व प्रत्येक परमाणु की अपनी-अपनी पर्याय का जन्मक्षण सुनिश्चित है। उनमें प्रतिसमय जो-जो अवस्थाएँ होती हैं, वही उनकी उत्पत्ति का काल है। इस स्थिति में यदि कोई ऐसा कहे या माने कि ‘मैं इन्हें उत्पन्न कर सकता हूँ या बदलवा सकता हूँ’ तो वह अज्ञान है, मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि एक का दूसरे में प्रवेश ही नहीं है।

प्रश्न - ‘निश्चय से तो कोई पर का कुछ भी नहीं कर सकता’ - यह बात तो शत-प्रतिशत सत्य है; पर व्यवहार से तो कर सकता है न?

उत्तर - अरे भाई! व्यवहार से भी आत्मा पर का भला-बुरा कुछ भी नहीं कर सकता। व्यवहार से जो ऐसा कहा जाता है कि ‘अमुक व्यक्ति ने अमुक का भला-बुरा किया’ - ऐसा कहना व्यवहार है और ऐसा ही मान लेना मिथ्याल्व है। वह कथन तो बाह्य निमित्त कारण का ज्ञान कराने के लिए कहा जाता है।

प्रश्न - यह ठीक है कि व्यवहार से पर का कुछ कर नहीं सकते, परन्तु ‘अमुक ने अमुक का काम किया’ ऐसा व्यवहार से तो कहा ही जा सकता है न?

उत्तर - कहने को तो कहा ही जाता है, क्योंकि लोक में निमित्त की मुख्यता से ही व्यवहार चलता है; परन्तु जिसकी दृष्टि में निमित्त का बल है - व्यवहार का ही पक्ष है, जो किसी न किसी रूप में कर्तृवृक्षति की सुरक्षा करना चाहता है; वह अज्ञान है, मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि उसके अन्तर का अभिप्राय यथार्थ नहीं हुआ है।

सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि ‘मैं पर को मारता हूँ, बचाता हूँ, सुखो-दुःखी करता हूँ, बन्धन में दालता हूँ – छोड़ता हूँ’ आदि जितने भी अध्यवसाय हैं, वे सब निरस्त हैं; मिथ्या हैं। तथा अपने आत्मा के लिए अनर्थकारक हैं।
गाथा २६६ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, यहाँ यह सिद्धांत कहा गया है कि में पर को मार या बचा सकूँ - ऐसा जो परिणाम है, उसके योग्य लोक में कोई विषयवस्तु ही नहीं है। अतः वह परिणाम बंध्यासुत को मारने जैसा निर्धक है। अरे भाई ! पर जीव के मरण व जीवन की क्रिया स्वतंत्र है। वह किसी अन्य के परिणाम करने से हो - ऐसा वस्तुस्वरूप ही नहीं है। स्वसंभालित वस्तुस्वरूपह में ऐसा कुछ भी संभव नहीं है। फिर भी कोई पर के मरण-जीवन को अपने परिणाम का विशय माने, तो यह मान्यता सर्वथा मिथ्या है।

भाई ! धर्म क्या वस्तु है - यह लोक को खबर नहीं है। बिना समझे अज्ञानपूर्वक दया, दान, व्रत, भक्ति आदि बाहर की क्रियाएँ करता है, परन्तु इनसे क्या लाभ ? आत्मज्ञान बिना ऐसा तो अनन्तनाबाद किया। पर संसार तो जाहाँ का तहाँ - वैसा ही बना रहा।

‘ये राग की क्रियाएँ में कर सकता हूँ’ - ऐसा अभिप्रयार ही मिथ्या है। क्या रागादि इसके हैं, जिन्हें यह कर सके ?

परजीव का मोक्ष व बन्ध तो उसकी स्वर्ग की वीतराग व राग परिणाति से होता है, उसमें अन्य कोई क्या कर सकता है ? उसीप्रकार परजीव की आयु शेष हो तो बचता है, वह हमारी-तुम्हारी भावना या परिणाम से कैसे बच सकता है ?

इसप्रकार पर की क्रिया करने का परिणाम अपनी अर्थक्रिया से रहित होने से निर्धक है।

देखो, सम्यदर्शन के परिणाम का ध्येय त्रिकाली ध्रुव, शुद्ध चैतन्य व्रच है। यह विषयवस्तु ही यथार्थ है, सत्यार्थ है। इससे यह तो परिणाम का ध्येय बन सकती है, परन्तु ‘में मार सकता हूँ’ आदि अभिप्रयार परिणाम के ध्येय ही नहीं हैं; क्योंकि पर को मारने व बचाने के ये अभिप्रयार ही असत्यार्थ हैं।

पर को मारने-बचाने का जैसा परिणाम हुआ, उसके अनुसार पर को मारना-बचना या पर में कुछ भी करना शक्य ही नहीं होने से ऐसे इस परिणाम
का विषय असत्यार्थ है – ऐसा कहा जा रहा है। जीव के परिणाम का जो विषय ही नहीं है, वह परिणाम निर्मत ही नहीं तो और क्या है? वह तो निर्मत ही है और आत्मा को अनर्थकार है।

आगे यही कहते हैं कि यह जीव परजीवों को सुखी-दुःखी आदि करने की बुद्धि करता है; परन्तु परजीव तो अपने कर्म सुखी-दुःखी होते नहीं हैं। इससे वह बुद्धि निर्मत है; और निर्मत होने से मिथ्या है – खोटी है।

भाई! ज्ञाता-दृष्टापने रहना। 'मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ' – ऐसी दृष्टि स्वरूप में एकाध्य करना।

आत्मा सदा सर्वज्ञस्वभावी है। सर्वज्ञ पर्याय जो केवली परमात्मा के उत्पन्न होती है, वह कहाँ से उत्पन्न होती है? क्या वह पर्याय कहाँ बाहर से आती है? वह तो अन्दर जो सर्वज्ञ स्वभाव पड़ा है, उसमें लीन होने पर प्रगट होती है। मेरा भी सर्वज्ञस्वभाव है, परन्तु पर का कुछ करना – ऐसा व्यवहार से भी मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा एकमात्र कार्य अन्तर्निर्मित्त होता है।

आत्मा अपने सिवाय शरीर, मन, वाणी, कर्म परजीव वगैर्ह परपदार्थों का कुछ भी नहीं कर सकता – ऐसा जानकर अपने सर्वज्ञस्वभाव में लीन होकर रहना ही इसका वास्तविक कार्य है।

मैं अखण्ड एक शुद्ध चैतन्यमूर्ति चिदानन्दग्य भव-विभवान आत्मा हूँ। मैं सबको जानूँ – ऐसा मुझ में ज्ञान है, परन्तु में पर का कर्त्ता वन सत्तुँ – ऐसी मुझमें कोई शक्ति नहीं है। निर्मल रत्नस्व मोक्षमार्ग की पर्याय का कर्त्तव्य तो मुझमें है, क्योंकि यह तो स्वभाव है; परन्तु परभाव का कर्त्तिना मुझमें नहीं है।

इसीकारण आचार्यदेव ने यह कहा है कि ‘मैं पर को जानेवाला हूँ’ यह बात भलीप्रकार जानो। इसे न जानकर ‘मैं पर का कर्त्ता हूँ’ ऐसा जो अज्ञान का अभिप्रयास है, वह मिथ्या है। एक-एक रजकण से लेकर दुनिया के धंधे-व्यापार, कुटुंब का भरण-पोषण, संस्थाओं की संबंधल, राजकाज का
संचालन, शरीरादि की क्रिया आदि में करता हूँ, कर सकता हूँ - ये सब तेरे परिणाम के विषय ही नहीं हैं, क्योंकि तेरे ये परिणाम पर में कुछ कर ही नहीं सकते।

यह सब तो उदाहरण देकर विस्तार से समझाया है। संक्षेप में कहें तो सिद्धान्त यह है कि स्वदेश्य परदेश्य का कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। ऐसा होते हुए भी ‘मैं पर में कुछ कर सकता हूँ, करता हूँ’ - ऐसा मानना मिथ्यात्व है, यही अनर्थ का कारण है।
समयसार गाथा २६७

कृतो नाथ्यवसानं स्वार्थक्रियाकारीति चेत् –
अज्ञवसानान्मित्तं जीवा बन्धंति कर्मणा जदी हि ॥
मुच्यति मोक्षमये ठिदा य ता किं करेसि तुमं ॥ २६७॥
अध्यवसानान्मित्तं जीवा बध्यंते कर्मणा यदि हि ॥
मुच्यते मोक्षमार्गेः सिम्भुक्ताश्च तत्त्वं किं करोषि त्वम् ॥ २६७॥

यत्कल बंधवामि मोचयामीत्यध्यवसानं तस्य हि स्वार्थक्रिया
यद्वन्धनं मोचनं जीवानाम्। जीवस्त्वस्याध्यवसायस्य सद्वेषपि
सरागवीररागोऽस्वपरिषमैव: अभावान बध्यते, न मुच्यते;
सरागवीररागोऽस्वपरिषमैव: सद्वात्स्याध्यवसायस्याभावेः
कर्मणा, मुच्यते च। तत: प्रत्राकिंचित्तकरत्वानेदमध्यवसानं
स्वार्थक्रियाकारि; तत्राच मिथ्यैवेति भवः।

जिय बँधे अध्यवसान से शिवपथ-गमन से छूटते ।
गहराई से सोचो जरा पर में तुम्हारा क्या चले ? ॥ २६७॥

गाथार्थ – हे भाई ! [ यदि हि ] यदि वास्तव में [ अध्यवसानान्मित्तं ]
अध्यवसान के निमित्त से [ जीवा: ] जीव [ कर्मणा बध्यंते ] कर्म से बँधते
हैं [ च ] और [ मोक्षमार्ग सिथिता: ] मोक्षमार्ग में स्थित [ मुच्यंते ] छूटते हैं
[ तद् ] तो [ त्वम् किं करोषि ] तू क्या करता है ? (तेरा तो बाँधने-छोड़ने
का अभिप्राय स्वर्थ गया।)

टीका – ‘में बंधाता हूँ, छुड़ाता हूँ’ ऐसा जो अध्यवसान उसकी अपनी
अर्थक्रिया जीवों को बाँधना, छोड़ना है। किन्तु जीव तो, इस अध्यवसाय का
सद्भाव होने पर भी, अपने सराग-वीरराग परिणाम के अभाव से, नहीं बंधता
और मुक्त नहीं होता; तथा अपने सराग-वीरराग परिणाम के सद्भाव से, उस
अध्यवसाय का अभाव होने पर भी, बंधता है, छूटता है। इसलिये पर में
अक्षिचित्कर होने से (अर्थात कुछ नहीं कर सकता होने से) यह अध्यवसान
प्रवचन

अचछी अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है; और इसलिए मिथ्या ही है। ऐसा भाव (आशय) है।

भावार्थ - जो हेलु कुछ भी नहीं करता वह अकिंचित्कर कहलाता है। यह बाँधने-छोड़ने का अध्यवसान भी पर में कुछ नहीं करता; क्योंकि यदि वह अध्यवसान न हो तो भी जीव, अपने सराग-वीरताग परिणाम से, बंध-मोक्ष को प्राप्त होता है, और वह अध्यवसान हो तो भी अपने सराग-वीरताग परिणाम के अभाव से बंध-मोक्ष को प्राप्त नहीं होता। इसप्रकार अध्यवसान पर में अकिंचित्कर होने से स्व-अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है इसलिये मिथ्या है।

गाथा २६७ एवं टीका पर प्रवचन

आचार्य कहते हैं कि 'मैं दूसरों को बाँधता हूँ, पाप में डालता हूँ अथवा दूसरों को पापों से छुड़ाता हूँ, मुक्त कराता हूँ' - ऐसा अध्यवसाय-परिणाम होते हुए भी पर जीव तो अपने सराग-वीरताग परिणाम से बंधते व छूटते हैं। यदि सराग-वीरताग परिणाम न हों तो जीव बंधते व छूटते नहीं हैं। इसप्रकार अध्यवसान पर में अकिंचित्कर है। निमित्तरूप भले हों, पर कर्तरूप नहीं होते। कोई किसी अन्य की क्रिया कर ही नहीं सकता।

श्री जयसेनाचार्य की टीका में आता है कि ज्ञानी-धर्मात्माओं को भी परजीवों को मारने-बचाने के परिणाम आते हैं - ऐसे विकल्प होते हैं; परन्तु 'मैं परजीव को मार या बचा सकता हूँ' - वे ऐसा नहीं मानते। अरे! जब यह आत्मा अपने विकल्पों तक का स्वामी नहीं होता तो पर की क्रिया का स्वामी कैसे हो सकता है? ज्ञानी तो ऐसा मानता है कि 'पर जीव मरा या बचा, उसमें मैं निमित्तमात्र हूँ, कर्ता नहीं।' तथा इसके विपरीत ज्ञानी की तो ऐसी मान्यता है कि 'मैं पर का कार्य करता हूँ, कर सकता हूँ,' [ज्ञानी अपने में हुए विकल्पों के तथा उनके निमित्त से हुई पर की क्रिया के ज्ञाता ही हैं, कर्ता नहीं।]
अरे! अज्ञानी को तो ऐसा कोई विचार ही नहीं कि में कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है? मैं कहाँ से आया हूँ और मर कर कहाँ जाऊँगा? यदि इसी तरह जीवन चला गया तो क्या होगा? कैसे—कैसे प्रतिकूल प्रसंगों में से गुजरना पड़ेगा? इसने तो मात्र कुटुंब परिवार के भरण-पोषण और विषयभोगों की सामग्री जुटाने—मिलाने में तथा एतर्दर रूपसा—पैसा कमाने को ही अपना ध्येय बना रखा है। यही सब अज्ञानी का सर्वस्व है। ऐसे जीवों से कहते हैं कि जो भाव तू कर रहा है, वे भाव पद्रव्य की क्रिया करने में समर्थ नहीं हैं। ये तेरे विचार पर की क्रिया में अकिंचित्तर हैं। तेरी होशियारी व बुद्धि पर में कुछ कर नहीं सकती। ऐसा कारण ये तेरे अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया करनेवाले नहीं; इससे ये मिथ्या ही हैं।

कोई वैद्य ऐसा माने कि ‘मैं यह दवा अनुपन मरीज़ को देता हूँ, इससे इसका शरीर निरोग हो जाएगा’ तो उसका यह अध्यवसान झूठा है, निरर्थक है; क्योंकि शरीर की निरोगता जीव के अध्यवसान का कार्य नहीं है। अध्यवसान कर्ता व शरीर की निरोगता कर्म — ऐसा वस्तु के स्वरूप में नहीं है।

शरीर की निरोगता में वैद्य का परिणाम निमित्त हो सकता है, परन्तु यह निमित्त शरीर की निरोगता का कर्ता नहीं है।

आजकल तो उपादान—निमित्त की चर्चा भी खूब चलती है। उपादान अर्थात् द्रव्य की अपनी पर्याय की तत्कालीन योग्यता। वही कार्य का जन्मक्षण है। इसी में पर्याय का जन्म होता है। निमित्त पर में कुछ भी विलक्षणता नहीं करता। वह तो पर में अकिंचित्तर हो है।

देखो, यह पानी जो गरम होता है, वह अपनी पर्याय की तत्कालीन योग्यता से होता है। उस काल में बाहर में अपना का निमित्त है, परन्तु अपना पानी को गर्म नहीं करती। पानी की उष्ण पर्याय की कर्ता अपना नहीं है। पानी पहले ठंडा था और अब गर्म हुआ सो वह अपनी पर्यायगत उपादान की तत्कालीन तस्समय की योग्यता से — निज शक्ति से अपने जन्मक्षण में हुआ है। इसमें अपना निमित्त अवश्य है, पर निमित्त ने पानी को उष्ण नहीं किया।
गाथा २६७ के भावार्थ पर प्रवचन

यह बाँधने-ढोड़ने का अध्यक्षता भी पर में कुछ नहीं करता; क्योंकि वह पर को बाँधने का कार्य नहीं कर सकता। पर को बाँधने का अध्यक्षता पर को बाँध नहीं सकता। परजीव तो अपने अज्ञान-सत्ता राग-धार से ही बंधता है। तथा तेरा पर को मुक्त करने का अध्यक्षता भी उसके वीरतमात्र के बिना — सराग परिणाम का अभाव हुए बिना उसे मुक्त नहीं करता। तथा पर को मुक्त करने का अध्यक्षता न हो तो भी वीरतमात्र भाव से, सराग परिणाम के अभाव से मुक्त हो जाती है। इसलिए यह अत्यन्त स्पष्ट है कि पर को मुक्त करने के अध्यक्षता के कारण परजीव मुक्त नहीं होते। वे तो अपने वीरतमात्र भाव से ही मुक्त होते हैं।

भाई! तेरा परिणाम ऐसा हो कि ‘मैं अमूक को कर्मबंध बनाऊँ या कर्मों से मुक्त कराऊँ’, तो भी वह जीव अपने सराग परिणामों के बिना बंधेगा नहीं व वीरतमात्र परिणामों के बिना छूटेगा नहीं। तथा पर को बंधन में डालने या बन्धन से छुड़ने का तेरा परिणाम न हो तो भी परजीव अपने सराग भाव से बंधता है व अपने वीरतमात्र भाव से छूटता है। इसप्रकार पर के बंध-मोक्ष में तेरा अध्यक्षता अदभुत अविचित्तक है।

यद्यपि कर्म का उद्योग जीव के विकार के परिणामों में निमित्त है, परन्तु पर की क्रिया करने में निष्फल होने से मिथ्या है।
अब इस अर्थ का कलशरूप और आगामी कथन का सूचक श्लोक कहते हैं -

(अनुष्ठू)  
अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहित:।  
तत्कालिनापि नैवास्ति नात्मात्मांन करोति यतृ।॥ १७१॥

श्लोकार्थ - [अनेन निष्फलेन अध्यवसायेन मोहित:] इस निष्फल (निरर्थक) अध्यवसाय से मोहित होता हुआ[ आत्मा ] आत्मा[ ततुकिज्जन अपि न एव अस्ति यत् आत्मां न करोति ] अपने को सर्वरूप करता है, - ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसरूप अपने को न करता हो।

भावार्थ - यह आत्मा मिथ्या अभिप्राय से भूला हुआ चतुर्गतिः संसार में जितनी अवस्थाएँ हैं, जितने पदार्थ हैं उन सर्वरूप अपने को हुआ मानता है; अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं पहिचानता॥ १७१॥

कलश १७१ पर प्रवचन

आचार्य अमृतचन्द्र इस कलश में कहते हैं कि इन निरर्थक, झूठे अध्यवसायों से जीव अनादि से पागल सा होकर ८४ लाख योनियों में भ्रमण कर रहा है। अहा! दुनिया की दृष्टि में चतुर कहें जाने वाले ये सब व्यक्ति किस तरह पागल हैं - यह बात यहाँ कही जा रही है। जगत में जितने पदार्थ हैं, उनकी क्रिया ‘मैं करता हूँ’ ऐसा मानते हैं न ? - बस इसी से वे मूठः मिथ्यादृष्टि व पागल हैं; क्योंकि वास्तविक स्वरूप की तो उन्हें खबर ही नहीं है।

लोक में ऐसा कुछ भी शेष नहीं है, जिसरूप अज्ञानी अपने को न करता हो। वास्तव में तो यह सबको मात्र जाननेवाला है, ज्ञाता-दृष्टा है; परन्तु अपने को ज्ञाता-दृष्टा रूप न रखकर सबको अपना मान बैठा है; उन सबका कर्ता-भोक्ता बना हुआ है। इसप्रकार अज्ञानमय अध्यवसाय से स्वयं को सर्वरूप किये बैठा है।
उसे ऐसी तो ख़बर ही नहीं है कि ‘मैं सर्वज्ञस्वभावी आत्मा हूँ।’ अरे भगवान्! तू कैसा हैं, तेरा स्वरूप क्या है? यह सब अरहंत भगवान ने ओम्ब्रार्थन में जाहिर किया है। यदि उसे तू नहीं जानता तो तेरी ये सब बाह्य क्रियाएँ निर्थक हैं। आत्मा के स्वभाव में अनेक शक्तियों में एक सर्वज्ञत्वशक्ति भी है, जिसमें ऐसी सामर्थ्य विद्यमान है कि वह तीन लोक व तीन काल के समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को एकसाथ जान सके।

यहाँ तो यह चर्चा है कि निर्थक अध्यवसाय से विमोहित जीव जगत की समस्त वस्तुओं को अपने-रूप करता है। जगत में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे वह अपने रूप न करता हो। अनादिकाल से आजतक एक एक्षण भी ऐसा नहीं रहा, जब इसने अपनी मान्यता में समस्त परद्राव्यों को अपना न माना हो।

ये देह, वाणी, इन्द्रियाँ, कर्म, स्त्री-कुटुंब आदि तथा रूपा-पैसा, दुकान आदि मेरे हैं; देश, समाज आदि मेरे हैं - ऐसे कर्म-नोकर्म को, परजीवीं को अपना मानता रहा है। अरे भाई! जो तू इन परवस्तुओं को अपनी मानता है, तेरा यह मिथ्या अध्यवसाय है। वस्तुतः तेरा स्वभाव तो इन सबको मात्र जानने का है। इस बात की प्रतीति करके अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को स्वीकार कर। परवस्तु तो अनन्त काल में आज तक न किसी की हुई है और न होगी।

जो अपना स्वरूप है - स्वभाव हैं, उसमें अपनेपन की परायेपन की प्रतीति करने से ही सच्ची शान्ति व परम सुख की प्राप्ति होती है।

अब अपना स्व-परप्रकाशक एक ज्ञातकभाव श्रद्धांजलि में व ज्ञान में आया तो श्रद्धापने केवलश्रद्धा हुआ कहा जाता है। वस्तुतः तो केवलश्रद्धा पर्याय १३वें गुणस्थान में ही होती है।

जो ज्ञान की पर्याय स्वपन को जानती है, उसमें भविष्य की पर्याय भी जानने में आ ही जाती है।’भविष्य में राग होगा’ उसका जो ज्ञान होगा, वह ज्ञान ज्ञानी को ज्ञानपर्याय में आ जाता है। ‘तीन काल व तीन लोक को में जानेवाला हूँ’ ऐसी वास्तविक प्रतीति उसे आ जाती है।
भावार्थ पर प्रवचन

देखो, अपना ज्ञाता-दृढ़ स्वरूप है तथा ज्ञाता-दृढ़ापने ही अपने को रहना भी चाहिए। परन्तु मिथ्या अभिप्राय से मोहित होकर चतुर्गति संसार में जितनी अवस्थाएँ और जितने पदार्थ हैं, वे सब मेरे हैं, अज्ञानी ऐसा मानता है। स्वयं को सर्वरूप करता है। जितनी अपनी अवस्थाएँ हैं, स्वयं को उन सब रूप हुआ मानता है। जिन-जिन अवस्थाओं को जानता है, उन सर्वरूप अपने को करता है अर्थात् ‘वे सब मेरी हैं’ – ऐसा मानता है। अन्तः इस देह की, वाणी की, इन्द्रियों की, राग की, कर्म आदि की सभी अवस्थाओं को अपनी मानता है।

अज्ञान के पक्ष को छोड़कर मान्यता बदले तो अन्दर में अपना एक ज्ञातकस्वरूप जानने में आ जाता है। ‘में पर का कर्ता हूँ’ – ऐसे पर के कर्तृत्व के पक्ष से हटकर ‘मैं तो सबका जानन्हार एक ज्ञातकस्वभाव मात्र हूँ’ – ऐसे अपने पक्ष में आने पर भगवान निर्मलानन्दस्वरूप प्रभु आत्मा जानने में आ जाता है। बस, मात्र पक्षपात छोड़ने की जरूरत है, मान्यता बदलने की देर है; अर्थात् ‘स्वरूप’ का – ‘स्व’ का आश्रय लेने की आवश्यकता है।

इत्यादि सब बातें कहने का आश्रय एकमात्र यही है कि पर का आश्रय छोड़कर, पर से उपयोग को हटाकर ‘स्व’ का आश्रय कर। ऐसा किए बिना केवलज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा की व केवली की यथार्थ प्रतीति नहीं होती।

आत्मा का स्वभाव तो अन्दर में ऐसा है कि कुछ भी बाकी रहे बिना सब कुछ जाने; परन्तु अज्ञानी उस स्वभाव की सामथ्र्य को भूलकर, सारे जगत को अपना मानने बेठा है। भाई! आत्मा का स्वरूप स्व-परप्रकाशक है, पर्वत इसने पर को अपना मानकर स्वयं को परस्पर कर रखा है। इसकारण स्वरूप से अज्ञानपना है – इसकी यही मिथ्यादृष्टि इसके दौरे संसार का कारण है। •
समयसार गाथा २५८-२६९

सवे करेदि जीवो अज्ञवसाणेन तिरिण्योऽर्जुः।
देवमणुः च सवे पुण्यं पावं च णेयविः॥ २५८॥
धमाथर्मं च तथा जीवाजीवे अलोकाव्योऽर्जुः।
सवे करेदि जीवो अज्ञवसाणेन अप्याणं॥ २६९॥

सर्वानु करोति जीवोःध्यवसाणेन तिरिण्यङ्गः।
देवमुनजाः च सर्वानुः पुण्यं पापं च नैकविधम्॥ २६८॥
धमाथर्मं च तथा जीवाजीवे अलोकलोकोऽर्जुः।
सर्वानु करोति जीवः अध्यवसाणेन अत्मानम्॥ २६९॥

यथायनं ज्ञियारभवःसाध्यवसाणेन हिंसकं, इतःध्यवसाणेनिर्तं च
अत्मानं कुर्यात्, तथा विपच्यामनारकाध्यवसाणेन नारः, विपच्यामन
तिरिण्याध्यवसाणेन तिरिण्यः, विपच्यामनमनुष्याध्यवसाणेन मनुष्यं,
विपच्यामनदेवाध्यवसाणेन देवं, विपच्यामनसुखादिपुण्याध्यवसाणेन पुण्यं,
विपच्यामनदुःखादिपापाध्यवसाणेन पापमात्रं कुर्यात्। तत्थैव च
ज्ञायमानधर्माध्यवसाणेन धर्मं, ज्ञायमानाधर्माध्यवसाणेनाधर्मं,
ज्ञायमानजीवानराध्यवसाणेन जीवातः, ज्ञायमानपुद्रालध्यवसाणेन
पुदुगलं, ज्ञायमानलोकाकाशाध्यवसाणेन लोकाकां, ज्ञायमानलोकाकाशाध्यवसाणेनालोकाकाशात्मां कुर्यात्।

अब इस अर्थ को स्पष्टतया गाथा में कहते हैं :-

यह जीव अध्यवसान से तिरिण्यं नारः देव नर ।
अर पुण्यं एवं पापं सब पर्यायमयं निजः को करे॥ २६८॥
वह जीव और अजीव एवं धर्म और अधर्मस्य ।
अर लोको और अलोक इन सबम्य स्वयं निजः को करे॥ २६९॥

गाथार्थम् - [जीवः] जीव [अध्यवसाणेः] अध्यवसान से
[तिरिण्यङ्गः] तिरिण्यं, नारः [देवमुनजाः] देव और मनुष्य
[सर्वानुः] इन सब पर्यायोः, [च] तथा [नैकविधम्] अनेक प्रकार के [पुण्यं

टीका – जैसे यह आत्मा पूर्वात्म प्रकार* क्रिया जिसका गर्भ है ऐसे हिंसा के अध्यवसान से अपने को हिंसक करता है, (अहिसा के अध्यवसान से अपने को अहिंसक करता है) और अन्य अध्यवसानों से अपने को अन्य करता है, इसीप्रकार उदय में आते हुए नारक के अध्यवसान से अपने को नारकी करता है, उदय में आते हुए तिर्य्ग के अध्यवसान से अपने को तिर्य्ग करता है, उदय में आते हुए मनुष्य के अध्यवसान से अपने को मनुष्य करता है, उदय में आते हुए देव के अध्यवसान से अपने को देव करता है, उदय में आते हुए सुख आदि पूण्य के अध्यवसान से अपने को पूण्यरूप करता है और उदय में आते हुए दुःख आदि पाप के अध्यवसान से अपने को पापरूप करता है; और इसीप्रकार जानने में आता हुआ जो धर्म (धर्मस्तिकाय) है उसके अध्यवसान से अपने को धर्मरूप करता है, जानने में आते हुवे अर्थम के (अर्थमस्तिकाय के) अध्यवसान से अपने को अर्थमरूप करता है, जानने में आते हुवे अन्य जीव के अध्यवसानों से अपने को अन्य जीवरूप करता है, जानने में आते हुवे पुद्गल के अध्यवसानों से अपने को पुद्गलरूप करता है, जानने में आते हुवे लोककाश के अध्यवसान से अपने को लोककाशरूप करता है और जानने में आते हुवे अलोककाश के अध्यवसान से अपने को अलोककाशरूप करता है (इसप्रकार आत्मा अध्यवसान से अपने को सर्वरूप करता है)।

भावार्थ – यह अध्यवसान अज्ञातरूप है इसलिये उसे अपना परमार्थस्वरूप नहीं जानना चाहिए। उस अध्यवसान से ही आत्मा अपने को अनेक अवस्थारूप करता है अर्थात् उनमें अपनापन मानक प्रवर्तता है।

* हिंसा आदि के अध्यवसान राग-द्वेष के उदयमय हनन आदि की क्रियाओं से परिपूर्ण है; अर्थात् उन क्रियाओं के साथ आत्मा की तन्मयता होने की मान्यतारूप है।
समयसार गाथा २६८-२६९

गाथा २६८-२६९ एवं टीका पर प्रवचन

देखो! इसमें चार गति सहित पुण्य-पाप भाव, शुभ-अशुभ भाव भी लिये हैं। वस्तुतः तो स्वयं स्वयं को जाने; स्वप्रकाशी हो तो पुण्य-पापादि सबको जान लेता है, सब जानने में आ जाते हैं - ऐसा इसका स्व-पर प्रकाशक ज्ञानस्वभाव है। परंतु स्व को प्रकाशित किये बिना केवल परप्रकाशक होना संभव नहीं है तथा केवल परप्रकाशकपना मानना यथार्थ नहीं है। वास्तव में तो जब आत्मा के 'स्व' प्रकाशकपने का, शुद्ध चैतन्यप्रकाश का भान हो, तब रागादि (पुण्य-पाप आदि) व्यवहार से मात्र जाने हुए प्रयोजनवान हैं। पर अज्ञानी ज्ञाताभाव से रहने के बदले रागादि भावों को करता हुआ उहें प्रयोजनवान मानता है। ‘अनेक प्रकार के शुभ-अशुभ भावों को में करता हूँ’ अमुक काम में निराले हैं आदि प्रकार से मिथ्या अहंकार किये अपने को सर्वरूप करता है।

इसीप्रकार मिथ्या अध्यवसाय से धर्म, अधर्म आदि छह द्रव्यरूप भी स्वयं को करता है। यहाँ गाथा में जो धर्म-अधर्म की बात कही है, वह पुण्य-पाप की बात नहीं है, बल्कि धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय द्रव्यों की बात है। तथा सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार गाथा ४०४ में जो धर्म-अधर्म की चर्चा है, वह पुण्य- पाप के अर्थ में है। जहाँ जिस अपेक्षा से कथन किया गया हो, उसे बराबर समझना चाहिए।

भाई! तू प्रजात्रहा है न? ज्ञानस्तुप है न? आत्मा एकमात्र ज्ञान का मत है, ज्ञानमय है, और अपनी ज्ञानपर्यायों से सबको ज्ञाननैव अपने ज्ञानस्वभाव का ही कर्ता है। ऐसा न मानकर सबका कर्ता अपने को मानना- बस यही तेरी मिथ्याबुद्धि है। ‘ये पुण्य-पाप के भाव, ये स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब, परिवारं सब मेरे हैं’ - ऐसा जो तू मानता है, यह सब मिथ्या है। ये सब तो तेरे परप्रकाशी ज्ञान के विषय हैं, परजेय हैं।

आत्मा हिंसा के अध्यवसाय से स्वयं को हिंसकरूप करता है। पर के साथ एकत्रबुद्धि से जो अध्यवसाय होते हैं, वे राग-द्वेष की क्रिया से भरे
होते हैं। स्वयं पर सदा ध्यान-भिन्न वस्तुएँ हैं। इसकारणम् में पर को मारूँ, वचाँः इत्यादि अभिप्राय स्वयं-पर की एकत्वबुद्धि सहित अध्यवसान है; वे अध्यवसान राग-द्वेष की क्रिया से भरे हैं और राग-द्वेषरूप हिंसा के अध्यवसान से अज्ञात स्वयं को हिंसक करता है।

आत्मा सचिवालय-द्वृत्तकृपा है। आत्मप्रभु अर्कले ज्ञानभाव से भरा, वीररागभाव से भरा भगवान है। तथा पर को बँधने-छोड़ने आदि के अध्यवसान, पर में एकत्वबुद्धरूप अध्यवसान राग-द्वेष की क्रिया से भरे हुए हैं।

एक ज्ञायकभाव स्वरूप, वीररागभाव स्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि करने के बदले अज्ञात जीव 'में अमुक को बंधन में डाल दूँ, अमुक को छूटवा दूँ' इत्यादि अध्यवसान करता है, एवं केवल मलिन राग-द्वेष के परिणामों से भरा होने से स्वयं को राग-द्वेषरूप मलिन-हिंसक करता है।

चैतन्यपुर्वी प्रभु भगवान आत्मा अखण्ड, एक ज्ञायकभाव मात्र वस्तु है। उसमें दृष्टि जाते ही पर्याय में सम्पन्नर्जन-ज्ञान-चारित्ररूप वीररागभाव उत्पन्न होने लगता है। परन्तु यह बड़े खेड़ की वात है कि यह आत्मा अपने ऐसे स्वभाव को भूतकर स्वयं को हिंसक करता है।

अहा! यद्यपि जगत को सुनने में यह वात कठोर लगती है कि परजीव की रक्षारूप अहिंसा का अध्यवसाय रागमय होने से वस्तुतः पापवत् ही है। परन्तु पर की रक्षा जब कोई कर ही नहीं सकता, फिर भी अज्ञात पर की रक्षा का मिथ्या अहंकार करता है; इस अपेक्षा वह बचने का अभिप्राय मिथ्यालय रूप पाप है या नहीं? निर्यर्थक है या नहीं? तथा पर में एकत्वबुद्धि व कतर्पत्तुबुद्धि सहित होने से राग-द्वेष की क्रिया से भरा हुआ है या नहीं?

इस अध्यवसान में भगवान आत्मा का वीररागभाव, चैतन्यभाव आता ही नहीं है, केवल राग-द्वेष ही आते हैं। अतः ऐसे सभी भावों को योगीनदेश ने आगम में पाप कहा है।

प्रश्न — यदि ऐसा है तो सम्प्रदृष्टि सर्वजीवों को अभयदान के दाता हैं, ऐसा जो कहा जाता है, यह किसप्रकार संभव है?
उत्तर - भाई! 'पर जीवों को में अभयादन दूः अथवा पर की रक्षा करूँ' - ऐसा एकत्वबुद्धि सहित अभिप्राय समकिती को होता ही नहीं है; क्योंकि पर के साथ एकत्वबुद्धि की गांठ समकिती की छूट गई है। समकिती को किंचित अस्थिरता के कारण परजीवों के अभयादन सम्बन्धी विकल्प अवश्य आता है; परन्तु 'परजीवों से तथा उनकी रक्षा के विकल्प से में भिन्न हूँ' ऐसी अन्तर प्रतीत उसे निरंतर रहती है।

अहिंसा के विकल्प के काल में भी समकिती को अनतरंग में निर्विकल्प सम्यगदर्शन-ज्ञान आदि बीतरागभावरूप परिणति प्रगट होती है। इसप्रकार उसे अनतरंग में निरचय व बाहर में व्यवहार अभयादन वर्तता है। जबकि मिथ्यादृष्टि के तो 'में पर की रक्षा करूँ, उन्हें मारूँ नहीं', ऐसे अहिंसा के अभ्यवसाय में भी केवल राग-द्वेष-मोह भाव ही भरे रहते हैं। यहाँ मिथ्यादृष्टि के प्रकरण में 'अहिंसक' का अर्थ बीतरागभाव रूप अहिंसा नहीं है, परन्तु उसके गर्भ में राग-द्वेष-मोह की क्रिया भरी है।

प्रश्न - अहिंसा को तो शास्त्रों में परमधर्म कहा है और आप इस अहिंसा को पाप की श्रेणी में रखते हो, महापाप कहते हो - ऐसा क्यों? तथा वह कौनसी अहिंसा है, जिसे परमधर्म कहा गया है?

उत्तर - हाँ! तुम ठीक कहते हो। वह बीतरागी अहिंसा की बात है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप, ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा के आश्रय से अन्तर में जो निर्मल सम्यगदर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप बीतराग परिणति प्रगट होती है, वह अहिंसा है तथा वही परमधर्म है। ऐसे धर्मी जीवों को परजीवों की रक्षा करने का जो विकल्प आता है, उसे व्यवहारधर्म कहा गया है। पर यहाँ वह व्यवहारधर्म की बात भी नहीं है। यहाँ तो जिसका परमधर्म अर्थात् निरचयधर्म भी नहीं तथा व्यवहारधर्म भी नहीं - ऐसे अज्ञानी की शुभभाव वाली अहिंसा की बात है, जिसे मिथ्यात्व के कारण पापरूप कहा है।

अज्ञानी को परजीवों को मारने-बचाने का तथा पर में एकत्वबुद्धि का जो अध्यवसान है, वह राग-द्वेष-मोह की क्रिया से अन्तर्गित है। तथा उस
अभिप्राय से वह स्वयं को हिंसक-अहिंसक अथवा राग-देश-मोह रूप करता है। वह अध्यवसाय पर के साथ व राग-देश-मोह की क्रिया के साथ त्रूप व तन्मयतारूप होने से मिथ्यात्व के महापापरूप है।

रजीवों की दया पातन करने का जो भाव है, वह भले पुष्पभाव है, परंतु उसी में ‘में परजीवों की दया पाल सकता हूँ, उनकी रक्षा कर सकता हूँ’ - ऐसी जो मान्यता है, वह मान्यता मिथ्यात्व के महापापरूप है।

अब आगे कहते हैं कि अध्यवसायों से अज्ञानी अपने को अन्यरूप करता है। जैसे कि ‘घर में बेटी बड़ी हो गई है, इसे अच्छे में, होनहार वर के साथ ब्याह दूँ, इस बेटे को काम-दंधेर से लगा दूँ, संतान के सुख के लिए बैग-बगीचा, बंगला बनवा दूँ’ इत्यादि अध्यवसायों से अपने एक ज्ञायकभाव को भूलकर अज्ञानी पर में एकाकार हो जाता है। आचार्य उससे कहते हैं कि - भाई! इसमें तेरे ही आत्मा का घात होता है; क्योंकि ये अध्यवसाय राग-देश-मोह से भरे हुए हैं। भगवान! तू ऐसे मिथ्या अभिप्राय के कारण चौंसाई लाख योनियों में जन्म-मरण के दुख उठा-उठाकर चारों ओर से लुट-पिट रहा है।

‘दूसरों को धनादि देकर सुकी कर दूँ, अन-पानी देकर भूख-प्यास मिटा दूँ, औषधि आदि द्वारा निरोग कर दूँ, दीन-दुःखियों की, गरीबों की सेवा करूँ’ आदि सभी प्रकार के अध्यवसाय राग-देश से भरे हुए हैं, मिथ्यात्वभाव हैं।

देखो, यह आत्मा तो दिव्य शक्तिमय प्रभु वीरागी परमान्द से भरा अनंत शक्तियों का भंडार चित्तचक्षुकारस्वरूप भगवान है; परंतु पर के कर्त्तव्य के अज्ञान के कारण यह मिथ्या अध्यवसायरूप जंगीर से जड़ा हुआ है।

अहा ! यह जीव अन्य अध्यवसायों से अपने को अन्यरूप करता है। जैसे कि - में बनया हूँ; ब्राह्मण हूँ; क्षत्रिय हूँ; हरिजन हूँ आदि अध्यवसायों से स्वयं को इन्हीं रूप मानने लगता है। ‘में ज्ञायक हूँ’ इस अनुभव के बदले मिथ्याध्यवसाय से ‘में अमुक हूँ’ - इसप्रकार अपने को अन्यरूप करता है। जबकि भगवान आत्मा तो एक ज्ञायकभाव मात्र है। यह बनया, ब्राह्मण नहीं है। इसप्रकार औद्योगिक भाव के कारण अपने को नर-नारक आदि मानने
लगता है। आचार्य कहते हैं कि अरे भगवान! तू तो एक ज्ञायकमात्र है। नारकी
tो जड़देह है। इस देह में रहने से अपने को नारकी मानने का अभिप्राय
मिथ्यात्म है।

‘उदय में आते हुए नारकीपन के अध्यवसाय से’ यह कहकर यहाँ यह
भी सिद्ध किया है कि तू नारकी अवस्था में भी अनन्तबार उत्पन्न हुआ है
और तब नारकीपन के अभ्यास से अपने आत्मा का पतन किया। अहा !
यह आत्मा नारकी नहीं है, किन्तु परमानन्दमय ज्ञायकस्वरूप भगवान है।

देखो, राजा श्रेष्ठिक वर्तमान में नरक में हैं, पर यू जानी होने से अपने को
नारकी न मानकर, नारकी के रूप में न देखकर भगवान आत्मा के रूप में
देखते—जानते हैं; में ज्ञाननादस्वभावी भगवान आत्मा हूँ—ऐसा ही अपने में
अनुभव करते हैं। ये जो नारकी पर्याय है, यह मुझसे भिन्न है—में तो मात्र
इसका ज्ञानहार हूँ—ऐसा मानता है। मान्यता पलटने से जीवन में बहुत भारी
परिवर्तन आ जाता है।

अब कहते हैं कि उदय में आते हुए तिर्यंच के अध्यवसाय से अपने को
तिर्यंच करता है, उदय में आते हुए मनुष्य के अध्यवसाय से अपने को मनुष्य
करता है—ऐसा कहकर यह सिद्ध किया है कि इस भवसमुद्र में एकेन्द्रिय
से लेकर पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याय में यह भगवान आत्मा अनन्तबार जन्मा—मरा
है। और वहाँ ऐसा माना कि ‘में तिर्यंच हूँ, में स्वी हूँ, पुरुष हूँ, बालक हूँ,
युवा हूँ, वृद्ध हूँ, पण्डित हूँ, मूर्ख हूँ, राजा हूँ, रंग हूँ आदि।’ इसप्रकार अपने
को मनुष्य करता है। यदि कोई समाजसेवा में, राष्ट्रसेवा में लगा हो तो अपने
को समाजसेवक व देशसेवक मानता है।

आचार्य कहते हैं कि यह तेरा रागमय मिथ्या अध्यवसाय मिथ्यात्मकमय है।
भाई ! तू इस रागमय अध्यवसाय में तद्दृष्ट हो रहा है, जबकि इसमें आत्मा
की गंध भी नहीं है।

आगे टीका में कहा है कि ‘उदय में आते हुए देव के अध्यवसाय से अपने
को देव करता है तथा उदय में आते हुए सुख—दुःखादि व पुण्य—पापादि
अध्यवसानों से अपने को सुखी—दुःखी व पुण्यात्मा—पापात्मा करता है।’
देखो, जब यह जीव भवनवासी, व्यनर, ज्योतिषी व वैमानिक देव होता है, तब ऐसा मानता है कि में अनेक रिद्रिकारी देव हूँ, असंख्य देवों का स्वामी हूँ आदि।

परन्तु यह मिथ्या अध्यवसाय भी मलिनभावों से भरा है। इसीप्रकार बाह्य संयोग में पुण्योदय से भरपूर धनादि वैभव मिल गया हो अथवा निर्धन रह गया हो तो उसमें अपनेपन की एकतर्विद्या से अर्थतः सुख-दुःख के अध्यवसाय से अज्ञानी जीव अपने को पुण्यरूप-पापरूप व सुख-दुःखरूप करता है।

इसीप्रकार जानने में आते हुए धर्मस्तिकाय, अधर्मस्तिकाय आदि द्रव्यों के अध्यवसाय से अपने को धर्मस्तिकाय आदि द्रव्यरूप करता है।

देखो, यह मात्र जैनदर्शन की ही बात है; क्योंकि अन्य दर्शनों में धर्मस्तिकाय-अधर्मस्तिकाय तो हैं ही नहीं। जैनदर्शन के अनुसार धर्मस्तिकाय नामक एक ऐसा लोकव्याप्त अर्थव व अरूपी द्रव्य है, जो स्वयं गति करने वाले जीव-पुष्पगृहों को गति करने में उदासीन निमित्त होता है। उसका विचार आने पर अज्ञानी को जो उसमें एकत्वरूप विकल्प उठता है, उस विकल्प को अपनाकर अपने आत्मा को उस रूप चिनता है। इसीप्रकार अधर्मस्तिकाय में ममत्व करके अपने को अधर्मस्तिकाय रूप करता है।

तीन लोक में गतिसूक्तक स्वयं स्थिर होते हुए जीव-पुष्पगृहों की स्थिति में उदासीन निमित्तभूत अरूपी पदार्थ अधर्मस्तिकाय है। वह चौहद राजू लोकव्याप्त है। इस अधर्मस्तिकाय का विचार करते हुए उसी के जानने के प्रति उठे विकल्पों में ही एकत्र करके अज्ञानी ऐसा मानने लगता है कि ‘मुझे अधर्मस्तिकाय का ज्ञान है’ - ऐसे अधर्मद्रव्य के अध्यवसाय से स्वयं को अधर्मद्रव्य रूप करता है।

आगे कहते हैं कि जानने में आते हुए अन्य जीवों के अध्यवसाय से अपने को अन्यद्रव्यरूप करता है।

देखो, वे जो स्वी-पृथ्वीदीवन, वृक्ष-पशु, संग-सम्बन्धी तथा नौकर-चाकर आदि अन्य जीव हैं; वे सब पर हैं, स्वयं नहीं हैं; तथापि वे सब मेरे हैं और मुझे उपकारी हैं - ऐसा अध्यवसाय मिथ्या है।
समवसार गाथा २६८-२६९

अज्ञानी ऐसे मिथ्या अध्यवसाय से स्वयं को अन्य जीवरूप करता है –
ऐसा कहते हैं।

ये अरहंतदेव वे निग्रेन्य गुरु के आत्मा हैं न ? वे भी अन्य जीव हैं, पर
हैं; स्व नहीं हैं। उन्हें भी अपना हितकारी मानना तथा ये मेरे तारामहार हैं –
ऐसी एकत्र-ममत्र बुद्धि रूप जो अध्यवसाय है वह मिथ्यादर्शन है।

यहाँ तो यह कह रहे हैं कि जो निज ज्ञायकभाव को छोड़कर अन्य जीव
में अपनेपन का विकल्प करे तो उस विकल्प से वह जीव अपने आपको अन्य
जीवरूप करता है और यह उसका अज्ञान है, मिथ्यात्व है। इसप्रकार जानने
में आते हुए पुद्गलों के अध्यवसाय से स्वयं को पुद्गलरूप करता है।

अहा ! स्वयं तो ज्ञायकस्वरूप है; उसे जाने बिना इस शरीर, मन, वाणी,
धन-सम्पत्ति, बाग-बंगला, हीरा-माणिक-मोती आदि अनेक प्रकार के
पुद्गलों को अपना जानता हुआ ‘ये मेरे हैं, मुझे लाभदायक है’ ऐसे अध्यवसाय
से अज्ञानी जीव स्वयं को पुद्गल द्रव्य रूप करता है।

स्वयं पुद्गल नहीं हो जाता, बल्कि स्वयं को उस रूप मानने लगता है;
उसमें अपना बदृपन अनुभव करने लगता है। ‘में ज्ञायक हूँ’ – ऐसा न मानकर
इसके बदले ‘में शरीररूप हूँ, में गोरा-काला, सबल-दुर्बल आदि रूप हूँ’ –
ऐसा अनुभव करने लगता है। यही अपने को पुद्गलरूप करना है, जो कि
अज्ञानप्रय अध्यवसाय है।

लोक के आकार का विचार करते हुए अज्ञानी उन विकल्पों में एकत्रबुद्धि
करके लोकाकाश व अलोकाकाश समबन्धी अध्यवसायों से स्वयं को
लोकाकाश व अलोकाकाश रूप करता है। इसप्रकार जीव मिथ्या अध्यवसायों
से स्वयं को पररूप करता है।

अनन्तकाल से अज्ञानी ने ऑंधी मान्यता से अपने को भूलकर पर में
एकत्र-ममत्र रूप मिथ्या अध्यवसाय ही किये हैं। स्वयं है तो स्वभाव से
सकलज्ञ-ज्ञायक, तथापि अपने स्वरूप को जाने बिना वह जिन-जिन अन्य
पदार्थों को जानता है या जो—जो अन्य त्रैय जानने में आते हैं, उन सर्वरूप स्वरूप को मानने लगता है। ऐसी मिथ्या मान्यता से ही जीव अनंतकाल से संसार में भटक रहा है; क्योंकि यह मिथ्या मान्यता ही बंधन का कारण है।

तात्त्विक यह है कि ये सर्व अध्यवसाय अज्ञानरूप हैं, इसकारण इन्हें अपना परमार्थस्वरूप नहीं समझना चाहिए।

‘में पर जीवों को मारता हूँ, बचाता हूँ, बाँधता हूँ, छुड़ाता हूँ’ — इत्यादि जो पर में एकत्रविद्वृत्त का अध्यवसाय है, वह अज्ञानरूप है। जगत में अन्य पदार्थ की व्यवस्था में कर सकता हूँ — ऐसी मान्यता अज्ञानरूप है। इसीप्रकार ‘पर मारता है, बचाता है’ आदि अध्यवसाय भी अज्ञानरूप है; क्योंकि एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का प्रवेश ही नहीं है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ कर ही नहीं सकता।

इसलिये कहते हैं कि इन अध्यवसायों को अपना परमार्थस्वरूप नहीं समझना।‘में तो ज्ञानस्वरूप हूँ तथा परवस्तुएँ त्रैय हैं’ — यही वास्तविक वस्तुस्वरूप है।

अब इस अर्थ का कलाशरूप तथा आगामी कथन का सूचक कार्य कहते हैं —

(इन्द्रवन्ध)
विश्वविभक्तोलापि हि यत्प्रभावादात्मानात्मता विद्धाति विश्वम्।
मोहक्रंडोध्यवसाय एष नास्तीह येषां यत्वस्त एव ॥ १७२॥

श्लोकार्थः — [ विश्ववात् विभक्तः: अपि हि ] विरव से (समस्त द्रव्यों से) भिन होने पर भी [ आत्मा ] आत्मा [ यत्–प्रभावात् आत्मानम्
विश्वम् विद्धाति ] जिसके प्रभाव से अपने को विश्वरूप करता है [ एषः
अध्यवसायः ] ऐसा यह अध्यवसार् = [ मोह-एक-कन्दः ] कि जिसका
मोह ही एक मूल है वह — [ येषां इহ नास्ति ] जिनके नहीं है [ ते एव
यत्वः ] वे ही मुनि हैं ॥ १७२॥
कलश १७२ पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि ज्ञातिमात्र जिसकी एक स्वाभाविक क्रिया है - ऐसा ज्ञानानन्द प्रभु आत्मा सम्पूर्ण विश्व से भिन है। सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा इस शरीर-मन-वाणी-इन्तज-कुटुम्ब-परिवार आदि जगत के सर्व अन्य द्रव्यों तथा इसके गुण-पर्यायों से भिन है। ये दया-दान आदि के भाव भी विश्व में ही शामिल है। अर्थात् भगवान आत्मा में होनेवाले दया-दान आदि भावों से भी भगवान आत्मा भिन है।

जगत के अनन्त आत्माओं तथा अनन्तानं पुदुगल-परमाणुओं से भिन होते हुए भी ‘ये मेरे हैं तथा में इनकी क्रिया करता हूँ’ - ऐसे अध्यवसाय से जीव स्वयं को विश्वरूप-अनेकरूप करता है। है तो स्वयं सदा अखण्ड एक ज्ञातिक्षरूप, परंतु मिथ्या अध्यवसाय से स्वयं को विश्वरूप करता है।

देखो, महान दिगम्बर जैनाचार्य भगवान कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि ‘पर की क्रिया में करता हूँ’ ऐसा जिसका अध्यवसाय है, मान्यता है; वह मिथ्यात्मृष्टि है। तथा ऐसे अध्यवसाय से जो रहित हैं, वे ही वस्तुः समकित्ती हैं।

अपना एक ज्ञातिक्षरूप तो जगत के सर्व पदार्थों को जानने की सामर्थ्यवाला है। परंतु अज्ञानी उस सामर्थ्य को भूलकर सारे जगत को किसी न किसी रूप में अपना मानता है तथा उसमें अपना कर्तृत्व मानता है। इस सब अज्ञान का मूल एकमात्र मोह ही है; मिथ्या मान्यता ही है।

पर में एकत्वबुद्धि का जो अध्यवसाय है, उसका मूल एक मिथ्यात्म ही है। ऐसा मिथ्या अध्यवसाय जिसको नहीं है, वे ही ज्ञानी हैं; वे ही मुनि हैं।

यहाँ मुनिदशा की प्रधानता से कथन है। वैसे, चौथे-पचमवें गुणस्थान में भी पर की एकत्वबुद्धि का अध्यवसाय नहीं होता।

कुछ लोग मेरे बारे में ऐसा कहते हैं कि ‘कानजीतस्वामी मूलतः श्वेताम्बर मान्यता बाला है न ? देखो, आज भी वे श्वेताम्बर साधु जैसी लुंगी पहनते हैं, दुपट्टा ओढ़ते हैं।’ तथा साधु न होते हुए भी अपने को साधु (गुरु) मनवते हैं, स्वयं वस्त्र पहनते हैं एवं वस्त्ररहित साधुओं को गुरु नहीं मानते……’।

परंतु भाई! मैं निर्ग्रंथ गुरु नहीं हूँ, मेरी तो गृहस्थदशा है। निर्ग्रंथ गुरुओं की तो अद्भुत/अलौकिक अन्तर्दशा होती है। उनकी तो बाहर में वस्त्र से नग
ब अन्तर में राग से नाग परिणति हुई है। पर का भला-बुरा करने की बुद्धि का उनमें अभाव हो गया है तथा प्रचुर आनन्दस ल उनकी ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की परिणति उभर आई है। मुनिश्वर तो ऐसे उपशम रस में सराबोर होते हैं।

अहा! जिन्होंने मोहग्रन्थ का नाश कर दिया है, ऐसे निर्ग्रंथ गुरु-साधु यथाजातरूप ही होते हैं। अहो! धन्य वह मुनि दशा!

जिसका सहज एक ज्ञातकस्वभाव है – ऐसे आत्मा का ‘स्व’ व ‘पर’ को जानने का सहज स्वभाव है।

नाटक समयसार में आता है न?

“स्व-पर प्रकाशक शक्ति हमारी, तातैं वचन भेद भ्रम भरी।
ज्ञेयदशा दुविधा परभासी, निजरूपा-पररूपा भासी॥”

स्व-पर को मात्र जानना अपना स्वभाव है। उसे प्रहण न करके जानने में आने वाले ये देव मेरे, ये गुरु मेरे, यह मन्दिर हमारा – ऐसे परद्रव्य के मिथ्या अध्यवसाय से अज्ञानी स्वयं को पररूप करता है। इसका मूल एकमात्र मोह ही है तथा ये अध्यवसाय जिसके नहीं है, वे अन्तरंग चारित्र के धारक मुनिवर हैं।

‘चारित्रं खलु धर्मम्’ चारित्र ही धर्म है और वही साक्षात् मोक्ष का कारण है – ऐसा भगवान ने कहा है। तथा ‘दुस्संयुतोधम्मो’ – इस चारित्र का मूल सम्यगर्द्धन है – ऐसा भी कहा है। जिसमें स्व-पर को जाननेरूप एक स्वभाव वाले आत्मा की परिपूर्ण प्रतितित्व वर्तती है, वह सम्यगर्द्धन ही धर्म का अर्थात् चारित्र का मूल है। ऐसे चारित्र के धारक मुनिवरों को उपरोक्त अध्यवसाय नहीं होते।

मोह ही जिसका मूल है, ऐसा अध्यवसाय जिनको नहीं है – तथा सम्यगर्द्धन जिसका मूल है – ऐसे चारित्र के धारक, प्रजुरुर आनन्द में झूलने वाले मुनिराज होते हैं।

जनप्रकाश धर्म का मूल सम्यगर्द्धन है, इसीप्रकार अध्यवसायों का मूल मिथ्यादर्शन है। तथा ऐसा अध्यवसाय मुनिवरों को नहीं होता है। मुनिवरों को छहकाय के जीवों की रक्षा का विकल्प तो आता है, पर वे उस विकल्प के स्वामी व कर्ता नहीं होते; वे उसके भी मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं।
समवसार गाथा २७

एदाणि पातिथ जेसिं अज्ञावसानाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व कर्मेण मुनीण लिप्यांति॥ २७०॥

एतानि न संति येषामध्वसानाणेवमादीणि।
ते अशुभेष शुभेष वा कर्मणा मुनयो न लिप्यांशं॥ २७०॥

एतानि किल यानि प्रतिविधानयज्ञवसानाणि तानि समस्तान्यपि
शुभाशुभकर्म-बंधनिनित्तानि, स्वयम्भज्ञानादिस्यात्मातु॥ तथाहि – यदिं
हिन्नमीथायज्ञवसानै तत्, ज्ञानमयज्ञस्य: सदतुकज्ञययक्रियस्य
रागद्वेषविवाकमयीनां हजनादिदीश्य यागां च विशेषाजङ्गनेन
विविकातमाज्ञानातु, अति तावद्यां, विविकातमादिर्यानादिति च
निश्चयार्थां, विविकातमाचारणादिति चाचारित्रम्। [ यत्युन: 
नारकोहिमिथायज्ञवसां तद्धि ज्ञानमयज्ञस्य: 
सदतुकज्ञायके कभावस्य कर्मद्वयज्ञिनां नारकादिभावान च 
विशेषाजङ्गनेन विविकातमाज्ञानादिति तावद्यां, विविकातमादिर्यानादिति 
च मिठ्यार्थां, विविकातमाचारणादिति चाचारित्रम् ॥] यथौरेष धर्मो 
ज्ञातं इत्यायज्ञवसानं तद्धि, ज्ञानमयज्ञस्य: सदतुकज्ञानैकरूपस्य 
ज्ञयांत्यान्य धर्मादिर्घ्यां च विशेषाजङ्गनेन विविकातमाज्ञानात, अति 
तावद्यां, विविकातमादिर्यानादिति च मिठ्यार्थां, 
विविकातमाचारणादिति चाचारित्रम्। ततो बंधनिनित्तान्यवेत्तानि 
समस्तान्ययज्ञवसानानि। येषामेवेत्तानि न विद्यांते त एव मुनिकुंजराः केचन, 
सदतुकज्ञयक्रियं, सदतुकज्ञायके कभावां, सदतुकज्ञानैकरूपम् च 
विविकातमात्मानं जानतः, सम्प्रक्षयं तोशुनु च तर्च, 
स्वच्छस्वस्वच्छडोषदम्यत्यान्त्यान्तितिषोपत्यंतमाज्ञानादिरु पत्वाभावात, 
शुभेनाशुभेन वा कर्मणा न खलु लिप्येन्।

ये अध्यवसाय जिनके नहीं हैं वे मुनि कर्म से लिप्त नहीं होते – यह अब 
गाथा द्वारा कहते हैं –
ये और इनसे अन्य अध्यवसान जिनके हें नहीं।
ये मुनीजन शुभ-अशुभ कर्मों से न कबहूँ लिप्त हों। ॥ २७० ॥

गाथार्थ – [एतानि] यह (पूर्व कथित) [एवमादीनि] तथा ऐसे और
भी [अध्यवसानानि] अध्यवसान [येषाम्] जिनके [न संति] नहीं हैं,

टीका – यह जो तीनों प्रकार के अध्यवसान हैं वे सभी स्वयं अज्ञानादिरूप
(अर्थात् अज्ञान, मिथ्यादर्शन और अचारितरूप) होने से शुभाशुभ कर्मबन्ध के
निमित्त हैं। इसे विशेष समझते हैं :– ‘में (परजीवों को) मारता हूँ’ इत्यादि
जो अध्यवसान है उस अध्यवसान वाले जीव को ज्ञानमयपने के सद्भाव से
सतरूप, अहेतुक, ज्ञपि हो जिसकी एक क्रिया है ऐसे आत्मा का और
रागद्वैष के उदयमय ऐसी हनन आदि क्रियाओं का विशेष नहीं जानने के
कारण भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से, वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है,
भिन्न आत्मा का अदर्शन (अश्रद्धाः) होने से (वह अध्यवसान) मिथ्यादर्शन
है और भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से (वह अध्यवसान) अचारित है।
[और ‘में नारक हूँ’ इत्यादि जो अध्यवसान है वह अध्यवसानवाले जीव को
भी, ज्ञानमयपने के सद्भाव से सतरूप अहेतुक ज्ञायक ही जिसका एक भाव
है ऐसा आत्मा का और कर्माद्वयज्ञिन्त नारक आदि भावों का विशेष न जानने
के कारण भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से, वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान
है, भिन्न आत्माका अदर्शन होने से (वह अध्यवसान) मिथ्यादर्शन है और
भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से (वह अध्यवसान) अचारित है।] और यह

1. सतरूप = सत्तास्वरूप; असत्स्वरूप (आत्मा ज्ञानमय है इसलिये सतरूप अहेतुक ज्ञपि
   ही उसकी एक क्रिया है।)
2. अहेतुक = जिसका कोई कारण नहीं है ऐसी; अकारण; स्वतःसिद्ध; सहज।
3. ज्ञपि = ज्ञानेनेपूर्व क्रिया। (ज्ञातिक्रिया सतरूप है, और सतरूप होने से अहेतुक है।)
4. हनन = यात करना; यात करते रूप क्रिया। (यात करना आदि क्रियाएँ रागद्वैष के उद्यमय
   हैं।)
5. विशेष = अन्तर; भिन्न लक्षण।
समयसार गाथा २७०

‘धर्मद्वृत्त ज्ञान होता है’ इत्यादि जो अध्यवसान है उस अध्यवसान वाले जीव को भी ज्ञानमयपने के सद्भाव से सत्तुरूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है ऐसे आत्मा का और ज्ञेयमय धर्मादिकरूपों का विशेष न जानने के कारण भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से, वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है, भिन्न आत्मा का अदर्शन होने से (वह अध्यवसान) मिथ्यादर्शन है और भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से (वह अध्यवसान) अचारित्र है। इसलिये यह समस्त अध्यवसान बन्ध के ही निमित्त है।

मात्र जिनके यह अध्यवसान विद्यमान नहीं है वे ही कोई (विरले) मुनिकुंजर (मुनिवरों) सत्तुरूप अहेतुक ज्ञात ही जिसको एक क्रिया है, सत्तुरूप अहेतुक ज्ञात ही जिसके एक भाव है और सत्तुरूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका रूप है ऐसे भिन्न आत्मा को (सर्व अन्यद्वृत्ताभावों से भिन्न आत्मा को) जानते हुए, सम्यक् प्रकार से देखते (श्रद्धा करते) हुए और आचरण करते हुए, स्वच्छ और स्वच्छन्दत्व उद्यमम् (स्वाधीनत्या प्रकाशमान) ऐसी अर्थात् अन्तर्ज्ञोचि को अज्ञानादिरूपों का अत्यत्र अभाव होने से (अर्थात् अनरंज में प्रकाशित हुई ज्ञान्योति किंचित् मात्र भी अज्ञानरूप, मिथ्यादर्शनरूप और अचारित्रूप नहीं होती इसलिए), शुभ या अशुभ कर्म से वास्तव में लिप्त नहीं होते।

भावार्थ — यह जो अध्यवसान है वे ‘मैं पर का ह्नन करता हूँ’ इसप्रकार के हैं, ‘मैं नारक हूँ’, इसप्रकार के हैं तथा ‘मैं परलोक का जानता हूँ’ इसप्रकार के हैं। वे, जब तक आत्मा का और रागादि का, आत्मा का और नारकादि कर्मोदयजिनित भावों का तथा आत्मा का और ज्ञेयरूप अन्यद्वृत्तों तथा ज्ञान हो, तब तक रहते हैं। वे भेदज्ञान के अभाव के कारण मिथ्याज्ञानरूप हैं, मिथ्यादर्शनरूप हैं और मिथ्याचारित्रूप हैं; यों तीन प्रकार के होते हैं। वे अध्यवसान जिनके नहीं हैं वे मुनिकुंजर हैं। वे आत्मा को सम्यक् जानते हैं, सम्यक् श्रद्धा करते हैं और सम्यक् आचरण करते हैं, इसलिये अज्ञान के अभाव से सम्यदर्शनाज्ञानचारित्रूप होते हुए कर्मों से लिप्त नहीं होते।

१. आत्मा ज्ञानमय है इसलिये सत्तुरूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है।
गाथा २७० एवं उसकी टीका व भावार्थ पर प्रवचन

“यह जो तीन प्रकार का अध्यवसान है, वह अज्ञानादिरूप होने से शुभाशुभ कर्मबन्ध का निमित्त है।”

कहते हैं कि ये जो पर को मारने-बचाने आदि से लेकर ‘मैं देव हूँ, नारकी हूँ’ आदि तक के तथा अन्य जीव, पुद्गल, धर्म, अथर्म, आकाश आदि पर को अपने मानने रूप अध्यवसान हैं, वे सब अज्ञानादिरूप होने से शुभाशुभ कर्मबन्ध के निमित्त हैं। पर को बचाने या सुखी करने के भाव शुभ हैं तथा पर को मारने या दुःखी करने के भाव अशुभ हैं। पर दोनों ही एक समान बंध के ही कारण हैं।

इन्हीं को यहाँ टीका के आधार पर विशेष खुलासा करके समझाते हैं।

देखो, भगवान आत्मा निर्मलानन्द का नाथ सदा एक ज्ञानमय है, ज्ञानरूप ही है। इसमें पर का कर्तृत्व नहीं है। ‘ज्ञानमयता’ के कारण सतृ अहेतुक झप्पिये ही जिसकी क्रिया है - ऐसा है।

भाई! वर्तमान जाननेरूप जो ज्ञसक्रिया है, वह क्रिया स्वर्य में स्वर्य से ही सतृ है तथा उसका कोई अन्य कारण नहीं है। यह निर्मल निररूप रत्नार्य की (सम्प्रदायन-ज्ञान-चालित्र की) जो क्रिया प्रगट हुई है, वह स्वर्य सतृ है तथा उसका अन्य कोई कारण नहीं है। यह व्यवहाररत्नार्य के परिणाम से भी प्रगट नहीं हुई है।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि ‘व्यवहार से निःस्करण प्रगट होता है।’ पर यहाँ उसका निषेध कर रहे हैं। कहते हैं कि निर्मल रत्नार्य की क्रिया अहेतुक है। अर्थात् व्यवहाररत्नार्य इसका वास्तविक हेतु नहीं है।

यहाँ तो यह कह रहे हैं कि सतृ अहेतुक झप्पिये ही एक जिसकी क्रिया है, ऐसे आत्मा का और राग-द्वेष आदि क्रियाओं का भेद नहीं जानने के कारण अज्ञानी को भिन्न आत्मा का ज्ञान नहीं है। इसकारण यह पर में एकत्ररूप अध्यवसान करता है। इस शुद्ध ज्ञानकरूप आत्मा का ज्ञान होने से वही
प्रवचन 

समयसार गाथा २७०

अध्यवसाय मिथ्याज्ञानरूप है। भिन्न आत्मा का अदर्शन होने से वही अध्यवसाय मिथ्यादर्शरूप है; तथा भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से वही अचारितरूप है।

भगवान आत्मा की ज्ञेयक्रिया मात्र प्रजाज्ञास्वरूप प्रभु ही है। उसमें वर्तमान सागरित जो ज्ञान की क्रिया, धर्म की या मोक्षार्थ की क्रिया होती है, उसका अन्य कोई हेतु नहीं है। यहाँ व्यवहारलक्ष्य कारण व निश्चयलक्ष्य कार्य - ऐसा नहीं समझना।

प्रश्न - शास्त्रों में व्यवहार को निश्चय का कारण कहा है न?

उत्तर - हाँ, कहा है; परन्तु वह तो निर्मित का ज्ञान कराने के प्रयोजन से किया गया कथन है। भाई! आगम की कथनशैली समझनी चाहिए। यदि कोई एकान्त से ऐसा माने कि 'ब्रह्म तप आदि से धर्म हो जाएगा अथवा उसे धर्म के कारण होगें' - तो उसकी यह मान्यता वस्तुवस्तुरूप के विरुद्ध होने से मिथ्या है।

आत्मा में वर्तमान ज्ञेयक्रिया - धर्म की क्रिया जो हुई है, वह स्वतः सत्व अहेतुक है। उसका उत्पाद स्वतः उत्पाद से है और तत्कालीन पर्याय की योग्यता ही उसका कारण है।

यह बात अलग है कि इस धर्म की क्रिया को त्रिकाली द्रव्य भगवान आत्मा का आश्रय है, परन्तु त्रिकाली द्रव्य इस धर्मक्रिया की उत्पत्ति का सीधा कारण नहीं है। यह ज्ञेय क्रिया - धर्म की क्रिया एक वीतारागभावयम है तथा हनन आदि क्रियाएँ केवल राग-द्वेषमय हैं। अजानी इन दोनों क्रियाओं में भेद नहीं जानता।

आचार्य कहते हैं कि यह मनुष्यभव तत्त्व की समझ बिना यों ही चला जा रहा है। अर्थात, इस स्वर्ण अवसर में तुझे वीताराग सर्वज्ञदेव द्वारा कही शुद्ध 'ज्ञेय' क्रिया एवं 'हनन' क्रिया का भेद जान लेना चाहिए।

अहाँ! ज्ञेय क्रिया तो निर्मल-निरोध ज्ञानस्वाभाविक वीतारागी क्रिया है और 'हनन' आदि क्रियाएँ राग-द्वेषमय मलिन दोषयुक्त हैं। दोनों क्रियाएँ
भिन-भिन हैं। जहाँ ‘हनन’ आदि क्रिया का भाव है, वहाँ ‘घःतिक्रिया’ नहीं है और जहाँ ‘घःतिक्रिया’ का भाव है वहाँ ‘हनन’ आदि क्रिया का भाव नहीं है। एक की दूसरे में नासिक है।

भगवान! ये जानने-देखने की, श्रद्धान की एवं निराकुल आनन्द तथा शान्ति की जो पर्यावरण होती हैं, ये तेरी कर्त्तव्यूरूप क्रियाएं हैं। इनके बदले राग की क्रिया से लाभ मानना, राग की क्रिया को कर्त्तव्य मानना तो राग के साथ एकत्ववृद्धिरूप अज्ञान है, मिथ्यादर्शन है तथा आत्मा का अनाचारण है।

प्रथम बोल में कहते हैं कि छह काय के जीवों को हनन करने की क्रिया को संसार मार्ग मानना एवं बचाने की – रक्षा करने की क्रिया को मोक्षमार्ग मानना राग के साथ एकत्व की क्रियारूप अध्यवसाय है तथा आत्मा का अनाचारण है। उस अध्यवसाय व अनाचारण को आत्मा का आचरण मानना मिथ्यादर्शन है। यहाँ कहते हैं कि आत्मा का अनाचारण होने से राग के साथ एकत्व का अध्यवसाय अचारित्र है – मिथ्याचारित्र है।

यहाँ पहले घःतिक्रिया – ज्ञान की क्रिया कहकर पर्यावरण की बात कही है। आगे ज्ञान्वक्रमण व ज्ञानगुण की बात कहेंगे। इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय – तीनों का कथन करेंगे।

वस्तु यानी द्रव्य त्रिकाली है, ध्रुव है तथा इसमें पर्याय का उत्पाद-व्ययरूप परिणाम होता है। पूर्व पर्याय का व्यय, उत्तर पर्याय का उत्पाद तथा द्रव्य का त्रिकाल टिका रहा – इसप्रकार उत्पाद-व्यय-श्रौत्व – तीनों मिलकर सत्त है, द्रव्य है। भाई! यह बात जितने सूक्ष्म रूप से दिगम्बर जैनधर्म में थी, वैसी यहाँ के सिवाय अन्यत्र कहीं भी नहीं है।

अब दूसरे बोल में कहते हैं कि ये नर-नारकादि पर्यायें तो कर्मोदयजनित पर की अवस्थाएं हैं। ये ज्रेर्यरूप परद्रव्य हैं। अज्ञानी ऐसा मानता है कि यह मनुष्यपन्न जो पुखेसे मिला, यह लाभकारी है; नारक आदि की पर्याय हानिकारक-दुःख की कारण है। अज्ञानी की यह मान्यता मिथ्या अध्यवसाय
समयसार गाथा २७०

है, अज्ञान है। ‘में नारकी हूँ, मनुष्य हूँ, तिर्यच हूँ, देव हूँ’ आदि अध्वस्यान अज्ञानमय हैं।

‘में जावन हूँ, वृद्ध हूँ, बालक हूँ, दुर्भल हूँ, पुष्ट हूँ’ ऐसी जो मान्यताएँ हैं, वे सब कर्मोदयजनित भावों के साथ भगवान ज्ञायकस्वभावी आत्मा का एकपना करने के कारण अज्ञानमय हैं। भगवान आत्मा तो सचिदानंद प्रभु सदा एक ज्ञायकस्वरूप ही है। इसमें नर-नारकादि भाव हैं ही नहीं। तो भी अज्ञानी ऐसा मानता है कि ‘में मनुष्य हूँ, तिर्यच हूँ’, इत्यादि। इसकारण वह इन कर्मोदयजनित भावो से आत्मा का भिन्नपना नहीं जानता। अतः उसके ये अध्वस्यान अज्ञानमय हैं।

यह देख तो जड़-मिट्टी है, इसमें मनुष्यपना नहीं है; परंतु अन्तर में मनुष्यगति नामकर्म के उदय के निमित्त से जीव को जो अवस्था विशेष है, वह मनुष्यपना है। वह उदयजनित पवस्तु है तथा आत्मा तो त्रिकाली एक ज्ञायकभावरूप है। ये दोनों वस्तुएँ भिन-भिन हैं। अज्ञानी दोनों की भिन्नता न जानने के कारण ‘में मनुष्यादि हूँ’ ऐसा जो अध्वस्यान करता है, वह अध्वस्यान भिन आत्मा का अज्ञान होने से मिष्याज्ञान है, भिन आत्मा का अदर्शन होने से मिष्यादर्शन है तथा भिन आत्मा का अनाचरण होने से अचारित्र है।

इसप्रकार जो जीव भगवान ज्ञायक का व मनुष्यादि गति के भावों का विशेष (अन्तर) नहीं जानता, वह अज्ञानी, अश्रद्धावान व अचारित्री है। इसप्रकार पहला बोल पर्याय का - ज्ञतिक्रिया का व दूसरा बोल द्रव्य का - ज्ञायकभाव का हुआ - इसतरह दो बोल हुए।

अब तीसरे ज्ञानगुण का बोल कहते हैं -
आत्मा को तो एक ज्ञति-ज्ञानक्रिया ही है। इसमें श्रद्धा आदि अनन्त गुणों की क्रियाएँ मिल जाती हैं। ज्ञान की प्रधानता से इसे ज्ञति कहा है।
आत्मा में ज्ञानगुण है, जो कि आत्मा का स्वरूप है। ज्ञानगुण आत्मा का सत् अहेतुक स्वभाव है। इसका कोई अन्य कारण नहीं है। ज्ञान के अन्य स्वरूप से ही आत्मा
ज्ञानमय है। इसप्रकार ज्ञान ही जिसका एकरूप है – ऐसे आत्मा और परज्ञानरूप जीव-पुद्गल, धर्म-अधर्म आदि द्रव्यों में भेद नहीं जानने के कारण अज्ञानी स्व व पर – दोनों को एक करता है। ज्ञानस्वरूपी आत्मा व धर्मादि दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। पर अज्ञानी स्व व पर को एकपने जानता है, यही उसका अध्यवसाय है।

अगली २७१वीं गाथा में आठ बोल किए हैं। इस पर से भी कुछ लोग कहते हैं कि ‘अध्यवसाय को बंधु का कारण कहा है, पर परिणाम को नहीं।’ परन्तु भाई! यहाँ तो अध्यवसाय कहो, परिणाम कहो, चेतनामात्रपने से उसे ही चित कहो तथा बोधनामात्रपने से बुद्धि कहो – सब एकार्थ वाचक हैं।

जबतक जीवों को स्व-पर का भेदज्ञान नहीं होता, तबतक जीव को जो अपने व परायण का एकपने रूप परिणाम बताता है, वे सब निषिद्ध हैं; क्योंकि वे बन्ध के कारण हैं। वे पर के साथ के एकत्वबुद्धि के सभी परिणाम अध्यवसाय हैं, अज्ञान हैं, अदर्शन हैं, अचारित्र हैं।

देखो, यहाँ इस गाथा में तो इतना अभिप्रय ही ग्रहण करना कि पर के लक्ष्य से पर के एकत्व जो अध्यवसाय होते हैं, वे निषिद्ध हैं।

‘पर को में मारता हूँ, बचाता हूँ, मैं मनुष्यादि हूँ तथा में धर्मादि द्रव्यों को जानता हूँ’ – ये जो अध्यवसाय हैं, वे सब निषिद्ध हैं।

अब आगे १७२वें कलश में कहेंगे कि में ऐसा मानता हूँ कि जो पराभूतरूप भाव हैं, उन सभी प्रकार के व्यवहार का भावना ने निषेध किया है। तात्पर्य यह है कि स्वाभाव ही निष्प्रय है तथा पराभूतितपन व्यवहार है। स्वाभाव में ‘स्व’ का अर्थ अकेला शुद्ध द्रव्य ग्रहण करना, द्रव्य-गुण-पर्यायों का ग्रहण नहीं करना। ‘स्व’ अर्थात् अन्तगुणमय अभेद एक त्रिकाली आत्मद्रव्य; यही आत्मा करने योग है। इसी के आत्मा को ‘स्वाभूतो निष्प्रयः’ कहा गया है। इसी एक शुद्धात्मा के आत्मा से ही धर्म प्रगट होता है तथा राग, निमित्त व भेद का आत्मा करने ही व्यवहार है। इसी को ‘पराभूतो व्यवहारः’ कहा गया है। सदृशृत व्यवहार भी व्यवहार है।
समयसार गाथा २७०  
गुण-पर्याय सद्भूत होते हुए भी उसे व्यवहार में गिनकर उसके आश्रय करने का निषेध किया है। भाई! जिसे धर्म करना है, उसे एक ‘स्व’ का आश्रय लिये बिना अन्य कोई उपाय नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञान ही जिसका एकरूप है – ऐसा आत्मा तथा ज्ञानरूप धर्मान्दि परद्वय अत्यन्त भिन हैं। इन परज्ञानरूप जानने में आते हुए अनन्त परजीव, अनन्त निगोद के जीव, अनन्त सिद्ध, देव-गुरु आदि तथा शास्त्रों के अनन्त रजकण, धर्म-अधर्म आदि द्रव्यों से निज ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा सर्वथा भिन है। भगवान ज्ञायक का ज्ञानगुण स्वज्ञेय है तथा विश्व के अनन्त अन्य द्रव्य परज्ञेय स्वरूप होने से इससे भिन हैं।

ऐसे स्व-पर ज्ञेयों की भिनता नहीं जानने के कारण अज्ञानी जो अप्रचार बनता है, कि ‘धर्मान्दि को ज्ञान हूँ’ उसका यह अप्रचार रूप इस्तेमाल का आश्रय नोकर से अज्ञान होने से अज्ञान है, भिन आत्मा का आदर्शों होने से मिथ्यादर्शन है तथा भिन आत्मा का अनाचरण होने से अचारित्र है।

कोई कोई इसे एकान्त कहते हैं। हाँ, भाई! यह एकान्त अवश्य है; किन्तु यह समयकृ एकान्त है। यदि सुखी होना हो और दुःख से मुक्त होना हो तो उपयुक्त व्यवहार का आश्रय छोड़कर इस समयकृ एकान्त का अर्थत्व आत्मा के विकाली स्वरूप का ही आश्रय लेना होगा। अहा...... अन्तर में निर्मलानन्द का नाथ ज्ञाननन्द का सागर भगवान आत्मा सदैव ज्ञानस्वरूप ही रहा है। उसे प्राप्त किये बिना जगत में न कोई सुखी हुआ है, न हो सकता है।

ज्ञानगुण व ज्ञित किया वाले भगवान आत्मा को माने बिना सर्व संसारी जीव दुःखी हैं। इसलिए है भगवान्। तू अपनी दृष्टि को ज्ञान-स्वरूप ज्ञायक भगवान आत्मा में जोड़ दे।

भगवान ज्ञायकभाव द्रव्य, ज्ञानगुण औ अनन्त गुणों की निर्मल पर्यायरूप ज्ञितक्रिया – ये अपना ‘स्व’ एवं स्वायत्त ज्ञायक उनका स्वामी है। यह ज्ञान की प्रधानता से स्वतंत्र की बात है। दृष्टि की प्रधानता में तो वह एक ज्ञायक आत्मा
हो आश्रय करने योग्य है। तथा जो एकमात्र ध्येय है - ऐसा त्रिकाली धुव अथवा एक शुद्ध निर्मचछस्त्रूप भगवान ज्ञान ही मुख्य है। जिसमें गुणभेद व पर्यायों का प्रवेश नहीं है - ऐसा भगवान ज्ञान ही अपना आश्रय स्थान है।

यहाँ कहते हैं कि ये धर्मांदि पदार्थ जानने योग्य - ज्ञेय पदार्थ हैं। इससे यह जाननेवाला भगवान ज्ञान क्षमता भिन्न है। ये सब पर्ज्ञय जो जानने में आते हैं, यह तो ज्ञान की अपनी सामथ्र्य है। यह पर्ज्ञयों को जानने वाला ज्ञान कहाँ पर में जाता नहीं है, पर रूप होता नहीं है। तथा पर्ज्ञय भी ज्ञानरूप नहीं होते। इसलिए ज्ञान पर्ज्ञयों से भिन्न ही है। ऐसा होते हुए भी ये परिप्रेक्ष्य जानने में आने के लिए 'वे मेरे हैं अथवा इससे मेरे ज्ञान की सत्ता है' - ऐसी जो मान्यता है, वह सब ज्ञेयों से भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से अज्ञान है, ज्ञेयों से भिन्न आत्मा का अदर्शन होने से मिथ्यादर्शन है तथा सब ज्ञेयों से भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से अचारित्र है। ये अन्य जीव - स्त्री-पुत्र, परिवार, देव-गुरु आदि मेरे हैं - ऐसा जानने में आता है, वह अज्ञान है। भाई! मेरा तो स्व-पर को जाननेमूल स्वभाव वाला सहज एक ज्ञान है। वहाँ पर्ज्ञय अपने कहाँ से/कैसे हो गये? स्व-पर को जानने के स्वभाव के कारण पर जानने में आये, ज्ञान में आये - ऐसा कहा जाता है। परन्तु वस्तुतः पर तो कुछ भी जानने में आये नहीं, किन्तु अपना स्व-पर को जानने वाला स्वभाव ही अन्दर जानने में आया है; अन्दर स्वरुप है। ऐसा होते हुए भी पर से जानना आया अथवा पर जानने में आते हुए पर मेरा हो गया - ऐसा कोई माने तो वह उसका अज्ञान है; क्योंकि उसे अपने सहज एक ज्ञानस्वभाव की खबर नहीं है।

भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु अखण्ड एक ज्ञानक्षम रूप द्रव्य, ज्ञानस्वभाव उसका गुण तथा उसकी वर्तमान जानने-देखने की पर्याय ही ज्ञातिक्रियारूप पर्याय है। बस इतने में ही आत्मा का अस्तित्व है - सत्त्व, सत्तृपूण व सत्त्वपर्याय। इस पर्याय में पर, शरीर, मन, वाणी, राग आदि जानने में आते हैं - उन्हें अपना मानना अज्ञान है। स्व-पर को प्रकाशित करनेवाला-असीमस्वभाववाला भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यरत है। अपने ऐसे स्वरूप को
बूलकर जो परजेय जानने में आते हैं, उन्हें अपना मानना अज्ञात है। ऐसी अज्ञानमयता से ये जीव अनादि से ही अंध बने चले आ रहे हैं।

अनेक बार जैन साधु हुआ, बाहर से दिगम्बर होकर रहा; तो भी ‘मैं कौन हूँ, कैसा हूँ, और मेरा क्या कर्तव्य है?’ – इसका भाव हुए बिना इसने केवल राग की ही क्रिया की है। पर इससे क्या होता? अन्दर की अपनी चिदानन्दस्वरूप स्वरूपतलक्ष्मी को जाने बिना, प्राप्त हुए बिना यह बेचारा रंक ही रहा है।

अब कहते हैं कि ‘मैं मनुष्य हूँ, देव हूँ’ – ऐसा जाने-माने तथा प्रवर्तन करे तथा ‘दूसरों की दया करूँ, दूसरों को सुखी करूँ’ – इसप्रकार पर की क्रियाओं का स्वाभाविक होकर प्रवर्तन – ये सब भगवान आत्मा को अज्ञात, अदर्शन व अनाचरण होने से बन्ध के निमित्त हैं। ज्ञान में धर्मादि परस्परसुएँ जानने में आये, वहाँ ऐसा माने कि ‘ये वस्तुएँ मुझ में हैं’ – तो उसकी यह मान्यता संसार में रखड़ानेवाली है। यहाँ तक अज्ञात की अपेक्षा कथन किया।

अब ज्ञानी की अपेक्षा कथन करते हैं –

जैन साधु उन्हें कहते हैं, जिनके अध्ययन नहीं होते। वे मुनि कुंजर ही उत्तम मुनिवर हैं; जिनकी धर्म की क्रिया सत्ता, अहेतुक, ज्ञानमात्र एवं पूर्ण रागरहित होती है तथा जिनकी जानने–देखने, श्रद्धा करने तथा अन्तर में ठहरने की क्रिया ही एक स्वाभाविक क्रिया है।

यह द्रव्यस्वभाव की बात है। मुनिराज का द्रव्य सत्तूर्प, अहेतुक, ज्ञायकभाव ही है। भगवान आत्मा प्रजाब्रह्म प्रभु अकेला चैतन्यरस-ज्ञानरस का सत्व स्वयं एक ज्ञायकभाव स्वरूप है – ऐसा सत्तजन अनुभव करते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि यह भी कोई उपदेश है? अरे दया पालने व दानादि करने का उपदेश करें तो कुछ समझ में भी आवे। यह आत्मा, द्रव्य, गुण, पर्याय आदि न जाने क्या-क्या लेकर बैठ जाते हैं। ये भी कोई प्रवचन हैं?

अरे भाई! ‘मैं देहादि से भिन्न, अखण्ड, एक, ज्ञानन्द स्वभावी आत्मा हूँ’ – ऐसा अपने अंतरंग में जानना, मानना व अनुभव करना ही सच्चा यथार्थ
जीवन होने से सच्ची दया है। तथा आत्मा के प्रति ही स्वच्छ को अर्पण करना ही सच्चा दान है। इसके सिवाय अन्य की दया पालना व् दूसरों को दान देना—
यह तो राग है। व्यवहार की इन बाद्धे क्रियाओं में धर्म मानना तो पििष्ठात्व है।

मुनिराजों को पंचमहान्त के पालन करने का जो भाव आता है तथा छहकाय के जीवों की रक्षा का जो विकल्प होता है—ये सब आत्मा की क्रियाएँ नहीं हैं। यह शरीर हिलता है, वापस निकलती है व शास्त्र लिखने की क्रिया होती है—ये सब भी आत्मा की क्रियाएँ नहीं हैं। धर्मी को जो अन्तरंग में जानने—देखने रूप तथा वीरागी आन्द्रो रूप जो निर्मल परिणति होती है, वही एकमात्र आत्मा की क्रिया है। कितनी स्पष्ट बात है कि ज्ञ्नित ही एकमात्र आत्मा की क्रिया है।

धर्मात्मा संत उन्हें ही कहते हैं कि जो ज्ञानमय वीराग परिणति से ही परिणम हों। जो रागमय परिणति से परिणमे अथवा राग व शरीर की क्रिया को अपने आत्मा की क्रिया मानते हैं, वे धर्मी नहीं; बल्कि अधर्मी ही हैं।

भाई! दया, दान के विकल्प धर्मी की क्रियाएँ नहीं हैं। धर्मी के तो ज्ञायक ही एक भाव है तथा ज्ञ्नि ही एक क्रिया है। अहा! जिसका महाभाष्य हो, उसके कान में ही अध्यमत की ऐसी सूक्ष्म बात पड़ती है।

देखो, ‘सत्त्रुप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है’—ऐसा कहकर यहाँ गुण की बात कही है। इसके पूर्व ‘ज्ञ्नतक्रिया-धर्म की क्रिया’ की जो बात कही, वहाँ पर्याय की बात कही थी। पर्याय के बाद ‘एक ज्ञायकभाव मात्र’ कहकर द्रव्य की बात कही थी। यहाँ ‘ज्ञानस्वभाव’ कहकर गुण की बात कह रहे हैं।

धर्मात्मा के एक ज्ञायक ही अपना भाव है, एक ज्ञ्नित ही अपनी क्रिया है तथा एक ज्ञान ही अपना रूप है। ज्ञानी अपने ऐसे आत्मद्रव्य को जानता हुआ, श्रद्धान करता हुआ तथा अनुचरता हुआ स्वरूप में स्थिर होता है।

देखो, ज्ञान में अनन्त ज्ञेय जाने जाते हैं, पर वे ज्ञेय अपना स्वरूप नहीं हैं। हाँ, सर्व ज्ञेयों को जानने का आत्मा का स्वभाव है। वह ज्ञान ही इस आत्मा...
समयसार गाथा २७०

का स्वरूप है। ज्ञान के ज्ञान में शुभाराग भी जानने में आता है, परन्तु वह शुभाराग आत्मा का नहीं है।

पुण्य-पाप के भाव तो मलिन हैं, अस्वच्छ हैं। ये दया, दान, ब्रत, भक्ति आदि के भाव मलिन हैं; जबकि भगवान आत्मा एक चैतन्यमूर्ति प्रभु अत्यन्त स्वच्छ है तथा उस आत्मा के आश्रय से उदित निर्मल रत्नत्रय का श्रद्धान-ज्ञान व रमणता का परिणाम भी स्वच्छ है। आत्मा की यह निर्मल वीराग परिणति को दशा स्वाधीनतापने प्रगट हुई है। अहा! भगवान आत्मा में स्वच्छन्द विशेषण लगा, वह अनर्गतता का सूचक नहीं, बल्कि स्वाधीनता का सूचक है।

मुनिवरों के स्वच्छ व स्वच्छन्दपने से उदयमान अनन्त अत्यंत ज्ञानित्व द्वारा अज्ञानादिरूपता का अत्यन्त अभाव होने से वे शुभ या अशुभ कर्म से लिप्त नहीं होते।

देखो, भगवान आत्मा अनतरंग में अति उग्रूप से जगमगाहत करती चैतन्यज्ञोति स्वरूप है। उसमें अन्तःपुरापर्व करने से वह भिन चैतन्यज्ञोति अन्तर में प्रकाशित हो जाती है, प्रगट हो जाती है। अन्तरंग में प्रकाशात्मन ऐसी चैतन्यज्ञोति जरा भी अज्ञानरूप, मिथ्यादर्शात्मन व अचारित्ररूप नहीं हुई होने से मुनिराज शुभ या अशुभ कर्म से लिप्त नहीं होते। अर्थात् उन्में शुभाशुभ बंध नहीं होता।

गाथा २७० के भावार्थ पर प्रवचन

कहने का तात्पर्य यह है कि वे अथ्यवसान मुख्यत: तीन प्रकार के हैं -

(१) में पर को भारत हूँ - बचाता हूँ, पर को सुखी-दुःखी करता हूँ,

(२) में नारक, देव, मनुष्य, तियोहर छूँ एवं

(३) में धर्मादि पदार्थों को जानता हूँ।

अब यहाँ प्रश्न है कि वे कहाँ तक हो सकते हैं? यानि कब तक होते रहते हैं?

उत्तर में कहते हैं कि जबतक भेदज्ञान न हो, तबतक इनका असित्त्व रहता है। यही कारण है कि भेदज्ञानी मुनिवरों के ये नहीं होते।
में पर को मारता हूँ, बचाता हूँ, सुखी-दुःखी करता हूँ आदि अध्यवसान मुनिवरों को नहीं होते; क्योंकि पर को कौन बचा सकता है, कौन मार सकता है, कौन सुखी-दुःखी कर सकता है? तथा परवस्तु मेरी है, ये गुरु मेरे हैं, ये शिष्य मेरे हैं, यह संघ मेरा है इत्यादि विपरीत अभिप्राय मुनिवरों के होते ही नहीं हैं।

उन्हें तो ऐसी प्रतीति है कि सारा जगत जिस ज्ञानस्वभाव में भिन्न रूप से भासित होता है, वह ज्ञान ही एकमात्र मेरा स्वरूप है। ऐसा निर्मल ज्ञान, श्रद्धा व आचरण जिनके प्रगट हो गया है, वे ही मुनि कुंजर हैं।

जब उन मुनिवरों के मिथ्या अध्यवसान विद्यमान नहीं हैं तो वे कर्मों से लिप्त कैसे हो सकते हैं?
समयसार गाथा २७९

किमेतद्द्यवसानं नामेति चेत् —
बुद्धी ज्ञानो बि यं अज्ञावसानं मदी य विषणां ॥
एकक्षुमेव सब्बं चितं भावो य वरिणामो ॥ २७९ ॥
बुद्धिव्यवसायोपय च अध्यवसानं मतिशच विज्ञानम् ॥
एकार्थमेव सर्वं चितं भावशच परिणामः ॥ २७९ ॥

स्वपर्योरविवेके सति जीवस्याध्यवसितिमात्रामध्यवसानं; तदेव च
बोधन-मात्रत्वाद्बुद्धि:, व्यवसायमात्रत्वाद्वयवसाय:, मन्नमात्रत्वान्नमि:, विज्ञातिमात्रत्वाविज्ञान:, चेतनामात्रत्वाचित्रतं, चितो भवनमात्रत्वाद्भाव:,
चितं: परिणाममात्रत्वात्परिणामः।

“यहाँ चारं अध्यवसान शब्द कहा गया है, यह अध्यवसान क्या है?
उसका स्वरूप भलीभाँति समझ में नहीं आया।” ऐसा प्रश्न होने पर अध्यवसान का स्वरूप गाथा द्वारा कहते हैं —

व्यवसाय बुद्धी मती अध्यवसान अर विज्ञान भी।
एकार्थवाचक हैं सभी ये भाव चित परिणाम भी ॥ २७९ ॥

गाथार्थ — [ बुद्धि: ] बुद्धि, [ व्यवसाय: अपि च ] व्यवसाय,
[ अध्यवसानं ] अध्यवसान,[ मति: च ] मति,[ विज्ञानम् ] विज्ञान,[ चित्रं ]
[ एकार्थम् एव ] एकार्थ ही हैं (अर्थात् नाम अलग-अलग हैं किन्तु अर्थ भिन्न
नहीं हैं।)

टीका — स्व-पर का अविवेक ही (स्व-पर का भेदज्ञ न होना ही) जीव
की अध्यवसितिमात्र* अध्यवसान है; और वही (जिसे अध्यवसान कहा है
वही) बोधन-मात्रत्व से बुद्धि है, व्यवसायमात्रत्व से व्यवसाय है,

* अध्यवसिति = (एक में दूसरे की मान्यतापूर्वक) परिणति; (मिथ्या) निरिच्छति;
(मिथ्या) निरचन होना।
* व्यवसाय = काम में लगे रहना; उद्दमी होना; निरचन होना।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com
ज्ञान नाम कहे गये हैं वे सब चेतन आत्मा के परिणाम हैं। जबतक स्वप्न भेदज्ञान न हो तबतक जीव के जो अपने और पर के एकत्व की निरचयस्त्र स्थिति पाई जाती है उसे बुद्धि आदि आठ नामों से कहा जाता है।

गाथा २७२ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

इस गाथा में अध्यवसाय शब्द के पर्यायवाची नामों के द्वारा अध्यवसायन का विशेष स्पष्टीकरण करते हैं।

देखो, अनन्त गुणों का प्रिण चैतन्य चित्रामणि एक ज्ञायकभाव मात्र वस्तु में हूँ - ऐसे अनुभव करने के बदले में पर को मारता हूँ। चर्चा हूँ, सुख- दुःखी करता हूँ आदि माने; तथा में नारकी हूँ, मनुष्य हूँ आदि माने; तथा धर्मादिद्राव्य जो ज्ञान में सहज परद्रव्यपने जाने जाते हैं, उनमें एकत्वबुद्धिमूलक कोई ऐसा नाम है कि में धर्मादि को जानता हूँ, तो यह उसका अविवेक है। जब ऐसा अविवेक होता है तब स्व-पर का भेदज्ञान नहीं होता। ऐसी स्थिति में जीव की पर में अपनेपन की कर्तृत्वबुद्धि को जो मान्यता है, वह अध्यवसाय है। ऐसा अध्यवसाय मिथ्यात्वरूप है। जिसे यहाँ आठ नामों से दर्शाया गया है।

उसी अध्यवसाय को बोधनमात्रपने से बुद्धि कहा जाता है, व्यवसायमात्रपने से व्यवसाय कहा जाता है। मननमात्रपने से मति तथा विज्ञप्तिमात्रपने से विज्ञान भी कहा जाता है।

इसीप्रकार चेतनमात्रपने से चित्त, चेतन के भवनमात्रपने से भाव तथा चेतन के परिणममात्रपने से परिणाम भी कहा गया है।

+ मनन = मानना; जानना।
सारा दिन भद्धा-व्यापार में लगा रहना, स्त्री-पुत्र, राजकाज के कामों में लगे रहना, उन्हें ही अपना कर्तव्य मानना, व्यवसाय नामक अध्यवसाय कहते हैं। आचार्य कहते हैं कि बापू! तेरा यह सम्पूर्ण व्यवसाय विपरीत है, मिथ्या है। तू किसी का कुछ भी तो नहीं कर सकता! 

मनमात्रने से इसीप्रकार के मिथ्या बौद्धिक व्यायाम को मति नामक अध्यवसाय कहते हैं। इसमें पदार्थों का जैसा स्वरूप है, वैसा न जानकर अन्यथा जानना-मानना होता है। मतिज्ञान से यह मति - अध्यवसाय भिन्न है। 

विज्ञानमात्रने से उस मिथ्या अध्यवसाय को विज्ञान भी कहते हैं। देखो, यह विज्ञान भी निरंतर विज्ञान नहीं है; विशिष्ट तत्व-संबंधी विज्ञान की भी बात नहीं है। यहाँ तो तत्त्व-विज्ञान से विरूद्ध - में पर का भला-भुरा करता हूँ, कर सकता हूँ आदि मिथ्यावान वाले विज्ञान की बात है, जिसे अध्यवसाय कहा गया है। 

चेतना परिणाम को चित्त भी कहते हैं, भाव भी कहते हैं और परिणाम भी कहते हैं; परन्तु यहाँ निर्मल परिणाम की बात नहीं है। यहाँ तो पर मेरी व में पर की क्रिया करता हूँ - ऐसे मिथ्या परिणाम की बात है। 

जहाँ तक पर में एकत्व-वुद्धि रहती है, वे सब परिणाम अज्ञातय अध्यवसाय हैं; भले ही उनके नाम कहने-सुनने व देखने में कितने ही अच्छे व आर्थिक क्यों न हों? चाहे वे बचाने के, रक्षा करने, पालन-पोषण करने के परिणाम हों, चाहे दया-दानदी के परिणाम हों; पर में एकत्व व कर्तृत्व के मिथ्या अभिप्राय सहित होने से इन्हें अध्यवसाय ही कहा जाता है। 

भावार्थ यह है कि यहाँ जो बुद्धि, विज्ञान आदि आठ नामों से अध्यवसाय कहे गए हैं, वे सब चेतना आत्मा के ही परिणाम हैं। जहाँ तक स्व-पर भेदज्ञान नहीं होता, वहाँ तक जीव को जो अपने व पर के एकपने की निर्मिति वर्तती है; उन्हें ही यहाँ आठ नामों से कहा गया है।
वर्णनात्मकाकर भाग ८

(शार्दूलविक्रीडित)

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुकं जिने-सत्तन्यं व्यवहार एव निखिलोपक्ष्यन्याश्रयस्त्याजितं।

सम्यक् निःशचयमेकमेव तदमी निःश्चप्रमक्रम्य किं शुद्धज्ञानघने महिमान् न निजे बधान्ति संतो धृतिम्।। १७३।।

‘अध्यवसान त्यागने योग्य कहे हैं इससे ऐसा ज्ञात होता है कि व्यवहार का त्याग और निःशचय का ग्रहण कराया है’ – इस अर्थ का एवं आगामी कथन का सूचक काव्य कहते हैं :-

श्लोकार्थ – आचार्यदेव कहते हैं कि [सर्वत्र यदृ अध्यवसानम्] सर्व वस्तुओं में जो अध्यवसान होते हैं [अखिलं] वे सब (अध्यवसान) [जिनें:] जिनेद्र भगवन ने [एवम्] पूर्वोक्त रीति से [त्याज्यं उक्तं] त्यागने योग्य कहे हैं [तत्] इसलिये [मने:] हम यह मानते हैं कि [अन्य-आश्रय: व्यवहार: एव निखिल: अपि त्याजित:) ‘पर जिसका आश्रय है ऐसा व्यवहार ही सम्पूर्ण छुड़ाया है’ [तत्] तब फिर, [अमी सत्:] यह सतपुरुष [एकम् सम्यक् निःशचयम् एव निःशक्तम् आक्रम्य] एक सम्यक निःशचय को ही निःशालतया अन्गीकार करके [शुद्धज्ञानघने निजे महिमान्] शुद्धज्ञानघनस्वरूप निज महिमाम (आत्मस्वरूप में) [धृतिम् किं न बधान्ति] स्थिरता क्यों धारण नहीं करते?

भावार्थ – जिनेद्रदेव ने अन्य पदार्थों में आत्मबुद्धि रूप अध्यवसान छुड़ाये हैं। इससे यह समझना चाहिए कि यह समस्त पराशित व्यवहार ही छुड़ाया है। इसलिये आचार्यदेव ने शुद्धनिःशचय के ग्रहण का ऐसा उपदेश दिया है कि – ‘शुद्धज्ञानस्वरूप अपने आत्मा में स्थिरता रखो।’ और, ‘जबकि भगवान ने अध्यवसान छुड़ाये हैं तब फिर सतपुरुष निःशचय को निःशालतापूर्वक अन्गीकार करके स्वरूप में स्थिर क्यों नहीं होते?’ ऐसा कहकर आचार्यदेव ने आर्थचर्य प्रगट किया है। ॥ १७३॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com
कलश १७३ पर प्रवचन

dेखो, इस कलश द्वारा आगामी गाथाओं की पृष्ठभूमि तैयार की गई है। कहते हैं कि अपने आत्मा के सिवाय विश्व की अनन्त परवस्तुओं में जो एकत्रबुद्धि रूप अध्यवसान होता है, वह सब सर्वजनदेव ने त्यागने योग्य कहा है।

परवस्तु में चाहे वह शरीरादि रूप हो, स्त्री-पुत्र-परिवार आदि हो, देव-गुरु-शास्त्र हो; ‘ये सब मेरे हैं और मैं इनका हूँ’ - ऐसे एकत्रबुद्धि रूप अध्यवसान को जिनेवरदेव ने छोड़ने योग्य कहा है।

एक और स्वयं शुद्ध ज्योतिष्काव मात्र वस्तु ‘स्व’ और दूसरी और विश्व की समस्त वस्तुओं ‘पर’ हैं। जगत की ये सर्व वस्तुएँ भिन-भिन हैं। उनमें एकत्रबुद्धि का जो अध्यवसान है, वह सब छोड़ने योग्य है।

यह देह-मन-वाणी आदि जड़ हैं, माटी-धूल हैं तथा स्त्री-पुत्र-परिवार, देव-गुरु चेतन परजीव हैं, तथा धर्मांतिकाय आदि अचेतन परजीव हैं। इनमें अपने नारा अध्यवसान मिथ्यत्व है; व्यवहारिक अपनाना तो ‘अपने’ में ही होना चाहिए, न कि ‘पर’ में। वस्तुतः ‘पर’ में अपनाना तो कभी हो ही नहीं सकता। ‘पर’ में अपनाना का तो मात्र भ्रम होता है, जो कि अध्यवसानरूप है।

अहा! सर्वजन परमात्मा ने इन्हें, मुनिवरों व गणधरों की उपस्थिति में समोशारण में ऐसा समझाया था कि अपने आत्मा के सिवाय जितने भी पदार्थ हैं, जिनमें अरहंत भगवान स्वयं शामिल हैं - उन समस्त पदार्थों में अपनेन्द्र अध्यवसान करता तथा ऐसा मानना कि ‘ये सब मेरे हैं व इनसे मुझे लाभ या हानि होती है, मैं इनका या ये मेरा भला-बुरा कर सकते हैं’ - ऐसे मिथ्या अध्यवसान चारगति में रखकर के बीजरूप हैं, अतः छोड़ने योग्य हैं।

अब कहते हैं कि इसकारण हमें ऐसा मानना चाहिए कि पर जिसका आश्रय है - ऐसा अब ही व्यवहार छोड़ने योग्य है।

प्रचुर अतीतिय आनन्द सहित स्वरूप में केलि करनेवाले आचार्यवैव ऐसा कहते हैं जब भगवान न परवस्तुओं में एकत्रबुद्धि के सभी अध्यवसान छोड़ये हैं तो इसका अर्थ यह है कि पर जिसका आश्रय है - ऐसा सब ही व्यवहार छोड़ये है।
देखो, यद्यपि यहाँ आश्रय शब्द डाला है, परन्तु इसका अर्थ बहुत व्यापक है। पर का, व्यवहार का आश्रय कहो, सम्बन्ध कहो, आलम्बन कहो – सब एकार्थक ही हैं।

यहाँ दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, देव–गुरु–शास्त्र की भेदरूप श्रद्धा का विकल्प – यह सब पराश्रित व्यवहार है; क्योंकि इन परिणामों में पर के आश्रय का सम्बन्ध है, स्व का सम्बन्ध नहीं है।

मुनिवर शुद्ध एक ज्ञानकत्त्व के आराधक केवल के उत्सर्गधिकारी हैं। जिन्हें अन्तरंग में तीन कपाय के अभाववाली बीतरामी शांति प्राप्त हुई है, तथा जिन्हें अतीत्रिय प्रचुर आनंद का वेदन बर्तता है – ऐसे धर्म के स्तम्भ मुनिवर कहते हैं कि ‘हम ऐसा मानते हैं कि जब भगवान ने पर की एकत्रबुद्धि छूटा इसे सभी पराश्रित व्यवहार छुड़ाया है।’

देखो, पहले ‘अखिल’ शब्द आया है, जो कि सभी अध्यवसानों के त्याग का दिग्दर्शक है तथा यहाँ ‘निखिल’ शब्द आया है। इसका अर्थ है पर जिनका आश्रय है – ऐसा सभी व्यवहार छुड़ाया है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के सभी परिणाम भी पराश्रित हैं, अत: यह वात बहुत गंभीरता से विचारणीय है।

भले ही लोक में बाह्य अनुकूलता वालों को लोग सुखी कहें, पर वस्तुतः संसार में कोई सुखी नहीं है। अबतक सबै मोक्षमार्ग के भान के किना ८४ लाख योनियों में भटका है और बदल यह मंगल अवसर भी चूक गया तो अनन्तकाल तक नरक–निगोद में पड़े–पड़े ठड़फना पड़ेगा।

थोड़ी–सी शरीर की अनुकूलता, धनादि का संयोग तथा सुन्दर वर, सुयोग स्त्री–पुत्र–परिवार का मिलाप – ये कोई सुख नहीं हैं। एक तो वर्तमान में ही इनके प्रति एकत्व–ममत्व एवं रागादि का होना दुःखद ही है, दूसरे क्षणिक होने से निरंतर वियोग की आर्शकों अनन्त दुःखदयी बनी ही रहती है।

त्रीलोकनाथ परमात्म ऐसा कहते हैं कि पर में अपनेपन की एकत्रबुद्धि का अध्यवसान मिथ्यात्व है तथा वह सब ही छोड़ने योग्य हैं। बापू ! ये देव मेरे, ये गुरु मेरे – ऐसा अध्यवसाय भी सर्वज्ञदेव ने छोड़ने योग्य कहा है।
कलश १७३

बारह अंग का सार इस कलश में भर दिया है। आचार्यदेव की गजब शैली है। इस कलश में तो मुक्ति का मार्ग खुललखुलता जाहिर कर दिया है। वे कहते हैं कि परमपर्यंत की एकत्वबुद्धि जिस तरह भगवान ने छड़ाई है, उसीतरह पर के आश्रय से होनेवाले सभी व्यवहारिकों को भी छड़ाया है। जिसप्रकार पर में एकत्वबुद्धि छोड़ने योग्य ही है, उसीप्रकार ब्रत, तप, शील, संयम के बाह्य परिणाम, ‘२८ मूलगुणों के विकल्प तथा पंचमहाब्रज आदि के परिणाम - सभी परामर्श होने से छोड़ने योग्य ही हैं, भूमिकानुसार छूटते ही हैं।

कुछ लोगों को यह बात अटपटी लगती है। उनका कहना है कि दया, दान, ब्रत, संयम, तप, भक्ति-पूजा आदि रूप श्रावकों का सदाचार तथा महाब्रजाति मुनियों के मूलगुण, जिनको पालन करने का उपदेश जिनवाणी में भी है, क्या वह सब व्यवहार खोटा है? श्रावक व मुनि के आचरण बिना तो जैनधर्म ही कुछ नहीं बनता ? इस व्यवहार को हेतु या छोड़ने योग्य कहने से तो जैनधर्म का ही उच्चेद हो जायेगा न!

अरे भाई! जैनधर्म तो एक बीतरागभाव-स्वरूप ही है, शुद्ध चैतन्य के परिणामस्वरूप है। ब्रजाति का राग जैनधर्म नहीं है। धर्मीजीवों को भूमिकानुसार ब्रजाति का शुभ राग होता अवश्य है, परन्तु वह कोई धर्म का स्वरूप नहीं है। धर्म का मूल तो सम्प्रदायक है। बिना सम्प्रदायक के जो ब्रजाचरण है, उसे वस्तुतः व्यवहार धर्म भी नहीं कहा जा सकता। मिथ्यावृद्धि को व्यवहारधर्म भी ही हो कहाँ? यहाँ तो सम्प्रदायवृद्धि को जो बाह्य ब्रजाति का व्यवहार है, वह सब भी त्यागने योग्य है - ऐसा आचार्यदेव कह रहे हैं।

शास्त्रों में जो ब्रजाति रूप बाह्य आचरण का विधान है, सो वह तो व्यवहारन्य दर्शाया है। धर्मीजीवों के निर्वात रत्नत्रय रूप धर्म की बीतराग परिणति के साथ बाह्य में कैसा शुभाचरणरूप व्यवहार होता है, उसका ज्ञान कराने का वहाँ (शास्त्रों में) प्रयोजन है। इसी समयसार की १२वीं गाथा में भी आया है कि धर्मी को पर्याय में जो किंचित् राग है, वह उस-उस काल
प्रवचनरत्नकर भाग 8

में जाना हुआ प्रयोजनवान है, उपादेय व आदरणीय नहीं। वस्तुतः धर्मी जीव सभी प्रकार के राग को हेय नहीं मानते हैं।

dेखो, “स्वाभिकतो निरचय:, पराशितो व्यवहार:" अर्थात् जितना 'पर' का आश्रय है, वह सब व्यवहार है। इस परिभाषा के अनुसार दया, दान, ब्रत, भक्ति-पूजा आदि सभी भावों में ‘पर’ का आश्रय है, इसकारण वह सब व्यवहार है। आचार्य कहते हैं कि पर जिसका आश्रय है, ऐसा सम्पूर्ण व्यवहार ही छोड़ने योग्य है। एक स्वाभिक ही प्रशंसा योग्य है।

भाई! मिथ्यादृष्टि के जो पर में एकलवबुद्धि के परिणाम होते हैं, उन्हें मुख्य करके बन्ध का कथन तो अपेक्षा जगह है ही, पर एकलवबुद्धि रहित जो सम्यदृष्टि के दया, दान, भक्ति आदि के परिणाम होते हैं, वे भी बन्ध के ही कारण हैं। परन्तु अल्प बन्ध के कारण होने से (दीर्घसंसार के कारण नहीं होने से) उन्हें गौण करके बन्ध में नहीं गिना, यह दूसरी बात है। परन्तु इस कारण से यदि कोई ऐसा माने कि पर में एकलवबुद्धि रहित होने पर शुभ राग का परिणाम बन्ध का कारण ही नहीं है, बल्कि मोक्ष का कारण है, तो उसकी यह मायना मिथ्या है।

वापूर! वीरराग का मार्ग – मोक्ष का मार्ग तो एकमात्र वीररागभावस्वरूप ही है। वह पूर्ण स्वाभिक है। उसमें परमहंस राग का एक अंश भी नहीं समा सकता। जिसतरह आँख में रजकण नहीं समा सकता, उसीप्रकार वीररागमार्ग में राग का कण भी नहीं समा सकता। अहाँ! मार्ग तो एक शुद्ध चैतन्यभावमय, वीररागमय ही है। जिसतरह भगवान आत्मा एक चैतन्यभाव का, अलोकित्र आनंद का व शान्ति का पिण्ड है, उसीप्रकार उसके आश्रय से प्रगट हुआ मार्ग भी वैसा ही अलोकित्र आनन्दमय है, वीररागी शान्तिमय है। भाई! वीररागता का मार्ग राग नहीं हो सकता।

dेखो, यह बात चलते प्रवाह से जुड़ी है न? बस इसी कारण लोगों को अटपटी लगती है तथा रुचती नहीं है।

अन्दर में अपना परम चैतन्य निधान पड़ा है, जिसमें जीवन, चित्त, दृष्टि, ज्ञान, सुख, वीर्य, प्रभुत्व, विभूति, स्वच्छत्व, प्रकाश आदि अनन्त शक्तियाँ
परमप्राप्तिमान भावरूप से स्थित है। परमप्राप्तिमानक भाव का अर्थ है कि वह आत्मा सहज है, किसी कर्म के सद्भाव या अभाव की अपेक्षा से रहित है। वस्तु की शक्तियाँ सहज भाव से हैं, उन्हें होने में किसी की अपेक्षा नहीं है। देखो, पर्याय के विकार में कर्म का उदय निमित्त है अर्थात् विकारी पर्याय के उत्तन होने में कर्म का उदय निमित्त है तथा निर्विकारी पर्याय की उत्पत्ति में कर्म का अभाव निमित्त है; परन्तु आत्मा एवं आत्मशक्तियाँ किसी भी पर की अपेक्षा के बिना परमपराप्राप्तिमानक भाव से स्थिर हैं। आत्मा अपने आप में महान वस्तु है, पर उस आत्मा की सची पहचान बिना एवं उसकी निर्पेक्ष शक्तियों की स्वाभाविक सामर्थ्य के ज्ञान बिना अज्ञानी जीव बाह्य क्रियाकारण में उलझ-उलझ कर अनादि से अनन्त दुःख भोग रहे हैं। उनसे कहते हैं कि भाई! व्यवहार की रूचि छोड़कर अब तुम अपने चैतन्यनिधान का आश्रय करो! सुखी होने का यही एकमात्र सच्चा उपाय है।

जब वस्तु की इतनी सहज, स्वाधीन, सम्मक्कू व सुन्दर व्यवस्था है तो सत्पुरुष एक निश्चय में स्थिर व्ययों नहीं हो जाते? सत्पुरुष तो कहते ही उन्हें हैं, जिन्होंने पराश्रय की बुद्धि ल्याकर कर त्रिकाली सत्य आत्मप्रभु को अन्तर में स्वीकार किया है। ऐसे संत पुरुष ही सत्पुरुष हैं। भगवान आत्मा सचिवादन्दस्वरूप प्रभु है। उसके आश्रय से जो सुख में प्रवर्तित हैं, वे संत महात्मा या सत्पुरुष हैं। जगत में ऐसे संतजन ही मात्र सुखी हैं।

भाई! यह जिनेंद्र भगवान के द्वारा कही हुई बात है। यहाँ कहते हैं कि “एक सम्मक्क निश्चय को ही अर्थात् जिसमें रागादि भी नहीं है – ऐसे सत्य निश्चयस्वरूप त्रिकाली ध्रुव परमात्मद्रव्य को ही निक्षेपणे अंगीकार करके उसी में ठहर!”

अरे भाई! तू बार-बार व्यवहार की बातें करता है, परन्तु भगवान द्वारा कहा हुआ व्यवहार-व्रत, समिति, गुमला आदि पराश्रय भाव तो अभव्य भी कर लेता है, पर उसे कभी भी आत्मलाभ नहीं होता। वास्तव में तो जिसे एक सम्मक्क निश्चय शुद्धद्रव्य का अन्तर में अनुभव हुआ है, उस समक्ति को जो
ब्रम्हादि के विकल्प हेयबुद्धि से होते हैं, उन्हें व्यवहार कहते हैं। उस व्यवहार को छोड़ने की बात यहाँ कह रहे हैं। जिसे अंतरंग में निर्चय का अनुभव नहीं हुआ है, उसके तो व्यवहार है ही कहाँ?

समयसार नाटक में कविवर बनारसीदास ने इस कलश का पद्धानुवाद इसप्रकार किया है -

असंख्यत लोक परवान जे मिठ्यात भाव,
तेलविवहार भाव केवली-उकत हैं।
जिन्होंने मिठ्यात गयो सम्यक् दरस भयो,
ते नियत-लीन विवहारसं मुक्त हैं।
निरविकलप निरुपाधि आतम समाधि,
साधि जे सुगुन मोख पंथकौँ दुक्त हैं।
तेले जीव परम दसा में धिरुरूप हैंके,
धरम में धुके न करम सों रक्त हैं।

असंख्यत लोकप्रमाण जितने व्यवहारभाव हैं, उतने ही मिठ्यातवभाव हैं;
क्योंकि उन सब में अज्ञानी की अनादि से एकत्वबुद्धि है तथा उन सब व्यवहार भावों से अज्ञानी अपना लाभ मानता है। - ऐसा केवली भगवान ने कहा है।

जिसके ऐसा मिठ्यातवभाव नष्ट हो गया है और सम्प्रयत प्राप्त हो गया है, वह व्यवहार से मुक्त हो जाता है। पर उसे व्यवहार में सृष्टि नहीं रहती।

समक्षति जीव व्यवहार को छोड़कर एक निर्चय के विधयंत्र निरविकलप,
निरुपाधि, निष्कंप आत्मस्वरूप को अंगीकार करके समाधि साध कर, स्थिर
होकर सम्यगदर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्षमार्ग में लग जाते हैं। क्रमशः शुद्धोपयोग
में - परमध्यन की दशा में स्थिर होकर निर्वाण पद को प्राप्त करते हैं।

कलश १७३ के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ विशेषरूप से सर्वज्ञ भगवान ने पर में आत्मबुद्धि समस्त अध्यवसाय छोड़ने का उपदेश दिया है। इससे स्पष्ट है कि आचार्य भगवान ने सम्पूर्ण पराध्यक्ष व्यवहार छुड़ाया है। पराश्रित व्यवहार में दया, दान, व्रत, तप,
भक्ति आदिद्वारा के सभी विकल्प सम्मिलित हैं, वे सब छोड़ने को कहा है; क्योंकि इनमें आत्मा नहीं है। अरे भाई! व्यवहारकल्प के सभी परिणाम पराशिर्त भाव हैं और पराशिर्त होने से दुःख नहीं है। अति: इन्हें छोड़कर स्व का आश्रय करो।- ऐसा स्पष्ट उपदेश जिनवाणी में आया है।

अहा! राग पराशिर्तभाव है चाहे वह एकत्वपूर्व राग हो या अस्थिरताजनित राग हो। सभी परभाव छोड़ने योग्य हैं। उनमें अपनापन या आत्मबुद्धि करना मिथ्याव्यवहार है। अति: शुद्धज्ञानस्वरूप आत्मार्भु का ही आश्रय एवं उसी में स्थिरता करके शुद्ध सम्प्रदायन-ज्ञान-चारित्र को ग्रहण करो।- ऐसा उपदेश आचार्य्देव ने दिया है।

जो ऐसा कहते हैं कि व्यवहार करते-करते निर्घच स्थिती फिर हो जायगी। उन्हें इस कथन की ओर ध्यान देना चाहिए। यहाँ स्पष्ट कहा है कि व्यवहार के विकल्पों से निर्घचरूप निर्धितकल्प स्थिति नहीं हो सकती; व्यवहार की रूप संसार का ही कारण बनती है, बंध का ही कारण बनती है।

भाई! 'पर' की ओर के लक्ष्य से 'स्व' का लक्ष्य - आश्रय नहीं हो सकता। पर का लक्ष्य होता है ही 'स्व' का लक्ष्य होना संभव है। इसीकारण सम्पूर्ण पराशिर्त व्यवहार को छुड़ाया है और स्वाशिर्त निर्घचस्वरूप आत्मा का आश्रय करने का उपदेश दिया है।

आचार्य करणापूरवक कहते हैं कि जब एकांत 'स्व' का आश्रय ही सुखी होने का उपाय है तो भी यह जीव उस ज्ञानानंदस्वभावी आत्मा का ही आश्रय क्यों नहीं करते? आचार्य ऐसा आश्रय व खेद भी प्रट करते हैं।

वैसे तो वे यह भी जानते हैं कि अज्ञात अपने अज्ञानभाव के कारण व्यवहार में रूप होने से और ज्ञात भी अपनी अंतरंग अस्थिरताजनित कमजोरी के कारण स्थिर नहीं हो पाते। अति: उनका खेद व आश्रय भी केवल करणा व प्रेयण का ही प्रतीक है।

भगवान आत्मा अतिन्द्रिय आनंद का नाथ श्रद्धा, ज्ञान व वीरतागत के स्वभाव से भरा ज्ञानन्द स्वरूप है। वह एक-एक गुण की प्रभुता के स्वभाव से पूर्ण भरा हुआ है।
उपदेश तौ देखो! एक ओर चिदानन्दन प्रभु आत्मा एवं दूसरी ओर अनन्त
विकारी परिणाम। देव-युग-शास्त्र की भेदरूप श्रद्धा आदि के परिणाम।
आगे की २७६ और २७७ गाथा में आनेवाला है कि शास्त्रानां का आश्रय
शारद्युत ता, आत्मा नहीं; इसलिए शारद्युत का ज्ञान आत्मा नहीं है। इसीप्रकार
नवतत्त्व की श्रद्धा का आश्रय जीवादि नौ तत्व हैं, आत्मा नहीं। इसकारण वह आत्मा का श्रद्धान नहीं है। वहाँ इस स्तर पर भी व्यवहार का निषेध किया है।
इसप्रकार छहकार्ण के जीवों की रक्षा के भाव का आश्रय छहकार्ण के जीव हैं, आत्मा नहीं; इसकारण वह व्यवहारचारित्र आत्मा का चारित्र नहीं है। इस
स्तर पर व्यवहारचारित्र का निषेध किया गया है। इसप्रकार इस कलश में तीनों
प्रकार के व्यवहारस्वरूप के परिणामों को छुड़ाया है।
तू सचिदानन्दस्वरूप आनन्द का नाथ आत्मा है। तुझ्में केवलज्ञान व
आनन्द ती आनन्द भरा हुआ है। तू तो उसमें ही एकल करके पर में से
एकत्रबुद्धि छोड़ दे। तथा पर के आश्रय से होनेवाले दया-दानादि भावों में
से भी अपनान छोड़ दे; क्योंकि वे सब पर के आश्रय से होनेवाले दुःखरूप
भाव हैं।
आचार्य कहते हैं कि प्रभु! तू पर घर में क्यों भटकता है? निर्मलानन्द का
नाथ चिदानन्दन तेरा स्वघर है। इसे छोड़कर तू परवस्तुओं में क्यों अटकता
है? अरे भाई! परग में भटकने से एवं पर में अटकने से तो एकमात्र दुःख
ही दुःख है।
अहो! त्रिलोकिनाथ देवाधिदेव सर्वज्ञदेव की वाणी में ऐसा आया है कि
परवस्तु की एकत्रबुद्धि मिथ्यात्व है, असत्य है; इसी से वह दुःखरूप है। तथा
स्व के आश्रयरूप स्वरूप में एकता सदुबुद्धि है और स्व-पर की एकत्रबुद्धि
असदुबुद्धि है, मिथ्याबुद्धि है।
चिदानन्दन प्रभु स्वरूप सत्तृ है, इस अपेक्षा सब परवस्तुओं असत्तृ हैं। इन
असत्तृ के साथ अपने सत्तृ को मिलाने की बुद्धि - एकमेक करने की बुद्धि असत्तृ
बुद्धि है, मिथ्याबुद्धि है। वह मिथ्या होने से दुःखदायक व दुःखरूप है। बस इसीकारण उसे त्याज्य - छोड़ने योग्य कहा गया है। उसे दुःखरूप व छोड़ने के योग्य जानकर छोड़ना चाहिए; परन्तु तू उसी में क्यों अटका है ? उसे छोड़कर अपने आश्रय में क्यों नहीं आ जाता ?

अहा! संतों की करणा तो देखो! कहते हैं कि भाई ! तू अपने ऊपर दया क्यों नहीं करता ? पर के आश्रय से - दया-दानादि के भावों से तो तेरे स्वभाव का घात होता है; क्योंकि उसमें तेरे स्वभाव का अनादर होता है।
समयसार गाथा २७२
एवं ववहारणों पदिसिद्धो जाणा गणिच्छयणाएण।
णिच्छयणायासिद्ध पुण मुणिनो पार्वति गणिवाणं ॥ २७२॥
एवं ववहारनय: प्रतिषिद्धो जाणीहि निष्चयनयनेन।
निष्चयनयाश्रिताः पुनर्मयनं प्राणुवंति निर्वाणम् ॥ २७२॥
आत्माश्रितो निष्चयनय: पराश्रितो ववहारनय:।
t्रैवं निष्चयनयन पराश्रितं समस्तमधवसानं बंधहेतुत्वेन मुमुक्षूः: प्रतिषेधयता ववहारनय: एव
किल प्रतिषिद्धः: तस्यापि पराश्रितवतविशेष!ः। प्रतिषेध्य एवं चायः आत्माश्रितनिष्चयनयाश्रितानामेव मुच्चमानत्वात्,
पराश्रितववहारनयस्येत्कांत्रनामुच्चमाननाभवेयोपाश्रित्याश्रोमाणत्वाच।

अब इसी अर्थ को गाथा द्वारा कहते हैं -
इसतरह ही परमार्थ से कर नास्ति इस ववहार की।
निष्चयनयाश्रित श्रमणजन प्राप्ती करें निर्वाण की ॥ २७२॥
गाथार्थ - [ एवं ] इसप्रकार [ ववहारनय: ] (पराश्रित) ववहारनय
[ निष्चयनयने ] निष्चयनय के द्वारा [ प्रतिषिद्ध: जाणीहि ] निषिद्ध जान;
[ पुन: निष्चयनयाश्रिताः ] निष्चयनय के आश्रित [ मुनयः ] मुनि
[ निर्वाणम् ] निर्वाण को [ प्राणुवंति ] प्राप्त होते हैं।

टीका - आत्माश्रित (अर्थात् स्व-आश्रित) निष्चयनय है, पराश्रित
(अर्थात् पर के आश्रित) ववहारनय है। वहाँ, पूर्वक प्रकार से पराश्रित
समस्त अध्यवसान (अर्थात् अपने और पर के एकत्र की मान्यतापूर्वक
परिष्करण) बंध का कारण होने से मुमुक्षुओं को उसका (अध्यवसान का)
निषेध करते हुए ऐसे निष्चयनय के द्वारा वास्तव में ववहारनय का ही निषेध
कराया है, क्योंकि ववहारनय के भी पराश्रितता समान ही है (जैसे अध्यवसान
पराश्रित है उसप्रकार ववहारनय भी पराश्रित है, उसमें अन्तर नहीं है)। और
इसप्रकार यह ववहारनय निषेध करने योग्य ही है; क्योंकि आत्माश्रित
निष्चयनय का करनेवाले ही (कर्म से) मुक्त होते हैं और पराश्रित ववहारनय
का आश्रय तो एकांतः मुक्त नहीं होनेवाला अभव्य भी करता है।
भावार्थ – आत्मा के परके निमित्त से जो अनेक भाव होते हैं वे सब व्यवहारनय के विषय हैं इसलिये व्यवहारनय पराशित है, और जो एक अपना स्वाभाविक भाव है वही ‘निर्शचननय का विषय है इसलिये निर्शचननय आत्माशित है। अध्यवसान भी व्यवहारनय का ही विषय है इसलिये अध्यवसान का त्याग व्यवहारनय का ही त्याग है, और जो पूर्वीक गाथाओं में अध्यवसान के त्याग का उपदेश है वह व्यवहारनय के ही त्याग का उपदेश है। इसप्रकार निर्शचननय को प्रधान करके व्यवहारनय के त्याग का उपदेश किया है उसका कारण यह है कि – जो निर्शचननय के आश्रय से प्रवर्तित है वे ही कर्मों से मुक्त होते हैं और जो एकांत से व्यवहारनय के ही आश्रय से प्रवर्तित हैं वे कर्मों से कभी मुक्त नहीं होते।

गाथा २७२ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

यहाँ स्वाभिति में ‘स्व’ का अर्थ त्रिकली दृश्वस्वभाव किया गया है। इसप्रकार स्वाभिति का अर्थ हुआ त्रिकली धृति एक ज्ञायकभाव के आश्रय।

यहाँ ‘स्व’ में द्रव्य-गुण-पर्याय ऐसे तीन भेद नहीं लेना है।

वैसे देखा जाय तो द्रव्य-गुण-पर्याय रूप तीनों के अस्तित्व को ‘स्व’ का अस्तित्व कहा जाता है, परंतु यहाँ ‘स्व’ में तीन को ग्रहण नहीं किया गया है। यहाँ तो ‘मुख्य निर्शचन और गौण व्यवहार’ के सिद्धान्तानुसार एकरूप वस्तु को मुख्य करके तथा एक समय की अवस्था को गौण करके पर्यायभेद का भी निश्चित किया है। यहाँ अभिद एक शुद्धनिर्शचननय की विषयबृत्त वस्तु का तत्क्षण कराने के लिए त्रिकली एक ज्ञायक स्वभावभाव को ‘स्व’ कहा है।

जिस अभिद एक धृति वस्तु में कर्म नहीं हैं, पृथ्व-पाप के भाव नहीं हैं, एक समय की पर्याय व पर्यायभेद नहीं है तथा गौणभेद भी नहीं है – ऐसा अखण्ड अभिद एकरूप स्वभाव-ज्ञायकभाव निर्शचननय का विषय है। ऐसे ‘स्व’ का आश्रय करनेवालों को ही समक्षित होता है।

निर्मलानंद का नाथ त्रिकली धृति एक ज्ञायकभावभाव वस्तु आत्मा ही भूतार्थ है, सत्यार्थ है तथा इसी के आश्रय से जीव समक्षित होता है। अहा!
अन्दर तीन लोक का नाथ एक ज्ञान्यस्वभावी जो सत्यार्थ प्रभु विराजता है,
उसे मुख्य करके निशच्य कहा तथा उसके समक्ष पर्याय को गौण करके उसे
व्यवहार कहा; क्योंकि निशच्यन्याशिर्त अर्थात् अखण्ड अभेद एक आत्मा के
आश्रय से ही सम्यगर्द्धात्त होता है। अत: निशच्य को मुख्य करना ही चाहिए।

आत्माशिर्त अर्थात् स्वाशिर्त, त्रिकाली एक ज्ञानकवाच के आश्रय। यह
निरूपनिव निरूपण की प्राप्त है। इसी धुर्त अत्यन्त प्रभु का आश्रय करनेवाली पर्याय है,
पर्याय को पर्याय का आश्रय नहीं, बल्कि अत्यन्त धुर्त का ही आश्रय होता है।

यहाँ टीका में आत्मा का अर्थ स्वाशिर्त क्यों किया ? क्योंकि व्यवहार
पराशिर्त है, इसलिए आत्मा का अर्थ त्व किया है।' स्व' यानि एक अपना
सहज-स्वाभाविक धार्मिक ज्ञानक भाव, ज्ञानक भाव, अत्यन्त स्वभाव,
धुर्त भाव, एकात्मक सामान्य भाव – यही निशच्यन्याशिर्त का विषय है,
सम्यगर्द्धान का विषय है। अत: जिसे सम्यगर्द्धान प्रकट करना हो, उसे त्रिकाली
एक ज्ञानक भाव का ही आश्रय करना चाहिए।

भाई! गुण- गुणी का भेद ही पराशिर्त है, आत्मा ज्ञानस्वरूप है, अनंतस्वरूप
है – ऐसा भेद करना भी पराशिर्त भाव है, व्यवहारन्य का विषय है जो बन्ध
के कारण है।

यह अध्यात्मशास्त्र है न ? अत: यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि त्रिकाली
एक ज्ञानक भाव के आश्रय निरूपयान न है। इसके आश्रय से ही धर्म होता है।
पाप से बचने के प्रयोजन से धर्म के पुण्य भी होता है, पर वे उसे धर्म नहीं
मानते। धर्म तो एक ज्ञानक भाव ही है, जिसे यहाँ 'स्व' कहा है। इस 'स्व'
के आश्रय से ही धर्म प्रगट होता है।

'उत्पादव्यवह्या' या 'उत्पादव्यवह्या' या 'उत्पादव्यवह्या' या 'उत्पाद-
व्यवह्या' पर्याय है और दृष्टि त्रिकालीधुर्त ज्ञानक भाव है। यदि 'उत्पाद'
का अर्थ मित्यादि के व्यवहूर्वक सम्यगर्द्धान की पर्याय लेने तो इसका आश्रयरूप कारण
त्रिकाली एक ज्ञानक भाव है। एक ज्ञानक भाव स्वरूप 'स्व' के आश्रय से ही
सम्यगर्द्धान होता है। यही 'स्व' यानि एक त्रिकाली धुर्त व्यवहारभाव सारांश–
समयसार गाथा २७२

सामान्य–सामान्य ऐसा एक ज्ञायकभाव ‘स्व’ है। तथा इसके सिवाय पर्याय आदि भेद सहित सम्पूर्ण विश्व ‘पर’ है। पराशिर्त व्यवहार नय है – इस व्यवहार में गुणभेद, पर्यायभेद आदि समस्त पराभव आ जाते हैं।

अब कहते हैं कि ‘पूर्वोक्त सभी पराशिर्त अध्ययसान बंध के कारण होने से त्याज्य हैं।’ त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव की वाणी के आद्रितिया बनकर संतों ने जगत के समक्ष जाहिर कर दिया है कि ‘पर में एकपने की मान्यतारूप परिणमन बंध का कारण है। अतः तू उसे छोड़ दे।’

‘मैं पर जीवों को बचाता हूँ, सुखी करता हूँ, आहार–औषधि आदि देता हूँ’ इसप्रकार के मिथ्याभाव छोड़ दे; क्योंकि वे सब पर की क्रियाओं तो पर के कारण होती हैं, उनमें तेरा कोई कर्तृत्व नहीं है।

देखो, यहाँ पराशिर्त व्यवहार के दो भेद कर दिये हैं। पहले स्थूल पराशिर्त स्व–पर की एकतरूप व्यवहार दूसरा राग एवं भेद रूप व्यवहार। यहाँ दोनों का निषेध किया। और अब यहाँ कहते हैं कि पूर्वोक्त रीति से पराशिर्त समस्त अध्ययसान बंध के कारण होने से उनका निषेध करनेवाले निष्प्रभाव से व्यवहारनय का ही निषेध कर दिया है; क्योंकि व्यवहारनय को भी पराशिर्तपना समान ही है।

अरे भाई! जिससे लाभ हो, उसका निषेध कोई क्यों करेगा? सभीप्रकार का शुभभाव पराशिर्त होने से बन्ध का ही कारण है, इसीलिए वह निष्प्रभ है।

प्रश्न – तो क्या धर्मी के शुभभाव होते ही नहीं हैं?

उत्तर – हाँ, होते हैं, तभी तो इनका निषेध किया गया है। यदि होते ही न हों तो निषेध ही क्यों करते? आत्मज्ञानी प्रचुर आनन्द में झुलनेवाले सच्चे भावलिंग मुनिराजों को भी पाँच महानमादि के विकल्प आते हैं, परन्तु उनमें मुनिराजों की हेयबुद्धि ही होती है। उन्हें वे बन्ध का कारण ही जानते हैं तथा शुद्धिनिर्मय के उप्यो आश्रय द्वारा वे उनका निषेध भी कर देते हैं। समकिति के भी जो देव–गुरु–शास्त्र की श्रद्धा का राग होता है, वह भी पराशिर्त होने से उसका निषेध किया गया है।
प्रश्न – ‘हमें समकित है या नहीं?’ इस बात का अपने को पता तो लगता नहीं है। इसलिए व्यवहार साधन व्रत, तप आदि निषेध करना क्या एकान्त नहीं है?

उत्तर – भाई! ‘हमें समकित है या नहीं’ जिनको ऐसी शक्ता है, वस्तुत: उनके समकित है ही नहीं, तो फिर उनको वह व्यवहार भी साधनरूप नहीं है।

देखो! व्यवहार करते-करते व्यवहार का निषेध होता ही नहीं है, किन्तु शुद्धनिर्माण के आश्रय से व्यवहार का निषेध होता है। ‘स्व’ के आश्रय से ही पराश्रय के भाव का निषेध होता है। ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है।

जिसप्रकार पर में एकत्रबुद्धिरूप अध्यवसान पराशित है, उसीप्रकार व्यवहारन्य भी पराशित है। जिसप्रकार अध्यवसान बंध के कारण है, उसीप्रकार पर के आश्रय से हुए व्यवहार के शुभभाव भी बन्ध के कारण हैं। दोनों में पराशित्पन भावना ही है। इसप्रकार व्यवहारन्य निषेध करने योग्य ही है।

प्रश्न – आप ऐसा कहोगे तो लोग शुभ को छोड़कर अशुभ में चले जायेंगे।

उत्तर – जो शुभ को भी छोड़ने लायक मानता है – ऐसे समयसर के शोभा द्वारा इतनी मोटी भूल करना संभव नहीं है। फिर भी यदि कोई ऐसी भूल करता है तो उससे पूछते हैं कि तुम महंते अशुभ को छोड़ने लायक मानता था कि नहीं? भाई जो शुभ को भी छोड़ने लायक मानता है वह तो स्व का आश्रय करके शुद्ध में जाने का प्रयत्न करता है, अशुभ में जाने का नहीं।

अहा! शुद्ध चिदानन्दन आत्मा के आश्रय से जो निर्मल रत्नाव की बीतरागी पयायं प्रगट होती है, वह मोक्ष का कारण है। इसके अलावा समकित को जो शुभभाव होते हैं, वे बन्ध के ही कारण हैं। अतः वे निषेध करने योग्य ही हैं।
कहा है न —

“जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म।
यही वचन से समझ ले, जिनप्रवचन का मर्म॥”

dेखो, नये दोहे हैं और उनके विषय भी भिन-भिन हैं। व्यवहारनय का विषय राग है, जो बंध का कारण है तथा निश्चयनय का विषय त्रिकाली एक ज्ञायकमात्र आत्मा है, जो मुक्ति का कारण है। अतः निश्चयनय के विषयभूत ‘स्व’ का आश्रय लो और व्यवहारनय के विषयभूत ‘पर’ का आश्रय छोड़ो — ऐसा भगवान कहते हैं।

मुक्ति के मार्ग को पर की, निमित की या व्यवहार की कोई अपेक्षा नहीं है।

dेखो, आत्माश्रित निश्चयनय का आश्रय करनेवाला अर्थात् स्वभाव का, एक ज्ञायकभाव का आश्रय करनेवाला ही मोक्ष प्राप्त करता है। पराश्रित व्यवहार का आश्रय करनेवाले को कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

प्रश्न — आप एक और प्रवचनों में तो डंके की चोट पर व्यवहार का निषेध करते हो और दूसरी और स्वयं जिनमंदिर, समोशरणमंदिर, मानसतम्भ बनवाते जा रहे हो, तीर्थयात्रायें करते हो, प्रतिदिन भक्ति, पूजा दान आदि व्यवहार को इतने श्रेष्ठ रूप से आचरण करते हो। क्या यह छल नहीं है? स्वयं व्यवहार करते हो और दूसरों को उसी का निषेध करते हो। क्या यह छल नहीं है?

उत्तर — अरे बापू! ये सब कार्य जो तुमने गिनाये हैं, इन्हें भी हम कहाँ करते हैं? ये सब कार्य तो अपने-अपने समय में अपनी-अपनी स्वचित्तुष्ट्र की योग्यता से जो जैसे होने थे, वही हुए हैं तथा उस-उस काल में हमारे भी यथायोग्य शुभाशुभ भाव भी अपनी-अपनी स्व-चतुष्ट्र की योग्यतानुसार हुए हैं। यह सच है, पर वे आश्रय करने लायक नहीं हैं। भाई! यह उपदेश देने का विकल्प भी शुभ राग है। वह वर्तमान भूमिका में आता अवश्य है, पर करने योग्य कार्य नहीं है, धर्म नहीं है।

यदि कोई इसे एकान्त माने या कहें, तो यह उसका धर्म है। स्वाश्रय से मुक्ति होती है तथा पराश्रय से नहीं होती। यही अतिल सिद्धान्त है।
गाथा २७२ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो ! यहाँ व्यवहार निरिक्ष दी जा चुका है। आत्मा को ने के निमित्त से किसी प्रकार के विभाग होते हैं, वे सब व्यवहार के विषय हैं। इसलिए व्यवहारन्य पराश्रय है। भाई! एक 'स्व' के आश्रय के बिना जितनी परदर्शी की एकताबुद्धि और पर के आश्रय से हुए भाव हैं, वे सब व्यवहारन्य के विषय हैं।

यद्यपि ये ज्ञानी-सम्भावना के भी होते हैं, पर ज्ञानी के इनका आश्रय नहीं है। ज्ञानी इनके ज्ञाना-दृष्टि हैं। यहाँ तो आश्रय की बात चल रही है। व्यवहारन्य पर के आश्रय से होता है तथा निरिक्षण निकाले शुद्ध एक ज्ञायतबाब के आश्रय से होता है। निरिक्षण मोक्ष का हेतु है एवं व्यवहार संसार का कारण है।

अध्यवसान भी व्यवहारन्य के विषय हैं। इसकारण अध्यवसान का त्याग व्यवहारन्य का ही त्याग है।

देखो ! परदर्शी की क्रिया में करता हूँ, कर सकता हूँ, मैं अन्य जीवों की रक्षा करता हूँ, सुख करता हूँ, जीवों को मुक्त कर सकता हूँ, इत्यादि अभिप्राय अध्यवसान हैं। ये अध्यवसान व्यवहारन्य के विषय हैं। अतः इनका त्याग करने पर व्यवहारन्य का त्याग भी हो ही जाता है। पर में एकलरूप मिथ्याभाव को छोड़ने पर सम्पूर्ण पराश्रय व्यवहार छूट जाता है।

इसप्रकार निरिक्षण को प्रधान करके व्यवहारन्य के त्याग का उपदेश किया है। इसका कारण यह है कि जो निरिक्ष के आश्रय से प्रवर्तन करते हैं, वे ही कर्मों से छूटते हैं तथा जो एकान्त से व्यवहार के आश्रय से ही प्रवर्तते हैं, वे कर्मों से कभी नहीं छूटते।

निरिक्ष अर्थात् निकाले एक ज्ञायतबाब-स्वाभाविक का आश्रय लेने वाले धर्म को प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त करते हैं, तथा जो ब्रत, तप, भक्ति आदि के रागरूप व्यवहार के आश्रय से प्रवर्तते हैं, वे कर्मों से कभी नहीं छूटते। यह बन्धमार्ग है, संसारमार्ग है। इसलिए है भाई! व्यवहार के आश्रय की भवना छोड़ दे और 'स्व' का अर्थात् निजस्वरूप का आश्रय कर।
समयसार गाथा २७३
कथमभव्यनायाश्रीयते। व्यवहारनयः इति चेत् -
वदसमिदीगुत्तीओ सीलतव जिणवरेहि पण्णतं ॥
कुर्वंतो वि अभ्वयो अण्णाणी मिच्छंदिवी दु ॥ २७३ ॥
ब्रतसमितिगुप्तयः शीलतपो जिनवरेः प्रज्ञःपतः ।
कुर्वन्यभयोज्जानी मिथ्यादृष्टिस्तु ॥ २७४ ॥

शीलतपः परिपूर्णं त्रिगुप्तिपञ्चसमितिपरिभक्तिमहावैशालिनिमहाव्यवहारवतवर्यः
व्यवहारचारित्रं अभ्ययोज्जा कुर्यात्, तथापि स निर्चारित्रोज्जानीमिथ्यादृष्टिरेव,
निर्चारित्रारित्रहेतुभूतजानश्रद्धाने शून्यत्वात्।

अव प्रशन होता है कि अभ्वय जीव भी व्यवहारनय का आश्रय कैसे करते हैं? उसका उत्तर गाथा द्वारा कहते हैं :-

[ब्रत-समिति-गुप्ती-शील-तप आदिक सभी जिनवरकथित ।
करते हुए भी अभ्वयजन अज्ञान मिथ्यादृष्टि हैं ॥ २७३ ॥

गाथार्थ - [जिनवरेः] जिनेन्द्रदेव के द्वारा [प्रज्ञःपतः] कथित
[ब्रतसमितिगुप्तयः] ब्रतं, समिति, गुप्ति, [शीलतपः] शीलो और तप
[कुर्वन्य अपि] करता हुआ भी [अभ्वयः] अभ्वय जीव [अज्ञानी] अज्ञानी
[मिथ्यादृष्टि: तु] और मिथ्यादृष्टि है।

टीका - शील और तप से परिपूर्ण, तीन गुप्ति और पाँच समितियों के
प्रति सावधानी से युक्त, अहिंसादि पाँच महाव्यवहारचारित्र (का
पालन) अभ्वय भी करता है; तथापि वह (अभ्वय) निर्चारित्र (चारित्ररहित),
अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि हो है क्योंकि (वह) निर्चारित्र के कारणरुप
ज्ञान-श्रद्धा से शून्य है।

भावार्थ :- अभ्वय जीव महाव्यवहार-समिति-गुप्तिरुप व्यवहार चारित्र का
पालन करे तथापि निर्चय सम्भवज्ञानश्रद्धा के बिना वह चारित्र ‘सम्प्यचारित्र’
गाथा २७३ पर प्रवचन

यहाँ शिष्य का प्रश्न है कि क्या अभ्यव जीव भी व्यवहारनय का आश्रय करते हैं? यदि करते हैं तो किस प्रकार करते हैं तथा व्यवहार का आश्रय करते हुए भी उन्हें धर्म क्यों नहीं होता ? कृपया स्पष्ट कीजिए।

उत्तर - देखो ! अभ्यव का तो मान्य उदाहरण दिया है, यही स्थिति भयं जीवों के बारे में भी है; अतः इन पर भी यही सब लागू पड़ता है। भयं यह न समझें कि यहाँ तो अभ्यवों को समझाया जा रहा है।

सर्वज्ञ परमात्मा ने ब्रह्म, तप, शील, इत्यादि बाह्य व्यवहार जिस प्रकार कहा है, अभ्यव जीव राग की मंदता सहित परिपूर्ण रीति से उसी प्रकार पालन करता है तो भी वह मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि उसे ज्ञातस्वभाव का आश्रय नहीं है।

तथा छह प्रकार का प्रायोजित, विनय, वैयोजन आदि अंतर्गत व्यवहार तप करे, परंतु ये सब भाव शुभ्राग हैं। भाई! चित की अंतःशूद्र बिना धर्म नहीं हो सकता।

अभ्यव सर्वज्ञ बीतराग अरहतंदेव, निर्गस्तगुरु तथा जिनेव्यक के द्वारा निरुपित शास्त्र की विनय-भुपुन खूब करे, तो भी ये सब 'स्व' से भिन्न पर की विनय है, अतः शुभ्राग होने से धर्म नहीं है।

प्रश्न - जहाँ विनय को मोक्ष का द्वार कहा है, उस कथन का क्या तात्पर्य है?

उत्तर - हाँ, कहा है, पर वह अपेक्षा जुड़ी है, वहाँ अपने ज्ञातस्वभावी निर्माणन्द 'स्व' परमात्मा के विनय को बात है। वस्तुतः वही यथार्थ विनय है। उसके साथ जो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की विनय का भाव आता है, वही वस्तुतः व्यवहार विनय है। उसके बिना व्यवहार में कोई कितना ही क्यों न नमे, पर यथार्थ विनय नहीं होती।

देखो ! यहाँ उन अभ्यवों का उदाहरण देकर समझा रहे हैं, जो बीतराग परमेश्वर भगवान जिनेव्यक द्वारा कहे गये शील-तप को परिपूर्ण रूप से
पालते हैं, फिर भी उन्हें धर्म नहीं होता; क्योंकि वह व्यवहार व्रत, तप आदि
एकान्तः पराशिरत राग का परिणाम है। राग से बीतात धर्म नहीं होता।

वे ग्यारह अंग व नवपौर्ण तक श्रुत को कंठस्थ कर लें, परन्तु वह सब भी
राग है, विकल्प है, व्यवहार है, वंच का कारण है। भगवान के द्वारा निरूपित
व्यवहार ध्यान भी अभ्य ने अनंत बार किया, पर विकल्प रहित आत्मा का
निर्विकल्पध्यान न होने से धर्मलाभ नहीं हुआ। और तो ठीक, अभ्य
कायोत्सर्ग में महीना-महीना तक बिम्ब की भाँति स्थिर होकर खड़ा रहा, परन्तु
पराश्रित राग की क्रिया होने से धर्मलाभ नहीं होता।

निष्चयचारित्र तो एक ज्ञाननन्दस्वरूप भगवान आत्मा के श्रद्धार्ज्ञान-
ज्ञानपूर्वक अंतर में रमणता-लीला करने से होता है। बाह्य में अकेली काया
की क्रिया से कुछ नहीं होता।

यहां कहते हैं कि बाह्य विकल्परुप काय की दृष्टि का त्याग करके
विद्यान्द्रवन आत्मा में स्थित रहने रूप निष्चय कायोत्सर्ग के निरीक्षण
व्यवहार कायोत्सर्ग तो अभ्य जीवों ने भी अनंतबार किया, पर उससे क्या ?
वे सब तो संसार के ही कारण हैं।

अहां! आत्मज्ञान के बिना – सम्यगज्ञान के बिना भव्य-अभ्य – सभी ने
अनन्तबार मुनिन्वत पाले, अटूड सूत तत्वों की निरूपित पालन किया; परन्तु
अंश मात्र भी सुख नहीं मिला, दुःख ही मिला।

महाब्रतादि के फलस्वरूप अनन्तबार नवग्रेविक कर गया, किन्तु
आत्मदर्शन के बिना जरा भी आनन्द नहीं मिला। शुभ से अशुभ व अशुभ से
शुभ – ऐसे शुभ-अशुभ में भटकना तो एकमात्र दुःख ही है। शुभ-अशुभ दोनों
से भेदज्ञान करके आनन्दोद्वृति सच्चिदानन्द निज आत्मा के आश्रय से निराकुल
निर्विकार पवित्र शान्तिस्वरूप निर्मल रत्नत्र प्रगट करना ही एकमात्र धर्म है।

प्रश्न – धर्म सम्यगदृष्टि जीवों को भी व्रत, तप, शील आदि व्यवहार होता
है या नहीं और उन्हें इस व्यवहार का पालन करना चाहिए या नहीं?
उत्तर - हाँ, यद्यपि धर्मी जीवों ने अन्दर में ‘स्व’ का - अपने शुद्ध चिदानन्दन आत्मा का आश्रय प्राप्त कर लिया है, इसकारण उनके अंतर्गत में निर्मल निर्मलचर्चनश्रवृत्त धर्म प्रगत हो गया है, तथापि जबकि निर्मलचर्चनश्रवृत्त की पूर्णता नहीं हो जाती; तबतक उन्हें भी ब्रत, तप, शील, आदि व्यवहार का भाव आये बिना नहीं रहता। आता ही है और आना ही चाहिए; क्योंकि बहुत समय तक लगातार अन्दर में लीन रहना तो संभव है नहीं, बाहर में तो आना ही पड़ता है; वहाँ यदि ब्रतादि शुभभाव नहीं होंगे तो अशुभ होगा, जो धर्मी जीवों को करते ही इतना नहीं है। यद्यपि ज्ञानी शुभभावों को चाहते नहीं हैं तो भी उनके ब्रत, तपादि व्यवहार होता अवश्य है। ज्ञानी के व्यवहार का आश्रय नहीं है, स्वामित्व नहीं है। वे उन्हें श्रद्धान यें हेय मानते हैं।

देखो, टीका में कहते हैं कि अभ्यजीव भी मन-वचन-काय को वस में करने के लिए लीन गुप्तियों को सावधानीपूर्वक पालना है अर्थात अशुभ से बचाकर शुभ में रखना है। इस प्रक्रिया की अभ्यज व भव्य भी अनन्तबार करते हैं; परन्तु ये सब धर्मसाधन की दृष्टि से निष्पल हैं।

सच्च भावलिंगी संतों के भी समिति-गुप्ति के शुभ भाव होते हैं, पर ये भाव हैं तो प्रमाद ही न ? भले ही उनमें अशुभरूप एवं तीव्र कषायरूप प्रमाद नहीं है। अभव्य के तो तत्त्वदृष्टि ही नहीं है। इसकारण उसका तो सर्व व्यवहार बन्ध का ही कारण है। अभव्य जीव ईर्षयसमिति की भौति भाषा समिति आदि सभी व्यवहार धर्म के पालन में सावधान रहता है, तत्पर रहता है; परन्तु वह सब शुभराग है।

देखो ! मुनिराज के मोरपीछी व कमण्डलु-मात्र दो ही वस्तुएँ होती हैं, उनके वस्त्र व पात्र आदि कुछ भी नहीं होते। कोई वस्त्र वा पात्र रखो और व्यवस्था को मुनि या साधू माने व मनवाये तो तो स्थूल मिथ्यादृष्टि है तथा उन्हें मुनि मानने वाले भी मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ कहते हैं कि अभ्यजीव भव्यानं के द्वारा कहे गये महाव्रतादि को निरति चार पालन है, मन्द कषाय में ऐसी क्रियायें अभ्यज्ञ ने भी अनन्तबार
समयसार गाथा २७३

की, परन्तु उन्हें धर्म नहीं हुआ; क्योंकि पराश्रय छोड़कर कभी स्वाश्रय नहीं किया। अहा! ऐसा स्वाश्रय का मार्ग तो शूरवीरों का मार्ग है।

हाँ, तो यहाँ कह रहे थे कि मुनियों के बाह्य शुद्धि के लिए एक कमण्डलु, जीव-जनुओं की सुरक्षा के लिए एक मोरपंखों की पीछी तथा स्वाध्याय के लिए एक शास्त्र - बस ये तीन शुद्धि, संयम व ज्ञन के उपकरण होते हैं। इनके अतिरिक्त मुनिराज के कुछ भी परिणाम नहीं होता। तथा वे आत्मज्ञासहित हों, सभी सार्थक होते हैं। उनका बाह्य व्यवहार बैसा ही होता है, जैसा कि जिनेन्द्र भगवान द्वारा आगम में कहा गया है। उसमें कोई समझौता या शिथिलता स्वीकार नहीं है, मान्य नहीं है। सच्चे मुनिराजों की स्वर्ण की अन्तरात्मा को ही शिथिलता स्वीकार नहीं होती। वे यद्यपि किसी आगम या जिनेन्द्र की आत्मा के अधीन नहीं हैं, तथापि उनकी सहज चर्चा एवं जिनेन्द्र की आत्मा का अर्थ आगम का ऐसा ही स्वाभाविक सुमेल है; क्योंकि जिनेन्द्र की वाणी वस्तुस्वभाव का ही तो निरूपण करती है।

आचार्यदेव पुकार-पुकार कर कहते हैं कि अभव्य भी अहिंसादि पाँच महाब्रतरूप व्यवहारचारित्र पालते हैं, परन्तु मात्र इतने से उनके अनन्त भवों में से एक भव भी कम नहीं होता; क्योंकि महाब्रतादि को सम्पूर्ण व्यवहार क्रियाएँ अनातमरूप हैं। अनातमरूप क्रियाओं से आत्मधर्म की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

महाब्रतादि के परिणाम तो विकल्परूप है, शुभ-राग हैं। किसी जीव को नहीं मारना, झूठ नहीं बोलना आदि महाब्रत रूप जो विकल्प होते हैं, वे सब शुभराग हैं, चारित्र नहीं। चारित्र तो स्वरूप में रमणतरूप परम आनंदरूप वीतरागी आत्मपरिणाम है। तथा वह आत्मा के सम्प्रक्षण-श्रद्धान सहित ही होता है। सम्प्रदार्शन भिन्न व्यवहार चारित्र वस्तुत: चारित्र ही नहीं हैं। इसलिए मोक्षमार्ग में सभी प्रकार का व्यवहार निषेध करने लायक है - यह इस गाथा का तात्पर्य है।
गाथा २७३ के भावार्थ पर प्रवचन

जो लोग ऐसा मानते हैं कि ‘व्यवहार करते-करते निरंचयरूप धर्म की प्राप्ति हो जाती है’ उनका वैसा मानना यथार्थ नहीं है; क्योंकि दुःख पर्याय में से निराकृत सुख की प्राप्ति नहीं होती।

भाई! व्यवहारचारित्र की दिशा पर की ओर है। तथा समक्षत्व आदि धर्म की दिशा ‘स्व’ की ओर है। दोनों की दिशाएँ ही परस्पर विरुद्ध हैं।

देखो! संयमसार की १७५वीं-१८५वीं गाथा की टीका में कहा है कि ज्ञान की वर्तमान पर्याय में बाल-गोपाल को भगवान 'श्रावक' जानने में आता है। तो भी भगवान ज्ञान की दृष्टि बिना जिसे उस आत्मा का सम्प्रतिज्ञान-श्रद्धान नहीं हुआ, वह अकेला बाह्य व्यवहार कितना भी क्यों न पाले, परन्तु उसे वह व्यवहार बन्ध का ही कारण होता है। स्व-स्वरूप के ज्ञान-श्रद्धान बिना सभी प्रकार का व्यवहार संसार ही है। जिन भावों से स्वर्ग का पद मिले, वे भाव भी संसार हैं, दुःख हैं।

४५वीं गाथा में कहा है कि ज्ञानवरणादि आठों ही कर्मों का फल दुःख है। भाई! इस व्यवहार के शुभराग से सातावेद्य कर्म बंधता है तथा उसके उद्देश्य में बाह्य संयोग - सम्पत्ति, कौशल आदि मिलते हैं, जोकि सभी दुःख के कारण हैं। व्यवहारविन वर्तमान में भी दुःखमय है तथा इसके निमित्त से जो पुण्य बंधता है, वह विषवृक्ष है। भाई! पुण्य के फल देवपद, राजपद, चक्रवर्तीपद सब आकुलता के जनक होने से दुःखरूप ही हैं तथा इनको भोगते-भोगते मरनेवालों की नियम से अधृतगति ही होती है। हे भाई! यह वीरराग सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि में आई हुई बात है।

प्रभु! तू कौन है? यद्यपि इस बात की तुझे खबर नहीं है, पर तू चिदानन्दन ध्यान परिपूर्ण-ज्ञान से भरा हुआ त्रिकाल परमात्मस्वरूप है। बस, अपने इस स्वरूप के ज्ञान-श्रद्धान बिना अपने को वर्तमान पर्याय जितना शुभराग स्वरूप मानने के कारण तेरी यह दुर्दशा हो रही है।
यहाँ कहते हैं कि निश्चय सम्यक्ज्ञान-श्रद्धा बिना वह व्यवहार चारित्र ‘सम्यक्चारित्र’ नहीं कहला सकता।

देखो! यह बंध अधिकार है न? इसकारण बंध के परिणाम का स्वरूप बता रहे हैं। इसके विरूढ्र त्रिकाल अबंधस्वरूप भगवान आत्मा के आश्रय से जो परिणाम होता है, वह अबंध परिणाम निर्मल रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग का परिणाम है। उन अबंध परिणामों के बिना एकान्त बन्ध परिणाम वाला जीव बाह्यक्रियारूप व्यवहारचारित्र पाले तो वह चारित्र सम्यक्चारित्र नाम नहीं पाता।

अतः यह स्पष्ट है कि सम्यक्ज्ञान बिना अर्थात पर्याय में अपने भगवान आत्मा की प्राप्ति के बिना बाह्यव्यवहार की शुभक्रिया कितनी भी कठोरता से पाले, तो भी वह सब जिनदेव द्वारा अचारित्र ही कहा गया है।
समयसार गाथा २७४

tस्यैकादशाङ्गज्ञानमस्ति इति चेतृ -

मोक्षं असद्हंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज ।
पाठो न करेदि गुणं असद्हंतस्सप्राणं तु ॥२७४॥

मोक्षमश्रुद्धानोशब्द्वस्तुचस्तरं चोवधीयत ।
पाठो न करेति गुणामश्रुद्धानस्य ज्ञानं तु ॥ २७४॥

मोक्षं हि न तावदभव्यं श्रद्धते, शृद्धज्ञानमयात्मज्ञानस्यून्यत्वात्। ततो ज्ञानमपि नासौ श्रद्धते। ज्ञानमश्रुद्धानरश्चाचारः धोकादशांगं
शुलधीयानोजिङ्ग श्रुतात्ध्ययनगुणाभावान ज्ञानी स्वातृ। स किल गुणः
श्रुतात्ध्ययनस्य वद्विविक्तवस्तुभूतत्ज्ञानमयात्मज्ञानम; तच्च विविक्तवस्तुभूतं
ज्ञानमश्रुद्धानस्याभ्यस्य श्रुतात्ध्ययनेन न विधातुं शक्येत। ततस्तस्य
तदुगुणाभावः। ततश्च ज्ञानश्रुद्धानाभावात् सोउज्ञानीति प्रतिविनियत:।

अब शिष्य पूछता है कि - उसे (अभव्य को) ग्यारह अंग का ज्ञान तो होता है; फिर भी उसको अज्ञानी क्यों कहा है? इसका उत्तर कहते हैं :-

मोक्ष के श्रद्धान बिन सब शास्त्र पढ़कर भी अभव्य ।

को पाठ गुण करता नहीं है ज्ञान के श्रद्धान बिन ॥ २७४॥


टीका - प्रथम तो अभव्य जीव (स्वयं) शृद्ध ज्ञानमय आत्मा के ज्ञान से शून्य होने के कारण मोक्ष की ही श्रद्धा नहीं करता। इसलिये वह ज्ञान की भी श्रद्धा नहीं करता। और ज्ञान की श्रद्धा न करता हुआ वह (अभव्य) आचार्य आदि ग्यारह अंगरूप श्रुत को (शास्त्रों को) पढ़ता हुआ भी, शास्त्रपठन के जो गुण उसके अभाव के कारण ज्ञानी नहीं हैं। जो भिन्नवस्तुभूत ज्ञानमय आत्मा
का ज्ञान वह शास्त्र पठन का गुण है; और वह तो (ऐसा शुद्धात्मज्ञान तो,) भिन्न
वस्तुभूत ज्ञान की श्रद्धा न करनेवाले अभच्छ के शास्त्र-पठन के द्वारा नहीं किया
जा सकता (अर्थात् शास्त्र-पठन उसको शुद्धात्मज्ञान नहीं कर सकता);
इसलिये उसके शास्त्र पठन के गुण का अभाव है; और इसलिये ज्ञान-श्रद्धान
के अभाव के कारण वह अज्ञानी सिद्ध हुआ।

भावार्थ – अभच्छ जीव ग्यारह अंगों को पढ़े तथापि उसे शुद्ध आत्मा का
ज्ञान-श्रद्धान नहीं होता; इसलिये उसे शास्त्रपठन ने गुण नहीं किया; और
इसलिये वह अज्ञानी ही है।

गाथा २७४, टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ शिष्य पूछता है कि जिसे ग्यारह अंग तक का ज्ञान है, उसे अज्ञानी
क्यों कहा?

ग्यारह अंगों में पहला आचारांग है, जिसमें १८ हज़ार पद (प्रकरण) हैं,
एक-एक पद में ५९ करोड़ से अधिक श्लोक हैं। इसीप्रकार दूसरे सूत्रकृतांग
में पहले से तिगुने पद हैं और प्रत्येक पद में ५९ करोड़ से अधिक श्लोक हैं।
इसीप्रकार क्रम से ग्यारहें अंग तक तिगुने-तिगुने पद करते जाये। जिसे
ऐसे-ऐसे ग्यारह अंग का ज्ञान केंद्रस्थ हो - उसे आप अज्ञानी कैसे कहते हो?

इसी प्रश्न के उत्तर में यह गाथा प्रस्तुत की गई है। गाथा में स्पष्ट कहा
है कि ‘पाठो न करोडि गुण’ अर्थात् ग्यारह अंगों का पाठ (मात्र शब्दज्ञान)
लाभदायक नहीं है। जिस शब्दज्ञान में जाननहार ज्ञायक प्रभु - भगवान आत्मा
नहीं आया हो, वह ग्यारह अंग का ज्ञान मोक्षमार्ग में कार्यकारी नहीं है।

यथापि अनुभव में भी आत्मा तो परोक्ष ही है, आत्मा के प्रदेश प्रत्यक्ष
दिखाई नहीं देते; परन्तु स्वरूप में परिणाम मगन होने से जो स्वातुभव प्रगट
हुआ, वह स्वातुभव प्रत्यक्ष है। यह स्वातुभव का स्वाद आगमादि परोक्ष प्रमाण
से ज्ञात नहीं होता। स्वातुभव में रसास्वाद को ही वेदता है। अतः वेदन की
अपेक्षा से प्रत्यक्ष है और मति-श्रुतज्ञान को अपेक्षा आत्मा परोक्ष है।
समकिति को स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि की अपेक्षा से आत्मा परोक्ष है। स्मृति अर्थात् पूर्व में जाना हुआ याद आना, प्रत्यभिज्ञान यानि स्मृति व प्रत्यक्ष का जोड़ूर्प ज्ञान। अनुमान अर्थात् व्यापितज्ञान - जहाँ ज्ञान वहाँ आत्मा, तथा जहाँ आत्मा नहीं वहाँ ज्ञान नहीं। ऐसे अनुमान ज्ञान को परोक्ष कहते हैं।

प्रश्न - इनकम प्रत्यक्ष किस अपेक्षा कहा जाता है?

उत्तर - मति-श्रुतज्ञान को स्वानुभव के काल में प्रत्यक्ष कहा जाता है; क्योंकि स्वानुभव के काल में पर की अपेक्षा नहीं होती और वह सीधा आत्मा को जानने में प्रवर्तित है।

यहाँ कहा है कि ग्यारह अंग का ज्ञान होते हुए भी अभव्यजीव अज्ञानी है; क्योंकि उसका ज्ञान स्वरूप को जानने के प्रति कभी भी नहीं प्रवर्तिता।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि प्रथम तो अभव्य व अज्ञानी जीव मोक्ष की श्रद्धा ही नहीं करते; जबकि वे अज्ञानी भी स्वयं पूर्ण शुद्ध ज्ञानमय आत्मा हैं परंतु उन्हें ऐसा ज्ञान ही नहीं है। अपने पूर्ण शुद्ध ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा व जानकारी के अभाव में आत्मा की पूर्ण शुद्ध दशा, वैतराग-विज्ञान दशा की श्रद्धा भी कहाँ से होगी, जिसका कि दूसरा नाम मोक्ष है।

आत्मा स्वभाव से तो चैतन्यप्रकाश का पुंज विकाल शुद्ध ज्ञानानन्दमय वस्तु ही है, इसी की श्रद्धा एवं ज्ञान से यह आत्मा पर्याय में भी पूर्ण पवित्र हो जाता है, जिसे मोक्ष कहते हैं। अभव्य व अज्ञानी इन दोनों से ही अपरिचित है। जब उसे अपने स्वभाव की सामथर्य की ही खवार नहीं है, तो प्रगट शुद्ध वैतरागी पर्याय अर्थात् मोक्ष की श्रद्धा कहाँ से होगी?

पंचाध्यायी में आता है कि शास्त्र पढ़कर जो श्रद्धा की, वह श्रद्धा ही नहीं है। जिसमें शुद्धज्ञानमय आत्ममय वस्तु प्राप्त न हो, वह ज्ञान भी ज्ञान ही नहीं है। तत्पर्य यह है कि - जिस ज्ञान की पर्याय में आत्मा की प्राप्ति न हुई हो, वह भले ग्यारह अंग तक का ज्ञान भी क्यों न हो, तो भी वह ज्ञान नहीं है, वह तो मात्र शब्दज्ञान है, कोरा शाब्दिकज्ञान है। कहा भी है -

“आत्म ज्ञान ही ज्ञान है, शेष सभी अज्ञान”
भगवान! तू एकबार सुन तो सही। जिसे अपने शून्य ज्ञानमय स्वभाव का पता नहीं, स्वातन्त्र्य नहीं; मात्र शास्त्राधार से शब्दज्ञान है, वह वस्तुतः ज्ञान ही नहीं है; क्योंकि वह सब तो परलक्ष्य ज्ञान है।

प्रश्न - शास्त्र से आत्मज्ञान होता है - ऐसा कथन भी तो शास्त्रों में ही आता है, उसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर - भाई! वह तो निमित्त-नैपरिवेशिक सहज सम्बन्ध का ज्ञान कराने के लिए निमित्त की मुख्यता से किया गया उपचार का कथन है। निष्ठुर से तो शून्य ज्ञानमय स्वरूप के आश्रय से आत्मज्ञान होता है। जब जीव स्वरूप अपने शून्य आत्मा का आश्रय करे, तब बाह्य में शास्त्र पर अनुकूलता का आरोप आता है; क्योंकि शास्त्र के निमित्त से उसे आत्मा का परिचय मिलता है।

अभ्यय के ग्यारह अंग के ज्ञान को विकल्प बताते हुए कलाश टीकाकार श्री ब्र. राजमलजी १३वें कलाश की टीका में लिखते हैं कि कोई जानेगा कि द्वादशांग ज्ञान कोई अपूर्व लघुत्व है, परन्तु भाई! द्वादशांग का ज्ञान भी विकल्प है तथा शुद्धात्मानुभूति मोक्षभाव है। देखा, सर्वज्ञ कथित शास्त्र में भी यह कहा है कि शून्य ज्ञानमय आत्मा को उपलब्ध रूप से अनुभव करने से उत्पन्न जो शुद्धात्मानुभूति है, वह मोक्षभाव है; शास्त्रज्ञान नहीं। अभ्यय जीव शास्त्रज्ञान के विकल्प में अटका रहकर अन्दर जो आनन्दनिःस्वरूप भगवान आत्मा विराज रहा है, उसका अनुभव नहीं करता। इसीलिए शुद्धज्ञानमय मोक्षभाव का इसे श्रद्धाजना नहीं होता।

भगवान आत्मा सदा मोक्षस्वरूप है, अबद्ध है। १४वीं गाथा में ‘अबद्ध’ शब्द आया है, और यहाँ मोक्ष-स्वरूप कहा - ये दोनों ही नाशि के कथन हैं, दोनों एक ही बात है। यह शुद्धज्ञानमय आत्मा मेरा ही स्वरूप है, यह अबद्ध व मोक्ष-स्वरूप आत्मा के रूप में मेरी ही चर्चा है - ऐसा अभ्यय नहीं जानता। वह शास्त्रज्ञान के विकल्प में ही अटका है। इस कारण अंग का ज्ञान होने पर भी उसे धर्मलाभ नहीं होता।

आचार्य कहते हैं कि शास्त्रज्ञान का यथार्थलाभ तो यह है कि जीव स्वरूप को भिन्न वस्तुभूत अनुभव करे। अपने आत्मा को शरीरादि परद्रव्य से भिन्न,
देव-शास्त्र-गुरु से भिन्न, द्व्यकर्म-भावकर्म से भिन्न तथा नोकर्म से भी भिन्न मात्र ज्ञानप्रकाश का पुंज शुद्ध ज्ञानमय जाने-माने और वैसा ही अनुभव करे।

अभव्य का तो उदाहरण दिया है, पर यहाँ सामान्यतया सिद्ध यह करना है कि भगवान जिनके द्वारा निरूपित बाह्याचार रूप, व्रत, तप आदि को धर्म कहना उपचार मात्र है। आत्मज्ञान शून्य होने से उन्हें धर्म नहीं कहा जा सकता। वे धर्म तो हैं ही नहीं, धर्म के कारण भी नहीं हैं। यह बात गाथा २७३ में भी आ गई है। वहाँ कहा है कि अभव्य जीव ने शील, तप आदि परिपूर्ण रीति से पाले, समिति-गुप्ति की क्रियायें सावधानपने की और महाभ्रातादि अनंतवार पाले। इस प्रकार भगवान के द्वारा प्रतिपादित व्यवहारचारित्र के भाव अनन्तबार प्रगट किये; तथापि वे अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि व अचारित्रवंत ही हैं। अत: शास्त्रज्ञ या पांडित्यप्रदर्शन के लक्ष्य से शास्त्रभावस न करके शुद्धचिदानन्दन भूमृत्त आत्मा को समझने एवं प्राप्त करने के लक्ष्य के शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिए।

प्रवचनसार गाथा २३३ के आदि में भी इस बात का स्पष्टीकरण आ गया है।

भाई! यहाँ मुख्य बात यह कही जा रही है कि आचारांग आदि ग्यारह अंगरूप द्व्यशृंखल का अभ्यास होने पर भी अभव्य को उस का वास्तविक लाभ जो आत्मानुभव होना चाहिए, नहीं होता। इसकारण वह अज्ञानी ही है।

पंचासितकाय गाथा १७२ में शास्त्रतत्त्वय वीररागता कहा है। वस्तुत: द्वादशांग का फल एकमात्र वीररागता ही है। यदि ज्ञान के फल में आत्मानुभव एवं वीरराग परिणत नहीं होती तो वह ज्ञान वस्तुत: ज्ञान ही नहीं है।

यह वीररागता कैसे हो? इसके उत्तर में कहते हैं कि स्वभाव से ही भगवान आत्मा त्रिकाल सच्चदानन्दसवरूप चैतन्यमूर्ति एवं वीररागसवरूप ही है। तथा अपने उस भगवान आत्मा का ज्ञान और अनुभव करने से पर्याय में वीररागता प्रगट होती है। सर्वशास्त्र पढ़ने का भी यही एकमात्र इस्तीफ़ फल है।
पंचासिकाकाय में तो यह कहा है कि - धिन वस्तुभूत शुद्धज्ञानमय आत्मा का ज्ञान ही शास्त्रज्ञान का सुपर्क है। तथा ब्र. राजमलजी ने १२वें कलश में यह कहा है कि बारह अंग का ज्ञान भी विकल्प है। शृद्ध में भी ऐसा कहा है कि शुद्धत्मानुभूति मोक्षमार्ग है। अर्थात्तु द्वादशाङ्ग का सार मात्र आत्मानुभूति ही है। चारों ओर जहाँ भी देखो, सब ओर एक ही बात है कि आत्मा स्वयं चिदानन्दस्वरूप है। उसका ज्ञान-श्रद्धान करके उसी में ठहर जा! उसी के स्वाद में तृप्त हो जा; परंतु शुभक्रिया के पक्ष वालों को यह बात कैसे बेठे? एक आत्मा के ज्ञान बिना अभव्य बाह्य क्रियायों कर-कर के मर-पच गया, फिर भी संसार परिभ्रमण में एक भव भी कम नहीं हुआ। भाई! बात बहुत गंभीर है, सूक्ष्म है, अपरिचित जनों को कठिन भी पड़ती है, पर समझने जैसी है।

अहा! शास्त्र पढ़ना विकल्प है, व्यवहार है। इस व्यवहार द्वारा निश्चय की विषयभूत एक परमार्थ वस्तु को समझना है। वस्तुस्वरूप को समझने का इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है। अतः भेद करके अभेद वस्तु को समझाया जाता है। आठवीं गाथा में भी कहा है कि जिसतरह अनार्यजनों को अनार्यभाषा के बिना समझाना अशक्य है, उसीप्रकार व्यवहार बिना परमार्थ नहीं समझाया जा सकता; परंतु जिसतरह अनार्यभाषा का अनुसारण करना योग्य नहीं है, उसीप्रकार व्यवहार आदरणीय नहीं है।

प्रवचनसार गाथा १७२ में अलंग ग्रहण के छठवें बोल में आया है कि ‘लिंग द्वारा नहीं, बल्कि स्वभाव द्वारा जिसका ग्रहण होता है, वह अलंग ग्रहण है। इसप्रकार आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।’

भगवान आत्मा दया, दान, व्रत, तप तथा विनय-भक्ति के विकल्पों से या देव-शास्त्र-गुरु आदि निमित्तों से या शास्त्रपतन-पाठन के विकल्पों से जाना जाय - ऐसा आत्मा का स्वरूप ही नहीं है।

परमात्मप्रकाश में भी कहा है कि भगवान आत्मा दिव्यध्वनि से भी नहीं जाना जाता; क्योंकि दिव्यध्वनि श्रुतज्ञान है। भगवान केवली भी श्रुतज्ञान से
कहते हैं; केवलज्ञान से नहीं। इसकारण केवल दिव्यत्व से श्रुतज्ञान से कहते हैं। उस श्रुतज्ञान में ऐसा आया कि हमें सुनकर तू अपने को जाने - ऐसा तेरा स्वरूप नहीं है। तू तो अपने स्वभाव से जाना जाए - ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता है।

अब कहते हैं कि इसलिए तुझे शास्त्र पढ़ने से होनेवाला लाभ नहीं मिला।

तात्पर्य यह है कि अभव्य जीव ने एवं भव्य जीव ने भी अनन्तर ११ अंग तक का शास्त्रज्ञान किया, किन्तु अन्दर शुद्धज्ञानमय अपने भगवान ज्ञायक का आश्रय नहीं लिया; इसकारण वे अज्ञात ही रहे। विकल्परूप शास्त्रज्ञान जो आत्मा का स्वरूप नहीं है, उसका अभ्यास तो किया, उसे बार-बार पढ़ा व याद भी किया तथा जो अपनी चीज है, जो शुद्ध ज्ञानमय आत्मा स्वरूप है, उसे जाना नहीं, जानने का प्रयत्न किया नहीं, इसकारण अज्ञात ही रहा।

देखो! समयसार के १३वें कलश की टीका करते हुए कहा है कि बारह अंग का ज्ञान अपूर्व नहीं है। यद्यपि वह बारह अंग का ज्ञान समकित को ही होता है, तो भी उसे अपूर्व नहीं है - ऐसा कहा। बारह अंग का ज्ञान महत्व देने जैसा नहीं है; क्योंकि शास्त्र का तात्पर्य वीतरांगता है, शास्त्रज्ञान नहीं है।

अहा! शास्त्रज्ञान का गुण तो अन्दर विद्यमान देहादि से भिन्न शुद्ध वैदिकमूर्ति प्रभु आत्मा का अनुभव करना है। जो अभव्य जीव ऐसे शुद्धात्मा का अनुभव नहीं करता, उसने परलक्ष से भले ऐसा जाना हो कि आत्मा अभेद एक परम पवित्र शुद्ध ज्ञानस्वरूप है, परन्तु अनतमुख होकर वह आत्मानुभव नहीं करता; इसकारण उसे शास्त्र का पठन-पाठन लाभदायक सिद्ध नहीं होता।
समयसार गाथा २७५

tasya dharma sahadana matsriti che tu

sadbhavid ya prateyad y rochaded y tath puno y fasadid.

dharma bhoganimittam na tu so karmaksharyanimittam II २७५ II

shrushatam ch pratyayam ch rochayatam ch tatha punah svarshatam.

dharma bhoganimittam na tu so karmaksharyanimittam II २७५ II

abhavyo hi nitraykarma chetanairupam vastu shradhate, nitayjahnachetanamatra n tu shradhate, nitryeveh bhed vijnanaarthvatau. tata so karmamokshanimittam jnanamata bhoota dharma n shradhate, bhoganimittam shubhakarmamata bhootaarthmeev shradhate. tata evaas tata bhoota dharma shradhanupanitvaynrochansvarshnaam parityanipratityak bhogamataamastkedu, n punah kadaachanaapi vimuchete. tatojasya bhoota dharma shradhanaabhavaatu shradhanamapi naasita. evam sati tu niishvayanustva vyavharanvyaptiparitvayo yunjata et.

shyapa puna: puutataan kahit ki abhavyo kah dharma kah shradhan to hota hai; firbhi yah kah ki abhavya kah shradhan kah hota hai? isaka uttar kahate hai - abhavya shradhakare rucho dharer aar rach-pach rahiye.

ej dharma bhog nemmita hai n karmakshay mein nemit jo II २७५ II

gaathartha - [sa:] vaha (abhavya jeev) [bhoganimittam dharma] bhog kah nemittaruup dharma kah hi [shrushatam ch] shradha kahita hai, [pratyayam ch] unso kah pratiyam kahita hai, [rochayatam ch] unso kah rucho kahita hai [tatha punah: svarshatam ch] oor unso kah svarsh kahita hai, [n tu karmaksharyanimittam] parantu karmakshay kah nemittaruup dharma kah nahi. (arthaat karmakshay kah nemittaruup dharma kah n to shradha kahita hai, n unso pratiyam kahita hai, n rucho kahita hai oor n unso svarsh kahita hai.)

teecka - abhavya jeev nitraykarma chetanairupam vastu kah shradha kahita hai kiin nitayjahnachetanamatra vastukii shradha nahi kahita kahai kyo ka wah sada (sva-
पर के) भेदविज्ञान के अयोग्य है। इसलिये वह कर्मों से छूटने के निमित्तरूप, ज्ञानमात्र, भूतार्थ (सत्यार्थ) धर्म की श्रद्धा नहीं करता, (किन्तु) भोग के निमित्तरूप, शुभकर्ममात्र, अभूतार्थ धर्म की ही श्रद्धा करता है; इसलिये वह अभूतार्थ धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रुचि और स्पर्श से ऊपर के गैरवेयक तक के भोगमात्र को प्राप्त होता है किन्तु कभी भी कर्मों से मुक्त नहीं होता। इसलिये उसे भूतार्थ धर्म के श्रद्धान का अभाव होने से (यथार्थ) श्रद्धा भी नहीं है।

ऐसा होने से निरंचयन्य के द्वारा व्यवहारन्य का निषेढ योग्य ही है।

भावार्थ — अभ्य जीव के भेदज्ञान होने की योग्यता न होने से वह कर्माल-चेतना को जानता है किन्तु ज्ञानचेतना को नहीं जानता; इसलिये उसे शुद्ध आत्मंक धर्म की श्रद्धा नहीं है। वह शुभ कर्म को ही धर्म समझकर उसकी श्रद्धा करता है इसलिये उसके फलस्वरूप गैरवेयक तक के भोगों को प्राप्त होता है। किन्तु कर्मों का क्षय नहीं होता। इसप्रकार सत्यार्थ धर्म का श्रद्धान न होने से उसके श्रद्धान ही नहीं कहा जा सकता।

इसप्रकार व्यवहारन्य के आश्रित अभ्य जीव को ज्ञान-श्रद्धान न होने से निरंचयन्य द्वारा किया जानेवाला, व्यवहार का निषेढ योग्य ही है।

यहाँ इतना विशेष ज्ञान चाहिए कि — यह हेतुवादरूप अनुभवप्राधान ग्रन्थ है इसलिये इसमें अनुभव को अपेशा से भव्य अभ्य का निर्णय है। अब यदि इसे अहेतुवाद आगम के साथ मिलाये तो — अभ्य को व्यवहारन्य के पक्ष का सूक्ष्म, केवलीग्रंथ आशय रह जाता है जो कि छवस्थ को अनुभवगोचर नहीं भी होता, मात्र सर्वज्ञदेव जानते हैं; इसप्रकार केवल व्यवहार का पक्ष रहने से उसके सर्वस्था एकांतरूप मिथ्याल्य रहता है। इस व्यवहारन्य के पक्ष का आशय अभ्य के सर्वस्था कभी भी मिटता ही नहीं है।

गाथा २७५ की टीका पर प्रवचन

यहाँ शिष्य पूछता है कि, अभ्यों को धर्म का श्रद्धान तो होता है, फिर भी आप ऐसा क्यों कहते हो कि उसे श्रद्धान नहीं है?
यही प्रश्न के उत्तर में यह गाथा आचार्यदेव ने लिखी है। इसमें ये कहते हैं कि अभ्यर्थ जीव भोगों के निमित्त ही धर्म की श्रद्धा करता है, कर्मस्वरूप के निमित्त नहीं। यहाँ अभ्यर्थ को तो मात्र उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। वैसे देखा जाय तो अभ्यर्थ की भांति भव्य जीवों ने भी यह सब अनन्त बार किया है। दिग्विजय जैन साधु होकर अनन्त बार नवम्व यौग्य तक गया, पर आत्मज्ञान नहीं हुआ, अतः लेख मात्र भी सच्चा सुख नहीं मिला; क्योंकि वह मिथ्यादृष्टि ही रहा। इसकारण यहाँ भी नित्यकर्मफलचेतना का ही अनुभव करता रहा। नित्यज्ञानचेतनामात्र वस्तु की श्रद्धा नहीं की। वह जीव भोग के हेतु मात्र से शुभकर्म रूप धर्म को ही करता है, स्वातंत्र्य के हेतु से धर्म नहीं करता। शुभराग तो कर्मचेतना है, यह आत्मचेतना या शुद्ध ज्ञान चेतना नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि अभ्यर्थ जीव नित्य राग व राग के फल में ही चेतता है। उसे जो महाब्रत का भाव है, शास्त्रवाद्य करने का भाव है; वह सब कर्मचेतना - राग में एकाकारपने का भाव है। उसे वह अपना कर्तव्य समझता है। उसका ज्ञान नित्य ज्ञानचेतनामात्र वस्तु की ओर नहीं होता। पर समुख होकर क्रियाकांड में पड़े रहनेवालों को स्वसन्तुष्क हुए बिना नित्य ज्ञानचेतनामात्र वस्तुस्वरूप का श्रद्धान कहाँ से हो?

अभ्यर्थजीव नित्यज्ञानचेतनामात्र वस्तु का श्रद्धान नहीं करता; क्योंकि वह सदा ही स्व-पर भेदविज्ञान के अयोग्य है। भगवान आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूपी नित्य ज्ञान-दृष्ट्य प्रभु शुद्धज्ञानचेतनामात्र वस्तु है; परंतु उस भगवान आत्मा को अभ्यर्थ ज्ञान नहीं है, श्रद्धान नहीं करता। राग की क्रिया से, युक्तिवहार की क्रिया से लाभ होगा, धर्म होगा - ऐसा वह मानता है तथा सदैव कर्मचेतना से लिप्त रहता है; क्योंकि वह सदैव स्वप्न का भेदज्ञानरूप विवेक करने में अक्षम है, अयोग्य है। अतः वह कितने भी ब्रज-तप क्यों न करे। तो भी वह भगवान आत्मा का ज्ञान करने में अयोग्य है।

यहाँ कोई कहे कि अभ्यर्थ की अपेक्षा तो यह आपका कहना वरार है; पर भव्य को तो ब्रज-तप आदि करने से आत्मा का ज्ञान होता है न?
बापू! अभ्यो का तो दृष्टांत दिया है; भव्य जीवों ने भी ऐसे व्रत-तप-तीर्थयात्रा आदि व्यवहार धर्म अनन्तरिक किये, उन्हें भी आज्ञातक ज्ञानस्वभाव की प्राप्ति नहीं हुई। जबतक पुण्य की रूचि छोड़कर स्वरूप की रूचि नहीं करता, तबतक भव्य को भी भेदविज्ञान प्रगट नहीं होता।

मोक्षमार्गप्रकाशक में भी ऐसा ही प्रश्न उठाया है कि मिथ्यादृष्टि तपस्चरणादि क्रियायें करता है, व्यवहारधर्म की क्रियायें करता है, फिर भी उसे धर्म की प्राप्ति क्यों नहीं होती?

वहाँ कहा है कि तपस्चरणादि व्यवहारधर्म में अनुरागी होकर प्रवर्तन करने का फल तो बंध है और वह उससे मोक्ष की इच्छा करता है; सो उस बाह्य क्रिया से मोक्ष की प्राप्ति कैसे संभव है? व्रत-तप आदि के परिणाम तो राग के परिणाम हैं न? मिथ्यादृष्टि करते तो रागरूप कर्म और फल चाहे वीरारगतरूप धर्म का, तो यह कैसे हो सकता है?

तू सर्वज्ञस्वभावी है न प्रभु? तेरा स्वरूप ही ‘ज’ स्वभाव है, ‘सर्वज्ञ’ स्वभाव है। उसका ज्ञान-श्रद्धा तो करे नहीं और राग को भला जानकर उसमें ही अटका रहे सो यह तो स्वपर के भेदज्ञान के लिए अयोग्यता है। इसप्रकार अभ्यो जीव भेदविज्ञान के लिए सदा ही अयोग्य है।

अब कहते हैं कि देखो, रागादि विकार से तथा जड़ कर्मों से छूटने में निमित्त ज्ञान की परिणति है। कर्म छूटते है अपनी स्वयं की योग्यता से ही हैं, स्वयं के कारण से ही है; इन कर्मों के छूटने में ज्ञान की परिणति तो निमित्ररूप है।

भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु है। उसका शुद्ध ज्ञानमात्र परिणाम ही भूतार्थ है, सत्यार्थ धर्म है। यहाँ ‘भूतार्थ’ से त्रिकाली द्रव्य ग्रहण नहीं करना, किन्तु भूतार्थ भगवान आत्मा के आश्रय से जो आत्मा का श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होता है; उसे भूतार्थ धर्म कहा। अभ्यो जीव इस भूतार्थ धर्म की तो श्रद्धा नहीं करता। वह तो भोग के निमित्ररूप शुभकर्ममात्र भूतार्थ धर्म का ही श्रद्धान करता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com
समवसार गाथा २७५

देखो, शुद्ध चेतन्यजन आत्मा के आश्रय से जो ज्ञानमात्र परिणाम उत्पन्न होता है, वह कर्म से अर्थात संसार से छुटने में निमित्त है; इसकारण उसे भूतार्थ अर्थात सत्यार्थ धर्म कहा। तथा जो पर के आश्रय से शुभकर्ममात्र परिणाम होता है, वह बन्ध में एवं भोग में निमित्त है; इसकारण वह अभूतार्थ है ऐसा कहा। यहाँ यह कहते हैं कि अभ्य जीव शुभकर्मरूप मात्र अभूतार्थ धर्म का ही श्रद्धान करता है, सत्यार्थ धर्म का तो वह श्रद्धान करता ही नहीं है।

शुभभाव निरन्यच्य से अशुद्धभाव ही है। तथा वह शुभभाव भोग सामग्री की उपलब्धि में निमित्तभूत पुण्यकर्म का निमित्त है। अभ्यजीव ऐसे शुभकर्म को तो धर्म मानता है और सत्यधर्म को, भूतार्थधर्म को जानता भी नहीं है। भूतार्थ अर्थात ज्ञानमात्र भाव। ज्ञानमात्र भाव भूतार्थ है, सच्चा धर्म है। ज्ञानमात्र अर्थात् एक ज्ञानभाव स्वरूप वर्तु; अतैतिहासिक का बिम्ब; जो कि अन्दर सच्चिदानन्दस्वरूप से विकाल विराजमान है, उसका ज्ञान-श्रद्धान तथा उसी में ही लीनता-रमणता होने रूप भाव को यहाँ ज्ञानमात्र कहा है, इस ज्ञानमात्र भाव में राग नहीं है, इसलिए इसे ज्ञानमय कहा गया है।

प्रश्न – आप आत्मा को ज्ञानमात्र कहते हो तो श्रद्धान व चारित्र कहाँ गया?

उत्तर – अरे भाई! यहाँ शुद्ध, चिद्वृंद्व, ब्रह्मवृत्त, एक ज्ञानभावरूप आत्मा की श्रद्धा, सन्मुखता एवं उसी आत्मा में रमणता को यहाँ ‘ज्ञानमात्र’ कहा है । राग के अभावरूप आत्मा की मुख्यता से आत्मा को ‘ज्ञानमात्र’ कहा है। अर्थात् आत्मा रागादि विकार से रहित ‘ज्ञानमात्र’ है।

अभ्य जीव निमित्तरूप ‘शुभकर्म नाम’ अभूतार्थ धर्म की श्रद्धा करते हैं। इस प्रकरण में कुछ लोग ‘कर्म’ शब्द का अर्थ मात्र जड़कर्म करते हैं। पर यहाँ यह अर्थ नहीं हो सकता। पुप्प्य-पाप अधिकार में आ भी गया है कि व्रत-तप-शोल-नियम आदि सभी शुभकर्म हैं अर्थात ‘शुभराग रूप विकल्प हैं। ये बंध के कारण हैं, इसी कारण इन्हें अभूतार्थ कहा है, मिथ्याधर्म कहा है। अर्थात्
ये धर्म नहीं हैं, धर्म के कारण भी नहीं हैं। इन्हें तो अभ्यास ने भी अनन्तवार किया, फिर भी उनका एक भी भव कम नहीं हुआ।

यहाँ तो ऐसा सीधा ही कहा है कि शुभारा के परिणाम से नवग्रेवेयक के भोगों को प्राप्त करते हैं। पर वास्तव में तो वे शुभपरिणाम नवीन कर्मवर्ध के निमित्त मात्र हैं तथा कर्मों का उदय भोगसमग्री प्राप्त होने में निमित्त मात्र है। उपादान तो अपना–अपना स्वतंत्र है। शुभारा के स्पर्शन–अनुभव से अजानी नवग्रेवेयक तक के भोगमात्र को प्राप्त करता है, किन्तु कर्मों से कदापि छूटता नहीं है।

देखा, शुभारा चैतन्य भगवान से विरुद्ध भाव है। इसे धर्म मानकर आचरण करनेवाला किसी समय भी कर्मों से नहीं छूटता।

जो लोग शुभारा को धर्म का कारण कहते हैं, उन्हें आचार्यों के उपर्युक्त कथन पर ध्यान देना चाहिए। बापू! धर्म व सम्यंदर्शन कोई अत्याचारी वस्तु है। वह शुभारा से नहीं मिलती। शुभारा धर्म व सम्यंदर्शन कार्य – यह त्रिकाल संघव नहीं है। सम्यंदर्शन तो एकमात्र अपने अन्दर में विराजमान त्रिकाली चिन्मात्र ज्योति भगवान आत्मा – कारण परमात्मा के आश्रय से ही प्रगट होता है। अहा! अमृतचन्द्राचार्य ने समवसार में परमामृत घोल दिया है।

अब कहते हैं कि ऐसा होने से निर्मचनन्य द्वारा व्यवहारन्य का निषेध योग्य ही है।

देखो, यह सिद्धांत नक्की किया कि ग्यारह अंग का ज्ञान होने पर भी आत्मज्ञान बिना सम्यंद्रश्वान व सम्यंज्ञान नहीं होता एवं शुभाचरण से धर्म नहीं होता। दूसरे, निर्मच हरा व्यवहार का निषेध योग्य ही है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक में कहा है कि मदिरा पीने वालों के सामने मदिरापान का निषेध करें तो उसे बुरा लगता ही है, इसीप्रकार पुण्य या व्यवहार की सुचिवालों के सामने पुण्य व व्यवहार का निषेध करें तो उन्हें बुरा लगना स्वाभाविक ही है। परन्तु निषेध करने के सिवाय कोई उपाय भी तो नहीं है।
समयसार गाथा २७५

इस विवेचन से ऐसी आशंका नहीं करना चाहिए कि कोई शुभ को संसार का कारण मानकर शुभ की प्रवृत्ति छोड़कर अशुभ प्रवृत्ति करने लगेगा।

भाई! तुझे खबर नहीं है, ज्ञानी को तो भूमिका के अनुसार शुभभाव आये बिना रहता ही नहीं है। मोक्षमार्ग के क्रम में शुभराग आता तो अवश्य है, पर वह हेयपने ही आता है। उसे ज्ञानी उपादेय करने योग्य नहीं मानते।

आता तो ज्ञानी व अज्ञानी दोनों को ही है, पर अज्ञानी उसे ही धर्म मानकर बैठ जाता है और ज्ञानी उसे राग-पुण्यबंध का कारण भोगों का निमित्त जानकर उसे हेय रूप से आचरते हुए उसके भी ज्ञाता-दृष्ट्य बने रहते हैं।

गाथा २७५ भावार्थ पर प्रवचन

भगवान आत्मा ज्ञातस्वभाव, प्रजाज्ञातस्वभाव प्रभु, एक, चिन्तु-ज्ञानस्वभाव है। उसमें एकाग्रता ही ज्ञातचेतना है, सत्यार्थ धर्म है। अभव्य मिथ्यावृत्ति ऐसे ज्ञातचेतनस्वभाव अपने आत्मा को नहीं जानता।

पण्डित बनाससीदास कृत परमार्थवचनिका में आया है कि मूढ़ जीवों को आगम पद्धति सुगम है, इससे वे उसका अधिक अनुशासन करते हैं। अथ्यात्मपद्धति को वे वस्तुत: जानते ही नहीं हैं। ब्रत, शील, तप आदि में सावधानपना आगमपद्धति है और सुगम होने से वे इसका ही चिरकाल से आचरण कर रहे हैं। तथा इसी में संतुष्ट रहने के कारण अथ्यात्म को जानने का वे प्रयतन ही नहीं करते, इसकारण जानते ही नहीं हैं।

त्रिकाली भगवान आत्मवस्तु में एकाग्रता के निष्चय तथा उसके आश्रय से जो परिणति होती है, वह अथ्यात्म का व्यवहार है, उसे ही यहाँ ज्ञातचेतना कहा है। अभव्य जीव उस ज्ञातचेतना को नहीं जानते। वे शुभकर्म को ही धर्म समझते हैं, ‘शुभकर्म’ का अर्थ जड़कर्म नहीं, बल्कि शुभभाव-पुण्यभाव है। शुभभावरूप धर्म समझता को यहाँ शुभकर्म कहा है।

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि शुभकर्म कहकर शुभभावों का भी निषेध किया है। तत्त्वज्ञान यह है कि शुभभाव धर्म नहीं है, धर्म का कारण भी नहीं है।
देखो, अज्ञानी को अकेली कर्मधारा है और भगवान के वेली को अकेली ज्ञानधारा है। तथा ज्ञानी को ज्ञानधारा व कर्मधारा – दोनों ही होती हैं। यद्यपि ज्ञानी के ज्ञानमय परिणामन है, परन्तु अपूर्णदशा में ज्ञान की पूर्णता न होने से अथवा द्रव्य का पूर्ण आश्रय नहीं होने से पुरुषार्थ की कमजोरी में शुभाभाव आये विना नहीं रहता। इसकारण ज्ञानी के ज्ञानधारा व कर्मधारा – दोनों होती हैं। उनमें ज्ञानधारा धर्म है तथा कर्मधारा अधर्म है।

आत्मावलोकन में आया है कि ज्ञानी को धर्म व अधर्म दोनों हैं। वस्तु के स्वभाव का आश्रय धर्म है तथा राग वस्तुस्वभाव से विरुद्ध होने से राग अधर्म है।

अभव्य को भेदज्ञान की अयोग्यता होने से वह शुभकर्मा को ही धर्म समझकर श्रद्धान करता है और उसके फल में नववें गैरवेद तक के भोगों को प्राप्त कर लेता है, परन्तु उसके कर्मों का क्षय नहीं होता। कर्मशक्ति हो भी कहाँ से? शुभकर्मा तो बंधभाव है न?

यहाँ कोई यह कह सकता है कि इससे कम से कर्म चूर हो तो घटता है और पुण्य बढ़ता है, इतना लाभ तो होता है न?

उत्तर में आचर्य कहते हैं कि अरे भाई ! आखिर हैं तो दोनों बन्धनरूप ही न? इससे कर्मशक्ति कैसे हो सकता है तथा जिसे सत्य का श्रद्धान नहीं है, उसे तो श्रद्धान ही नहीं है – ऐसा कहा जाता है।

इसप्रकार व्यवहारन्याश्रित अभव्य जीवों को ज्ञान–श्रद्धान नहीं होने से निश्चयन्य के द्वारा व्यवहारन्य निशेष योग्य ही है।

पण्डित जयचन्द्रजी छाबड़ा भावार्थ में यहाँ कहते हैं कि इतना विशेष जानना कि यह हेतुवाद रूप अनुभवप्रधान ग्रंथ है, इसकारण इसमें भव्य–अभव्य के अनुभुक के अपेक्षा से निर्णय है।

अब कहते हैं कि यदि इसे आगम के साथ मिलायें तो अभव्य को व्यवहारन्य के पक्ष का सूक्ष्म–केवलीगम्य आश्रय रह जाता है, जो छव्वस्त्र के अनुभवगोचर नहीं होता। केवलीगम्य कहने का अभिप्राय यह है कि वह भूल
भरा आशय अति सूक्ष्म होता है, तो जनसमान्य के लक्ष्य में नहीं आता। इसका ऐसा अर्थ ग्रहण नहीं करना कि केवल के सिवाय किसी छद्मस्थ के ज्ञान में आता ही नहीं है। कोई विशेष उपयोग एकाग्र करें तो छद्मस्थ के ज्ञान में भी वह व्यवहारपक्ष का भूल भरा आशय आ सकता है।

‘मात्र सर्वज्ञदेव जाने’ यह कहने का आशय यह है कि सर्वज्ञ भगवान विशेष स्पष्ट जानते हैं। पंचाभ्यायी में ऐसा कहा है कि ‘सम्यस्त्राण को भगवान केवल ज्ञान सकते हैं’ – वहाँ उनके कहने का आशय यह है कि सम्यस्त्राण अवधि, मन:पर्य व मतिज्ञान का विषय नहीं है। पर यहाँ वेदना की अपेक्षा से कहा गया है। अनुभूति के साथ अविनाशवी समकित होता है, तो अनुभूति के साथ समकित का ज्ञान भी होता है, समकित को वह बराबर ज्ञान सकता है।

अब कहते हैं कि व्यवहार होता है – यह बात जुड़ी है, व्यवहार तो ज्ञानी को व मुनिराजों को भी होता है, परन्तु व्यवहार का पक्ष ज्ञानी या मुनिराजों को नहीं होता। व्यवहार का पक्ष होना तो सर्वथा एकान्तरुप मिथ्यात्म है।

‘व्यवहार से धर्म होता है’ – ऐसा मानना सर्वथा एकान्त पक्ष है। और अभ्यों को ऐसा व्यवहार का पक्ष कभी मिटता ही नहीं है। इसकारण उनके संसार का परिभ्रमण सदा बना ही रहता है।

अहा ! जबतक सच्चे मार्ग को पहचान कर स्वरूप का लक्ष्य नहीं करेगा, तबतक चौरासी का चक्कर बना ही रहेगा और कषायागिन में जलता ही रहेगा। इस संयोगों को जगमगाहट में तू अपने स्वरूप को भूल गया है, पर जिसप्रकार सनिपात का रोगी जब हैंसता है, तब भी दुःखी ही है, ठीक इसप्रकार श्रद्धा-ज्ञान-आचरण – इन तीनों का सनिपात तुझे हो गया है, अतः अपने स्वरूप को जानने में, सत्य को समजने में साधारण हो जा। •
समयसार गाथा २७६-२७७

आयारांदी पानं जीवादी दंसं च विपन्नेयं ।
छज्जीविणिकं  च तः भणादि चरितं  तु ववहारे ॥ २७६ ॥
आदा खु मज्झ पानं आदा मे दंसं चरितं  च ।
आदा पच्चक्काणं आदा मे संवरो जोगो ॥ २७७ ॥

आचारादि  ज्ञानं  जीवादि  दर्शनं  च  ववज्ञे ।
षड्जीविनिकायं  च  तः  भणाति  चरितं  तु  ववहारः ॥ २७६ ॥
आत्मा खलु  मम ज्ञानमात्मा मे दर्शनं  चरित्रं  च ।
आत्मा प्रत्याख्यानमात्मा मे संवरो  योगः ॥ २७७ ॥

आचारादिशब्दशुतं ज्ञानस्यवशयत्वात्ज्ञानं, जीवादयो नवपदार्थं
दर्शनस्यवशयत्वादर्शनं,  षड्जीविनिकायशारित्रस्यवशयत्वाचारित्रमिति
ववहारः।  शुद्ध आत्मा ज्ञानायत्वात्ज्ञानं,  शुद्ध आत्मा दर्शनायत्वादर्शनं,
शुद्ध आत्मा चारित्रायत्वाचारित्रामिति निश्चयः।
तत्त्राचारादीनां ज्ञानायत्वस्यानैकांतिकत्वादवहारानव:  रतिप्रेष्यः।
निश्चयनयस्तु  शुद्धमात्मनोऽज्ञानायत्वस्यैकांतिकत्वाचात्तिप्रेष्यं दक।
तथावतः-नाचारादिशब्दशुतमेकांतेन ज्ञानस्यश्रवः,  तत्सद्वेप्यभव्यानां
शुद्धात्माभावेन ज्ञानस्यभावत; न च जीवादयः पदार्थं दर्शनस्यश्रवः,
तत्सद्वेप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन दर्शनस्यभावत; न च
षड्जीविनिकायः चारित्रस्यश्रवः,  तत्सद्वेप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन
चारित्रस्यभावत्।  शुद्ध आत्मैव ज्ञानस्यश्रवः,  आचारादि
शब्दशुतसद्वेप्यभव्यावेसद्वेबेव वा तत्सद्वेप्यभव्यावेसद्वेबे
जीवाधीनसङ्करावेसद्वेबे वा तत्सद्वेप्यभवेव दर्शनस्य
सद्वेबे वा तत्सद्वेप्य चारित्रस्य सद्वेबे।

अब यह प्रश्न होता है कि “निश्चयन के द्वारा निषेध्य व्यवहारन, और
व्यवहारन का निषेधक निश्चयन वे दोनों नय कैसे हैं?” अत: व्यवहार
और निश्चयन का स्वरूप कहते हैं –
टीका - आचारंगादि शब्दश्रूतज्ञान है क्योंकि वह (शब्दश्रूत) ज्ञान का आश्रय है, जीवादि नव पदार्थ दर्शन हैं क्योंकि वे (नव पदार्थ) दर्शन के आश्रय हैं, और छह जीव-निकाय चारित्र है क्योंकि वह (छह जीवनिकाय) चारित्र का आश्रय है; इसप्रकार व्यवहार है। शुद्ध आत्मा ज्ञान है क्योंकि वह (शुद्धात्मा) ज्ञान का आश्रय है, शुद्ध आत्मा दर्शन है क्योंकि वह दर्शन का आश्रय है, और शुद्ध आत्मा चारित्र है क्योंकि वह चारित्र का आश्रय है; इसप्रकार निश्चय है। इनमें, व्यवहारनय प्रतिषेध अर्थात् निश्चय है, क्योंकि आचारंगादि को ज्ञानादि का आश्रयतं अनैकान्तिक है - व्यभिचारपुकुर है; (शब्दशृंगादि को ज्ञानादि का आश्रयस्वरूप मानने में व्यभिचार आता है क्योंकि शब्दशृंगादि के होने पर भी ज्ञानादि नहीं भी होते, इसलिये व्यवहारनय प्रतिषेध है;) और निर्वचन स्वरूप निर्वचन का प्रतिषेध है, क्योंकि शुद्ध आत्मा के ज्ञानादि का आश्रयतु ऐकान्तिक है। (शुद्ध आत्मा को ज्ञानादि आश्रय मानने में व्यभिचार नहीं है क्योंकि जहाँ शुद्ध आत्मा होता है वहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता ही है।) यही बात हेतुपूर्वक समझाई जाती है :-
आचारांगादि शब्दश्रुत एकांते से ज्ञान का आश्रय नहीं है, क्योंकि उसके (अर्थात् शब्दश्रुत के) सद्भाव में भी अभिव्यक्ति को शुद्ध आत्मा के अभाव के कारण ज्ञान का अभाव है; जीवादि नवपदार्थ दर्शन के आश्रय नहीं हैं, क्योंकि उनके सद्भाव में भी अभिव्यक्ति को शुद्ध आत्मा के अभाव के कारण दर्शन का अभाव है; छह जीव-निकाय चारित्र के आश्रय नहीं है, क्योंकि उनके सद्भाव में भी अभिव्यक्ति को शुद्ध आत्मा के अभाव के कारण चारित्र का अभाव है। शुद्ध आत्मा ही ज्ञान का आश्रय है, क्योंकि आचारांगादि शब्दश्रुत के सद्भाव में या असद्भाव में उसके (- शुद्ध आत्मा के) सद्भाव से ही ज्ञान का सद्भाव है; शुद्ध आत्मा ही दर्शन का आश्रय है, क्योंकि जीवादि नवपदार्थों के सद्भाव में या असद्भाव में उसके (- शुद्ध आत्मा के) सद्भाव से ही दर्शन का सद्भाव है; शुद्ध आत्मा ही चारित्र का आश्रय है, क्योंकि छह जीव-निकाय के सद्भाव में या असद्भाव में उसके (शुद्ध आत्मा के) सद्भाव से ही चारित्र का सद्भाव होता है।

भावार्थ - आचारांगादि शब्दश्रुत का ज्ञान, जीवादि नव पदार्थों का श्रद्धा तथा छह काय के जीवों की रक्षा - इन सबके होते हुये भी अभिव्यक्ति के ज्ञान, दर्शन, चारित्र नहीं होते, इसलिये व्यवहारनय तो निषेध्य है। और जहाँ शुद्धता होता है वहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र होता ही है, इसलिये निष्फलनय व्यवहार का निषेधक है। अतः शुद्धता उपादेय कहा गया है।

गाथा २७६ व २७७, टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

देखो, यहाँ 'आचारांगादि शब्द से बीतार सर्वज्ञदेव द्वारा प्रणीत दिगम्बर जैनदर्शन के आचारिंग आदि शास्त्रों को निमित्तरूप में लिया गया है। कहा है कि आचारांगादि शास्त्रों का ज्ञान शब्दश्रुत है, अतः व्यवहारज्ञान है और निषेध है; क्योंकि वे आचारांगादि व्यवहार ज्ञान के आश्रय हैं। जिसज्ञान की पर्याय में भगवान आत्मा आश्रयभूत या निमित्त न होकर 'शब्दश्रुत' निमित्त हो, वह शब्द श्रुतज्ञान व्यवहार है और निषेध करने योग्य है।

जीव, अजीव, आत्म आदि नव पदार्थ दर्शन हैं, जैसा शब्दश्रुत ज्ञान है वैसा ही जीवादि नव पदार्थ दर्शन है; क्योंकि जीवादि भेदरूप नव पदार्थ दर्शन
समयसार गाथा २७६-२७७

के आश्रय हैं, इसलिए सात तत्त्व या नव पदार्थ दर्शन हैं। यह व्यवहार है। यह व्यवहार्दर्शन निषेध है।

प्रश्न – जीवादि नव पदार्थों में संयुक्त, निर्जन व मोक्ष भी तो आये हैं न?
उत्तर – हाँ, आये हैं, परन्तु वे भेदरूप आये हैं, इसकारण वे व्यवहार हैं।
व्यवहार श्रद्धा के या व्यवहार समक्ष के ये नव पदार्थ निमित्त, आश्रय, हेतु या कारण हैं; इसलिए नव पदार्थ व्यवहार से सम्यगदर्शन हैं।

प्रश्न – तत्त्वार्थपूर्व में भी तो ‘तत्त्वार्थश्रद्धानम्’ तथा ‘जीवाजीवात्स्ववंद्ध’
इन दो सूत्रों में इसीप्रकार कहा है न?
उत्तर – हाँ, कहा है; परन्तु वहाँ निरर्थ समक्ष की बात है। वहाँ नववेद
कहकर भी एक वचन के प्रयोग द्वारा नववेद रूप पदार्थों से भिन शुद्धत्व के
बल से प्राप्त अभेद एकरूप ज्ञातभावभाव आत्मा के श्रद्धा को सम्यगदर्शन
कहकर निरर्थसम्यगदर्शन की बात कही है।

यहाँ तो नव भेद कहकर नव पदार्थ कहे हैं। एक आत्मा नहीं, बल्कि
जीवादि नव पदार्थ दर्शन हैं – ऐसा यहाँ स्पष्ट कहा है। अतः यह व्यवहार
दर्शन है, क्योंकि इनका आश्रय (निमित्त) भेदरूप नव पदार्थ है। व्यवहार
समक्ष का विषय, आश्रय, हेतु, आधार, भेदरूप नव पदार्थ हैं। अतः निषेध
करने योग्य हैं।

अब कहते हैं कि ‘छह जीव निकाय चारित्र है’ यह भाषा तो देखो !
छहकाय के जीवों का समूह चारित्र है।’ – ऐसा कह रहे हैं। यहाँ पाँच
महात्मतादि के विकल्परूप व्यवहार चारित्र की बात है।

प्रश्न – फिर भी ‘छहनिकाय’ को चारित्र क्यों कहा?
उत्तर – ये व्यवहार चारित्र के जो विकल्प हैं न ! इनका आश्रय छहजीव
निकाय हैं। अतः पाँच महात्म ते परिषदों को चारित्र न कहकर इन परिषदों
में जो छह निकाय निमित्त हैं, उन छहजीव निकाय को ही चारित्र कह दिया है।

अहा ! यह सर्वत्र परमात्मा की दिल्लिधर्मनि में आई हुई बात है कि जो छह
जीव निकाय की श्रद्धा है, यही जीव निकाय का ज्ञान है तथा जो छह
जीवनिकाय की रक्षा की ओर के ढलन (झुकाव) वाला चारित्र है। वह सब व्यवहार है।

अहा! निगोद के एक शरीर में अनन्त जीव, अंगुल के असंख्यात भाग में असंख्य आदरिक शरीर और एक-एक शरीर में अनन्त-अनन्त जीव; अहा! सम्पूर्ण लोक ऐसे निगोदिया जीवों से भरा है। सभी निगोदिया जीव स्वभावदृष्टि से भगवान स्वरूप हैं; परन्तु वे सब भेदज्ञ तो दृष्टि वालों की दृष्टि में स्पष्ट परद्रस्त रूप ही दिखाई देते हैं। इसकारण छहकाय को श्रद्धा व्यवहारश्रद्धा है, छहकाय का ज्ञान व्यवहारज्ञान है तथा छहकाय के लक्ष्य से महान स्त्रोतों का पालन करना व्यवहारचारित्र है।

यह तो व्यवहार की अपेक्षा कष्ट हुआ। अब निर्चय की अपेक्षा बात करते हैं - शुद्ध आत्मा ज्ञान है; क्योंकि शुद्ध आत्मा ज्ञान का आश्रय है। यह निर्चयज्ञान, सत्यार्थज्ञान, सम्यक्ज्ञान की बात है। व्यवहार श्रुतज्ञान में जिसतरह शब्द निमित्त थे, उसीतरह यहाँ शुद्धज्ञान निमित्त है - आश्रय है।

शुद्ध आत्मा ज्ञान है; क्योंकि निर्चयज्ञान का हेतु-आश्रय शुद्ध आत्मा है। त्रिकाली एक ज्ञायकमूर्ति सच्चिदानन्द प्रभु ज्ञान का आश्रय है, इसलिए वह सम्यक्ज्ञान है।

अहा! जिस ज्ञान में आत्मा हेतु, करण या आश्रय न हो, वह ज्ञान वस्तुतः ज्ञान ही नहीं है। कहा भी है - "आदा खु ममज्ञान" - निर्चय से मेरा आत्मा ही ज्ञान है। आत्मा व ज्ञान दोनों अभिन्न हैं।

प्रश्न - यदि दोनों एक ही हैं तो सम्यक्ज्ञान का कारण-आश्रय आत्मा को क्यों कहा?

उत्तर - भाई! त्रिकाली धूप भगवान आत्म भावना सम्पूर्ण वस्तु है, ज्ञान की पर्याय में वह सम्पूर्ण वस्तु तो आ नहीं जाती, किन्तु शुद्ध आत्मवस्तु अपनी ज्ञान की पर्याय में कारण या आश्रय रूप होकर जैसी-जितनी है, उसका सम्पूर्ण ज्ञान उस ज्ञान-पर्याय में आ जाता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान की पर्याय में अनन्त-अनन्त गुण सामथ्र्य से युक्त परिपूर्ण शुद्ध आत्मा जैसा/जितना है, पूरा
का पूरा जानने में आ जाता है। उसे ही यहाँ अभेद विवश्च से ऐसा कहा है कि शुद्ध आत्मा ज्ञान ही है, आत्मा व ज्ञान अभिन हैं।

शुद्धत्मा का ज्ञान होने में कारण – आश्रय शुद्ध आत्मा है, इसलिए कहा है कि शुद्ध आत्मा ज्ञान है। वह यथार्थज्ञान है कि जिस ज्ञान की पर्याय में परिपूर्ण भगवान आत्मा ज्ञात होता है, परन्तु परिपूर्ण भगवान आत्मा त्रिकाली प्रभु पर्याय में नहीं आता। इसकारण शुद्ध आत्मा को ज्ञान का हेतु – आश्रय एवं निर्मित कहा है।

प्रश्न – पंचास्तिकाय आदि शास्त्रों में भिन साध्य–साधन कहा है न ? व्यवहार साधन व निर्चय साध्य – ऐसा कहा है न ? और यहाँ व्यवहार का निषेध किया जा रहा है। इन दोनों परस्पर विरोधी बातों में सुमेल कैसे हो ?

उत्तर – जहाँ भिन साध्य–साधन कहा है; वहाँ अभूतान्तर्यन से, व्यवहार उपचार करके कहा है। जैसा कि यहाँ निर्चयनय से कहा कि शुद्ध आत्मा ज्ञान है; क्योंकि ज्ञान का आश्रय शुद्ध आत्मा है और शुद्ध आत्मा व ज्ञान भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। उसीप्रकार पहले ‘शब्दशृंख्ल ज्ञान है’ – ऐसा जो कहा – वह व्यवहार है; क्योंकि उस ज्ञान का आश्रय आत्मा नहीं, बल्कि भिन शब्दशृंखला है। तथा जिस ज्ञान में आत्मा जानने में न आवे, वह ज्ञान किस काम का ? इसकारण निर्चय आत्मज्ञान द्वारा व्यवहार शब्दशृंखलाज्ञान निषेध करने लायक ही है।

आचारांगादि शब्दशृंखलज्ञान को व्यवहार व आत्मज्ञान को निर्चय कहने का तात्पर्य यह है कि आचारांगादि व्यवहार ज्ञान में शब्दशृंखला निमित्त है। उस आचारांगादि में शब्दशृंखल जानने में आया, पर आत्मा जानने में नहीं आया; इसकारण उसे व्यवहार कहा। तथा सत्यार्थज्ञान में, निर्चयज्ञान में परिपूर्ण भगवान आत्मा जानने में आया; इसकारण इसे निर्चय कहा। शब्दशृंखल ज्ञान तो विकल्प है। वास्तविक रूप से देखें तो वह तो वंध का कारण है।

जो ज्ञान त्रिकाली शुद्ध आत्मा को जानता है, वह यथार्थ ज्ञान है। तथा शुद्ध को जानने वाले ज्ञान को शुद्ध का आश्रय होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com
चैसे तो आत्मा व ज्ञान - दोनों में एक द्रव्य हैं व दूसरी पर्याय है - इसप्रकार दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं, फिर भी ‘आत्मा ही ज्ञान है’ - इसमें पदार्पण आत्मा द्रव्य व ज्ञान पर्याय - इसप्रकार भिन्न होने से दोनों एक नहीं हैं, तथापि ‘शुद्ध आत्मा ज्ञान है’ - ऐसा जो कहा है, उसका कारण यह है कि ज्ञान को पर्याय ने आत्मा को ही ज्ञान तथा आत्मा के आश्रय से ही आत्मा को ज्ञान, इसकारण ‘शुद्ध आत्मा ज्ञान है’ - ऐसा अभेदनय से कहा है।

अब दूसरा बोल - शुद्धात्मा दर्शन है अर्थात् शुद्धात्मा समकित है। पहले जीवादि नव पदार्थों को दर्शन कहा था; क्योंकि नव पदार्थ दर्शन के आश्रय हैं। दर्शन में - श्रद्धा में शुद्ध आत्मा का ही श्रद्धा किया है, श्रद्धा की पर्याय में भगवान शुद्धात्मा ही हेतु-आश्रय हुआ है। यह निरंच श्रद्धा व निरंच सम्यक्दर्शन है। तथा उनका हेतु-आश्रय शुद्ध आत्मा ही होता है। इसकारण यहाँ कहा है कि शुद्धात्मा दर्शन है।

प्रश्न - एक और समकित की पर्याय व शुद्ध आत्मा - दोनों को भिन्न-भिन्न कहते हो और आत्मा (द्रव्य) पर्याय का दाता नहीं है - ऐसा कहते हो और दूसरी ओर यहाँ शुद्ध आत्मा दर्शन है - ऐसा कहते हो, यह सब परस्पर विरुद्ध कथन कैसे संभव है?

उत्तर - भाई! इस श्रद्धा की पर्याय में आत्मा (त्रिकाली द्रव्य) आता नहीं है और पर्याय आत्मा से (द्रव्य से) होती नहीं है, वह अपने उपादन की जागृति से स्वतः होती है। सम्यक्दर्शन को त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा ने प्राप्त नहीं किया; किन्तु सम्यक्दर्शन पर्याय का आश्रय-हेतु-कारण-निमित्त शुद्ध आत्मा (त्रिकाली द्रव्य) ही है; इसकारण ‘शुद्ध आत्मा दर्शन है’ - ऐसा अभेदनय से कहा गया है। वस्तुतः देखा जाय तो द्रव्य व पर्याय - दोनों स्वतंत्र हैं।

“उत्पादव्यवृत्तवधित्यवक्तम् सत्” - ऐसा जो मोक्षशास्त्र में कहा है न? वे तीनों ही स्वतं - स्वतंत्र सत् हैं। एक साथ दूसरे सत् का परमार्थत: हेतु नहीं है। सम्यक्दर्शन का आश्रयरूप कारण - (हेतु) द्रव्य है - यह जुदी जात है।
पर आत्मद्रव्य से सम्यगदर्शन की पर्याय उत्पन्न हुई हो - ऐसा नहीं है। सम्यगदर्शन में आत्मा का मात्र श्रद्धान किया गया है। सम्यगदर्शन का आत्मा मात्र आश्रयभूत-निमित्त है, इसलिए 'शुद्धत्मा दर्शन है' - ऐसा अभेदनय से कहा गया है।

बापू ! सम्यगदर्शन का उपादान तो सम्यगदर्शन की पर्याय स्वयं है। तथा उसमें निमित्त-आश्रय-हेतु त्रिकाली भगवान शुद्ध आत्मा है। तथा उसमें सम्पूर्ण भगवान आत्मा श्रद्धान में आत्मा है, श्रद्धेय बनता है, इसकारण कहा है कि 'शुद्धत्मा दर्शन है।'

११वीं गाथा में आता है कि भूतार्थ के आश्रय से सम्यगदर्शन होता है। अहा ! समकित तो स्वतः है, किन्तु वह भूतार्थ के आश्रय से होता है। भूतार्थ के आश्रय से होते हुए भी जिसतरह यह दर्शन की पर्याय द्रव्य में नहीं जाती, उसीतरह त्रिकाली द्रव्य प्रभु आत्मा भी दर्शन की पर्याय में नहीं आती। परस्पर स्पर्श किए विना श्रद्धा की पर्याय में सम्पूर्ण त्रिकाली द्रव्य का श्रद्धान आ जाता है। क्षायिक सम्यगदर्शन भी समय-समय में पलटता होने से, यदि द्रव्य श्रद्धान की पर्याय में आवे तो सम्पूर्ण आत्मा (द्रव्य) पलट जाय। परस्पर ऐसा कभी संभव ही नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि यद्यपि सम्यगदर्शन का आश्रयभूत-निमित्त द्रव्य है, तथापि आत्मद्रव्य व श्रद्धा की पर्याय-सम्यगदर्शन भिन-भिन हैं। सम्यगदर्शन पर्याय में द्रव्य आता ही नहीं है, पर्याय को द्रव्य स्पर्शता ही नहीं है। तथा जिस पर्याय ने त्रिकाली द्रव्य की प्रतीति की है, वह भी द्रव्य का स्पर्श नहीं करती।

अब तीसरा बोल - 'शुद्ध आत्मा चारित्र है' यह इसकारण कहा कि शुद्ध आत्मा चारित्र का आश्रय है। परस पवित्र त्रिकाली एक शुद्ध ज्ञानक्षेत्रभावमय सचिवालान्त्र प्रभु आत्मा चारित्र का आश्रय है। यह वीरभाववृत्त निश्चयचारित्र है।

पहले तो 'छह जीव निकाय चारित्र है' - ऐसा जो कहा, वह व्यवहार चारित्र की अपेक्षा कहा; क्योंकि उसका आश्रय भगवान आत्मा नहीं, बल्कि
छह जीवनिकाय है। वस्तुः जो वह व्यवहार चारित्र है, वह विकल्प है, राग है, बंध की पंक्ति में है। जबकि यह जो वीराग परिणति रूप निरंचयचारित्र है उसका आश्रय—निमिति स्व-स्वरूप त्रिकाली शुद्ध आत्मा है। वह अवन्ध्य है, मोक्ष का कारण है।

जहाँ तक पूर्ण वीरागता न हो, वहाँ तक व्यवहार के विकल्प आते हैं, पर वे निषेध करने योग्य ही हैं।

प्रश्न — पंचमहाब्रज के परिणाम चारित्र हैं कि नहीं?

उत्तर — नहीं हैं, यह वास्तविक चारित्र नहीं। अहा ! जिसमें अतीतिक्रिय आनन्द का प्रचुर बेदन हो, अनुभव हो, वह वास्तविक चारित्र है। ज्ञानी के यह महाब्रजस्वल व्यवहारचारित्र भी होता अवश्य है, पर ज्ञानी उसमें तद्प्रकार-एकमेक नहीं होते।

निश्चयचारित्र जो अतीतिक्रिय आनन्द की रमणारूप है, उसका आश्रय आन्दोलनितुषु शुद्ध आत्मा है। चारित्र का उपादान तो चारित्र को वीरागी पर्याय स्वयं है। पर उसका निमित्त-आश्रय भगवान त्रिकाली शुद्धात्मा है। भाई ! मोक्षमार्ग का आश्रय मोक्ष का मार्ग नहीं है, किन्तु उसका आश्रय-ध्येय भगवान आत्मा है। ३२०वीं गाथा में आता है कि सम्प्रदायन का ध्येय सम्प्रदायन नहीं, वरन् त्रिकाली शुद्ध आत्मा है। जब सच्चा—निर्वचय मोक्षमार्ग भी ध्येय नहीं है। तो व्यवहार के विकल्प तो कैसे हो सकेंगे? वे तो बन्ध के ही कारण हैं।

इस स्थिति में ‘व्यवहार से निर्वचय होता है’ ऐसा जो हो—हल्ला वर्तमान में हो रहा है, वह तो बात ही कहाँ रही? भाई ! यह तो आगम के आलोक में गंभीरता से विचार करने की बात है। कोरे हो—हल्ला करने से सत्य बात हाथ नहीं आयेगी।

१९वीं गाथा में व्यवहार को अभूतार्थ कहा था, उसका अर्थ यह नहीं है कि व्यवहार है ही नहीं अथवा सर्वथा असत्यार्थ है। है तो अवश्य, पर उसे गौण करके निषेध किया है, अभावरूप निषेध नहीं समझना चाहिए। वहाँ तो मोक्षमार्ग की पर्याय को भी असत्यार्थ कहा है। सो उसे भी गौण ही किया है।
उसका भी अभाव रूप निषेध नहीं समझना चाहिए। इसप्रकार व्यवहार निषेध है एवं निश्चय आदरणीय है।

अब कहते हैं कि व्यवहारनय प्रतिषेध्य अर्थात् निषेध्य है; कारण कि आचारंग आदि को ज्ञानादि का आश्रयपन अनैकांतिक है - व्यभिचारयुक्त है - सदृश हैं।

देखो, अज्ञानी के तो अकेला रागमय परिणम है, उसके न तो व्यवहार होता है और न निश्चय ही। व्यवहार मात्र उन ज्ञानी के ही होता है, जिनके निश्चयस्वरूप शुद्ध आत्मा का अनुभव है। वह व्यवहार ज्ञानी के निषेध्य है। ये शब्दशृत का ज्ञान, नवतत्त्व का भेदरूप श्रद्धान व छह जीवनिकाय की रक्षा का विकल्प अर्थात् पचनमहान्त का परिणाम ज्ञानी के निषेध्य है, हेतु है - ऐसा कहा है; क्योंकि ये मोक्ष के कारण नहीं हैं।

यद्यपि व्यवहार को निश्चय का साधन भी कहा गया है, पर वास्तव में तो शुद्ध रतनत्यधारी के अन्दर में जो स्वरूप स्थिरता हुई है, वही वास्तविक साधन है। तथा उस काल में उसे जो व्रतादि का राग होता है, उसे सहचर देखकर उपचार से उस व्रतादि के व्यवहार को साधन कहा जाता है। वस्तुतः यह शुभरागरूप व्यवहार निश्चय का साधन नहीं है, बलविषय यह तो हेतु है, प्रतिषेध्य है।

देखो, शब्द शृज्ञानरूप ज्ञान, नवतत्त्व की श्रद्धारूप दर्शन तथा छहनिकाय की दया के भावरूप चारित्र - इसप्रकार तीनों के रहते हुए भी आत्माश्रित निश्चय सम्पर्कदर्शन-ज्ञान-चारित्र होने का नियम नहीं है, इसकारण वे तीनों ही प्रकार वा व्यवहार निषेध करने लायक है।

जो निश्चय के वास्तविक साधन तो नहीं हैं, किन्तु उसके सहचर आदि हैं, इसकारण उन्हें उपचार से व्यवहार कह दिया जाता है। देखो, पहले कहा था कि ‘स्वाभिको निश्चय: पराशिको व्यवह:’ वहाँ निर्देश स्वाभिक होने से सत्यार्थ व व्यवहार पराशिक होने से असत्यार्थ है। अब कहते हैं कि जिसके
निश्चय होता है, उसके व्यवहार तो होता ही है, पर जिसके व्यवहार हो उसके निश्चय होने का कोई नियम नहीं है अर्थात व्यवहार निश्चय का नियामक कारण नहीं है; क्योंकि अभिव्य ने अनंतबार व्यवहार का पालन किया, पर उन्हें निश्चयधर्म प्रगट नहीं हुआ। अतः वह वस्तु: कारण ही नहीं है, मात्र सहारे होने से उसे उपचार से कारण कहा गया है। अतः व्यवहार प्रतिष्ठेय है।

जिसको 'स्व' के आश्रय से आत्मज्ञान होता है, उसे उस काल में शब्दशुद्ध आदि व्यवहार होता है। जबतक पूर्ण वीरागता नहीं हुई हो - ऐसी साधकदशा में आत्मा का ज्ञान, आत्मदर्शन व आत्मा का चारित्र हो, तब उसके साथ शब्दशुद्ध आदि व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र का राग होता है। ऐसा राग भाविलंगी मुनिराज के भी होता है, परतु यहाँ यह कहते हैं कि इस राग के आश्रय से निश्चय-सम्प्रदाशन-ज्ञान-चारित्र नहीं होता। निश्चयधर्म व्रत-तप आदि व्यवहार के आश्रय से प्रगट नहीं होता, स्वस्वरूप के आश्रय से ही प्रगट होता है। इसलिए व्यवहार प्रतिष्ठेय है।

भाई! जैनदर्शन बहुत सूक्ष्म है। बापू! अन्तर भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध नित्यनद्रय एक ज्ञाक्षरारूप परमपारिशिक्षाबाह्य से नित्य विराजमान है, वह ही सम्प्रदाशन का विषय व ध्येय है। इस पूर्ण परमात्मा का दर्शन ही जैनदर्शन है।

शुद्ध आत्मा का ज्ञान, शुद्ध आत्मा का दर्शन, शुद्ध आत्मा का चारित्र-शुद्धत्रत्रय - ये ही मोक्ष का मार्ग है, अतीतदिन शुद्धरूप आनंद की दशा है। तथा व्यवहारत्रत्रय का विकल्प दुःख का वेदन है। यदि कोई ऐसा कहे कि ज्ञानी के तो दुःख का वेदन होता ही नहीं है तो उसका यह कहना या सोचना ठीक नहीं है, बात भी ऐसी नहीं है। भगवान केवल को ही पूर्ण सुख की दशा है तथा अज्ञानी के अकेले दुःख ही दुःख है, सुख नहीं है। जबकि साधक को जो शुद्धत्रत्रय है, वह सुख की दशा है एवं जो व्यवहारत्रत्रय है, वह दुःख के वेदनरूप है।
समयसार गाथा २७६-२७७

‘दुःख व दृष्टि के विषय की अपेक्षा से ज्ञान को साधक अवस्था में भी राग नहीं है, दुःख नहीं है’ – ऐसा जो कहा जाता है, वह अपेक्षा जुदी है; पर ज्ञान की अपेक्षा से किंचित् राग है तथा जितना राग है, उतना दुःख का वेदन भी है। प्रवचनसार के नय अधिकार में आया है कि – आत्मचर्य कर्तृनय से रागादि का कर्ता है। तथा भोक्तृनय से रागादि का भोक्ता भी है।

अहा ! जबतक पूर्ण वीतरागता न हो, तबतक भले ही शायक समकक्ति हो, मुनिवर हो, गणधर हो, या छवास्थ तीर्थकर हो; उन्हें किंचित् राग व राग का वेदन होता है। साधक को चौथे, पाँचवें व छठवें आदि गुणस्थानों के पूर्व आनन्द की दशा नहीं है। अतीत्रिय आनन्द की अपूर्ण दशा है तथा साथ ही किंचित् राग व राग का वेदन भी होता है। साधक को चौथे, पाँचवें, छठवें आदि गुणस्थानों में पूर्ण आनन्द की दशा नहीं है। अतीत्रिय आनन्द की अपूर्ण दशा है। तथा साथ में किंचित् राग का – दुःख का वेदन भी है।

देखो, आचार्य अमृतचन्द ने तीसरे कलश में जो कहा है, उससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान के अतीत्रिय आनन्द के वेदन के साथ रागादिरुप कलेश का परिणाम भी वर्तता है।

अन्तर में प्रत्युर अतीत्रिय आनन्द का वेदन करते हुए छठवें–सातवें गुणस्थान में झुलने वाले आचार्य यह कहते हैं कि मुझे जो रागादि कलेश का परिणाम वर्तता है, उससे मेरी परिणति मैली हो रही है, रागादिरुप हो रही है। यहाँ जितना करुणाभाव है, उतना दुःख का वेदन भी है। पूर्ण आनन्द की दशा नहीं है।

इसप्रकार पंचपरमेष्ठी पद में विराजमान आचार्य कहते हैं कि प्रत्युर अतीत्रिय आनन्द की दशा के साथ जो किंचित् राग की – दुःख की दशा है, वह व्यवहार है और वह हेय है, प्रतिषेध्य है।

भाई ! जो लोग दुकान, धंधा–व्यापार में तथा स्त्री–कुटुम्ब–परिवार के भरण–पोषण व राग–रंग में पड़े हैं, वे तो पाप में ही पड़े हैं, उनका तो निषेध है ही; किन्तु जो शब्दशृंखल ज्ञानरूप व्यवहारज्ञान, नवतत्त्व के भेदरूप व्यवहार...
श्रद्धान तथा छह जीवनिकाय की आहिंसारूप व्यवहारचारित्र है, वह पुण्यभाव भी निषेध्य है; क्योंकि उसे मोक्ष के कारणरूप निर्मल रत्नत्रय का आश्रयपना नहीं है। जिसको ‘स्व’ के आश्रय से - एक ज्ञयकभाव के आश्रय से - निष्क्रयपन ग्राह हुआ है, उसे व्यवहार होता तो अवश्य है; परंतु जिसको निष्क्रयरत्नत्रय नहीं है, जो निष्क्रयन रहित है उसका व्यवहार बसूत: व्यवहार ही नहीं है। तात्त्व में यह है कि व्यवहार के आश्रय से निष्क्रय प्राप्त नहीं होता। यद्यपि ज्ञानी के यह व्यवहार होता है, पर हेयपन होता है। तथा स्वभाव के आश्रय से वह उसका प्रतिषेध भी करता है।

यहाँ यही कहा है कि निष्क्रयन व्यवहारनय का प्रतिषेध प्रक्ष है; क्योंकि शुद्ध आत्मा को ज्ञान आदि का आश्रयपना एकान्तिक है। यहाँ कहते हैं कि शुद्ध आत्मा को ज्ञान आदि का आश्रय एकान्तिक है अर्थात् शुद्ध आत्मा को ज्ञानादि का आश्रय मानने में व्यभिचार नहीं है, दोष नहीं है; क्योंकि जहाँ शुद्ध आत्मा होता है वहाँ शुद्ध ज्ञान-दर्शन-चारित्र होता ही है। इसके निपत्तं शुद्ध तत्वभूत आत्मा का आश्रय होता है वे ज्ञान-दर्शन-चारित्र-निर्मल सत्यार् ही हैं, इनमें व्यभिचार नहीं है; तथा जिसमें पर का - श्रुत का, नवतत्वो का व छहजाति - निकाय का आश्रय होता है, वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र असत्यार् है, उसमें व्यभिचार आता है; क्योंकि पर आश्रय से तीन काल में भी निर्मल रत्नत्रय नहीं होता।

प्रश्न - तत्त्वार्थसूत्र में तो ‘सम्प्रदर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षपार्ग:’ कहकर पहले दर्शन की बात कही। और यहाँ पहले ज्ञान कहकर फिर दर्शन चारित्र की बात की - ऐसा क्यों निर्देशित किया था?

उत्तर - यहाँ ज्ञान को मुख्य इस कारण सूत्र में ज्ञान ज्ञानादि के आश्रय से है। ज्ञान स्वयं को प्रथम भी जानता है तथा दर्शन चारित्र की पर्याय को भी जानता है, जबकि दर्शन की पर्याय स्वयं को भी नहीं जानती तथा ज्ञान व चारित्र को भी नहीं जानती।

शुद्ध चिद्द्रूप चैतन्य रसकंद प्रभु आत्मा के आश्रय से जो ज्ञान की पर्याय हुई, वह दर्शन को जानती है, चारित्र को जानती है तथा निराकुल आनन्द के
वेदन को भी जानती है। इसप्रकार ज्ञान की स्वप्न को जानने की अद्भुत सामर्थ्य है। इसलिए ज्ञान को प्रथम कहकर बाद में दर्शन व चारित्र को लिया है।

जब आचारांगादि शब्दश्रुत भी एकांतत: ज्ञान के आश्रय नहीं हैं, साक्षात् दिव्यधनि के सारे रूप ‘शब्दश्रुत’ का ज्ञान भी सम्प्रदाय का कारण नहीं है। तात्पर्य यह है कि जब मोक्ष का कारणभूत सम्प्रदाय वस्तुतः केवली कथित शब्दश्रुत के आश्रय से भी नहीं होता, तो कल्पित शास्त्रों का ज्ञान अथवा लौकिक ज्ञान की तो कथा ही क्या है? लौकिक ज्ञान व कल्पित शास्त्र तो निरा पापबंध के ही कारण हैं। यहाँ तो सच्चे शास्त्रों के ज्ञान को भी जब पुण्यभाव होने से एकांतत: आत्मज्ञान का हेतु नहीं माना गया है तो अन्य की तो बात ही क्या है।

देखो न! अभ्यों को शास्त्रश्रुत में ग्यारह अंग तक का ज्ञान है, फिर भी शुद्ध आत्मा का आश्रय नहीं होने से कभी भी सम्प्रदाय नहीं होता।

जिसतरह शकरकान्द के ऊपर की छाल न देखो तो अन्दर पूरा का पूरा शकरकान्द मिठास का ही पिण्ड है; ठीक उसीतरह भगवान आत्मा द्वारशांगरूप शास्त्रश्रुत के विकल्प से भिन्न, व्यवहारश्रुत के विकल्प से पार अन्तर अकेला ज्ञान का घनपिण्ड शुद्ध ज्ञानमय है।

भाई! यह त्रिकोलीनाथ सीमधर्म भगवान के श्रीमुख से निकली बात है। सीमधर्म परमात्मा वर्तमान में महाविद्वान क्षेत्र में अरहंत अवस्था में मोजूद हैं। उनकी आयु एक करोड़ पूर्व की है, जो इतनी लम्बी है कि वे २००० तीर्थकर मुनिसुब्रतनाथ के समय से हैं और आगमी चौबीसी के जब यहाँ १३वें तीर्थकर होंगे तबतक रहेंगे, उसके बाद उनका मोक्ष होगा। भगवनु कुमकुनङ्गार्थ संवत ४९ में वहाँ सीमन्धर समोशरण में गये थे। आठ दिन वहाँ रहे थे। वहाँ से आकर समयसार शास्त्र की रचना की है। उस समयसार शास्त्र में यह कहा है कि चिद्भ्रंश चिदानन्द स्वरूप अपने भगवान आत्मा का जवतक आश्रय नहीं है, तबतक चारित्र नहीं है। भले ही वह छहकार्य के जीवों की दया का पालन करे, पंचमहाब्रह्मान्त व्यवहार पाले; परन्तु यह कोई चारित्र का आश्रय नहीं है, इससे चारित्र प्रगट नहीं होता।
इसप्रकार व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र सत्यार्थ दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं है - ऐसा कहा है।

देखो, अब सत्यार्थ कथन करते हैं, कहते हैं कि सम्प्रदाय का शुद्ध आत्मा ही एक आश्रय है। 'शुद्ध आत्मा ही' कहकर अन्य सभी प्रकार के व्यवहार आश्रयों को प्रथम कर दिया है। यही सम्प्रदायकान्त है।

देखो, चार अनुयोगों का तात्पर्य एक वीर्यात्मक है। ज्ञान की पर्याय जब शुद्ध आत्मा के आश्रय से भगवान आत्मा का ज्ञान करती, तो वीर्यात्मक प्रगट होती है। ज्ञान-शरीर-मन-वाणी व इन्द्रियों से तो होता नहीं है; क्योंकि वे सब तो रूपी, जड़, पुद्गल हैं तथा भगवान आत्मा का ज्ञान अरुपी चैतन्यमय है तथा पुण्य-पाप के विकल्पों से भी ज्ञान नहीं होता; क्योंकि वे विकल्प भी जड़ स्वभावी हैं। चारों अनुयोगों के पढ़ने से भी आत्मा का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वे सब परलक्ष्य हैं। जब दिशा पतले व अंदर 'स्व' में लक्ष्य करके स्वरूप को जानने में प्रवृत्त करें तब आत्मा का ज्ञान होता है। वही सम्प्रदाय है।

प्रश्न - यह तो सब ठीक है, पर जब काललिङ्ग होगी तभी सम्प्रदायदर्शन होगा न?

उत्तर - हाँ, यह सत्य है, पर काललिङ्ग भी उसी समय होती है, जब अपने त्रिकाली धृत स्व-स्वभावी एक ज्ञात्मक स्वरूप भगवान आत्मा को ध्येय बनाया; उसी समय - (१) स्वभाव का आश्रय हुआ (२) काललिङ्ग आ गई (३) वर्तमान पर्याय का पुरुषार्थ हुआ तथा (४) कर्मों का उपशम आदि भी उसी समय हो जाते हैं तथा (५) होने योग्य सम्प्रदाय की पर्याय होने से भवित्व्य या होनाहर भी आ ही जाता है। इसप्रकार एक ही साथ पांचों समवाय मिलते ही हैं और कार्य होता ही है। जब कार्य होता है, तब पांचों समवाय एकसाथ मिलते ही मिलते हैं।

तीसरी चारित्र की बात है। इसकी चर्चा पहले भी की जा चुकी है। शुद्धात्मा ही चारित्र का आश्रय है; क्योंकि छह जीवनिकाय के सद्भाव में या असद्भाव में शुद्धात्मा के सद्भाव से ही चारित्र का सद्भाव है।
देखो, जिसे मोक्ष का कारणभूत चारित्र कहा जा सकता है, उसका आश्रय तो एकमात्र शुद्धात्मा ही है, छह जीवनिकाय की रक्षा नहीं। शुद्धात्मा में जमना, रमना, ठहरना, स्थिर होना ही चारित्र है।

अरे भाई! शुभभाव की- राग की दिशा पर तरफ की दिशा है, जबकि चारित्र की दिशा स्वर तरफ की दिशा है। जब दो परस्पर विरुद्ध दिशायें हैं तो दोनों धर्म कैसे हो सकते हैं? एक-दूसरे की पूरक भी कैसे हो सकती हैं? राग में से वीतरागता कैसे हो? राग में अर्थात् दुःख में रहते अतीन्द्रिय सुख कैसे प्रकट हो? बापू! अतीन्द्रिय सुख के सागर विदानन्दणन भगवान आत्मा के आश्रय से ही अतीन्द्रिय सुख प्रगट होता है।

भाई! दुनिया तो ऐसा मानती हैं कि पर जीवों को नहीं मारना ही अहिंसा है। पर वास्तविकता यह है कि अपने आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है और तत्त्वज्ञान के आश्रय से आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति न होने देना ही सच्ची अहिंसा है। अहा! आनंद के नाथ में रमणता करने का नाम ही चारित्र है। भावार्थ यह है कि पराश्रय से तीनकाल में भी सम्यगदर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट नहीं होता। पराश्रय के परिणाम से काललब्धि भी नहीं होती।

अरे भाई! जो कुछ करना है, वह सब अंतरंग में ही करना है, अपने आत्मा में ही करना है। और आत्मा में भी क्या करना है, कुछ भी नहीं। मात्र आत्मा को जानना है, उसी का शर्दुल करना है एवं उसी में स्थिर होना है, जमना है। इसके सिवाय आत्मा में भी कुछ नहीं करना है।

इसीलिए तो कहते हैं कि समस्त ही व्यवहार निःशेध करने लायक हैं; क्योंकि वह सब बन्ध का ही कारण है।

अहा! जिसके ज्ञान में शुद्धात्मा आ गया, दर्शन में शुद्धात्मा आ गया तथा शुद्धात्मा में ही रमणता हो गई; उसे शुद्ध ज्ञान-दर्शन-चारित्र होता ही है। इसकारण निःशचन्य व्यवहार का निःशेधक है और व्यवहार निःशेध्य है। जब व्यवहारनय निःशेध्य ही हो गया तो फिर व्यवहार से निःशचन्य होता है - यह बात ही कहाँ रही?
अतः ऐसा ही समझना कि एक शुद्ध ज्ञातकस्वरूप भगवान आत्मा ही आश्रय करने योग्य है।

(उपजाति)
रागादयो बंधनिदानमुक्ताः-
स्ते शुद्धचिन्मात्रमहोत्तिरिक्त:।
आत्मा परो वा किमु तत्त्रिनित्ति -
मिति प्रणुन्ता: पुनरेवमाह:॥ १७४॥

अब आगामी कथन का सूचक काव्य कहते हैं: -

एलोकार्थ: - "[रागादय: बंधनिदानम् उत्का: ] रागादि को बंध का कारण कहाँ और[ ते शुद्ध-चिन्मात्र-मह - अतिरिक्ता: ] उन्हें शुद्धचेतन्य्मात्र ज्योति से (अर्थात् आत्मा से) भिन कहा, [ तद्-निमित्तम् ] तब फिर उस रागादि का निमित[ किमु आत्मा वा पर: ] आत्मा है या कोई अन्य?" [इति प्रणुन्ता: पुन: एवम् आहु: ] इसप्रकार (शिष्य के) प्रश्न से प्रेषित होते हुए आचार्यभगवान पुन: इसप्रकार (निम्नप्रकार से) कहते हैं ॥ १७४॥

१७४वें कलश पर प्रवचन

इस कलश में अगले कथन की सूचना है। यहाँ प्रश्न उठाया है कि भगवान! आपने राग को बंध का कारण कहा - आचार्यांग आदि का ज्ञान, देव-गुरु-शास्त्र की तथा नवपदार्थों की श्रद्धा, तथा छह्निकाय के जीवों की दया का विकल्प आदि सभी प्रकार के व्यवहार को बंध का कारण कहा तथा आपने यह भी कहा कि - रागादि आत्मा से भिन हैं, राग आत्मा का है ही नहीं; तो फिर इस आत्मा को बंध क्यों होता है, किसप्रकार होता है?

रागादि को शुद्ध चेतन्य्मात्रज्योति से भिन कहते हो, तब रागादि उत्पत्त होने का निमित्त अथवा कारण कौन है? क्या शुभाशुभ राग का कारण आत्मा है कि अन्य कोई है?
समयसार गाथा २७८-२७९

इसी प्रश्न के उत्तर में अगली गाथा का अवतार हुआ है।

जह फलिहमणी सुद्रो ण सवं परिणामदि रागादीहि ||
रंगिज्जज्जदि अणोहि तु सो रत्तादीहि दवेरहि || २७८
एवं णाणी सुद्रो ण सवं परिणामदि रागादीहि ||
राज्जज्जदि अणोहि तु सो रागादीहि दोसेरहि || २७९

यथा स्फटिकमणि: शुद्रो न स्ववं परिणामते रागादि: ||
रज्जज्जज्जयस्तु स रागादिभिद्रव्यः || २७८
एवं ज्ञानी शुद्रो न स्ववं परिणामते रागादि: ||
रज्जज्जज्जयस्तु स रागादिभिद्रव्यः || २७९

यथा खलु केवल: स्फटिकोपलः, परिणामस्वभाववतेच सत्यपि, स्वस्य शुद्र स्वभावतेन रागादिनिरिविवाभाववत् रागादिभिः: स्ववं न परिणामते, परद्र्स्थ्वेैैव स्ववं रागादिभावन्यतः रागस्य रागादिनिरिविवृहृतैंन, शुद्रस्य भावायाय्यवमान एव, रागादिभिः: परिणाम्यते; तथा केवलः किलात्मा, परिणामस्वभाववतेच सत्यपि, स्वस्य शुद्रस्य भावातेन रागादिनिरिविवाभाववत् रागादिभिः: स्ववं न परिणामते, परद्र्स्थ्वेैैव स्ववं रागादिभावन्यतः रागस्य रागादिनिरिविवृहृतैंन, शुद्रस्य भावायाय्यवमान एव, रागादिभिः: परिणाम्यते।

इति तावद्वस्तुस्वभावः।

उपरोक्त प्रश्न के उत्तररूप में आचार्यदेव कहते हैं :-

ज्ञों लालिमामय स्ववं परिणात नहीं होता फटकमणि।
पर लालिमायु द्र्थ्व के संयोग से हो लाल वह || २७८
त्यों ज्ञानिन्म रागादिमय परिणात न होते स्ववं ही।
रागादि के ही उदय से वे किए जाते रागमय || २७९

अन्य रक्षादि द्वारा से संस्करण रक्त (लाल) आदि किया जाता है, एवं इसी प्रकार ज्ञानी ज्ञानी अर्थात् आत्मा शुद्ध होने से रागादिरूप स्वर्ण अपने आप न परिपत्र मरण कर नहीं है तथा परम अन्य रागादिरूप दोष जसे संस्करण रागी आदि किया जाता है।

टीका - जैसे वास्तव में केवल (अकेला स्फटिकमणि, स्वर्ण परिपत्र स्वभाववाला होने पर भी अपने को शुद्धस्वभावत्व के कारण रागादि का निमित्तव से होने से (स्वर्ण अपने लाल आदि रूप परिपत्र का निमित्तव से होने से) अपने आप रागादिरूप नहीं परिपत्र करता, किन्तु जो अपने आप रागादिरूप को प्राप्त होने से स्फटिकमणि के रागादि का निमित्त होता है ऐसे परद्रव्य के द्वारा ही, शुद्धस्वभाव से चुरु होता हुआ, रागादिरूप परिपत्रित किया जाता है; इसी प्रकार वास्तव में केवल (अकेला) आत्मा, स्वर्ण परिपत्र स्वभाववाला होने पर भी, अपने शुद्धस्वभावत्व के कारण रागादि का निमित्तव से होने से (स्वर्ण अपने को रागादिरूप परिपत्र का निमित्तव से होने से) अपने आप ही रागादिरूप नहीं परिपत्र करता, परम जो अपने आप रागादिरूप को प्राप्त होने से आत्मा को रागादि का निमित्त होता है ऐसे परद्रव्य द्वारा ही, शुद्धस्वभाव से चुरु होता हुआ ही, रागादिरूप परिपत्रित किया जाता है। - ऐसा वस्तुस्वभाव है।

भावार्थ - स्फटिकमणि स्वर्ण तो गत्र एकाकार शुद्ध ही है; वह परिपत्र स्वभाववाला होने पर भी अकेला अपने आप लाल-आदि रूप नहीं परिपत्र करता किन्तु लाल आदि परद्रव्य के निमित्त से (स्वर्ण लाल आदि रूप परिपत्र ऐसे परद्रव्य के निमित्त में) लाल-आदि रूप परिपत्र पर ईशी प्रकार आत्मा स्वर्ण तो शुद्ध ही है; वह परिपत्र स्वभाववाला होने पर भी अकेला अपने आप रागादिरूप नहीं परिपत्र परतु रागादिरूप परद्रव्य के निमित्त से (अर्थात स्वर्ण रागादिरूप परिपत्र करने वाले परद्रव्य के निमित्त से) रागादिरूप परिपत्र है। ऐसा वस्तु का ही स्वभाव है, उसमें अन्य किसी तर्क को अवकाश नहीं है।
गाथा २७८-२७९, टीका पर प्रवचन

dेखो, निर्मल स्वभाव वाला स्फटिक मणि अकेले अपने कारण ही लालिमा आदि रूप नहीं होता; किन्तु परद्रव्य का संसर्ग होने से यानि लाल-पीले फूल के संसर्ग से उसमें लाल-पीली झाँझ होती है। तथा उसमें जो लाल-पीली झाँझ पड़ती है, वह मात्र लाल-पीले फूल के कारण भी नहीं हुई है। यदि वह स्फटिक की झाँझ लाल-पीले फूलों के संसर्ग से ही हुई हो तो लाल-पीले फूलों के संसर्ग से लकड़ी में भी लाल-पीली झाँझ पड़नी चाहिए। पर ऐसा तो होता नहीं है; क्योंकि लकड़ी की वैसी योग्यता ही नहीं है। मात्र स्फटिक में ही वैसी योग्यता होती है, अतः स्पष्ट है कि यह लाल-पीले रूप होना स्फटिक की ही अपनी पर्यायथा योग्यता है।

प्रश्न – टीका में तो स्पष्ट लिखा है कि ‘परद्रव्य के द्वारा ही शुद्ध-स्वभाव से चुनू होता हुआ, रागादि रूप से परिणामित किया जाता है।’

उत्तर – हाँ, लिखा है, परन्तु यह तो निमित्त की भाषा है, निमित्त सापेक्ष कथन है। वास्तव में तो स्फटिक मणि स्वयं अपनी वर्तमान योग्यता से एवं परद्रव्य के निमित्त से लालिमारूप परिणामित होता है। निमित्त की अपेक्षा लाल-पीले फूलों को कारण कहा जाता है। वस्तुतः निमित्त ने उसमें कोई विलक्षणता नहीं की।

यह तो दृष्टान्त कहा, अब इसी दृष्टान्त से आत्मा का स्वरूप समझाते हैं।

देखो, अकेला आत्मा शुद्ध वैतन्यपन प्रभु अपने कारण रागादिरूप परिणामित नहीं होता; क्योंकि स्वयं त्रिकाली शुद्ध एक ज्ञातक-स्वभावपने के कारण रागादि का निमित्तपना या कारणपना नहीं है। आत्मा स्वयं पर्यायरूप से बदलने के स्वभाववाला होते हुए भी शुद्धस्वभावपने से उसमें रागादि विकार का कारणपना नहीं होने के कारण अकेले अपने कारण रागादि विकार रूप नहीं परिणामित।

यह बात सुनकर पढ़कर कुछ निमित्ताधीन दृष्टि रखनेवाले पण्डित यह कहते हैं भक्ति तो हम कहते हैं कि कार्य निमित्त तो ही होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com
उनका समाधान यह है कि - निमित्त होता तो अवश्य है, परन्तु निमित्त पर में (उपादान में) कुछ करता नहीं है। जिसप्रकार अग्निरूप निमित्त ईर्ष्ण का जलाने में निमित्त तो है, पर कर्ता नहीं। ईर्ष्ण में स्वयं जलाने की योग्यता न हो तो अग्नि उसे नहीं जला सकती। जिसप्रकार अभ्रक में जलाने की योग्यता नहीं है तो अग्नि उसे नहीं जला पाती। यदि अग्नि जलाने का कार्य करने में समर्थ हो तो अभ्रक (भोडल) को भी जला देना चाहिए। उसीप्रकार शुद्ध आत्मा का आश्रय होने पर दृष्टि, ज्ञान व रमणता में व्यवहार का राग निमित्त होता है; परन्तु उस निमित्त या राग ने यहाँ निश्चय सम्पदर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति में कुछ किया हो - ऐसा नहीं है। जिसप्रकार ईर्ष्ण अपने ज्वलनशील स्वभाव से ही जलता है और अग्नि उसमें अग्नि की निमित्तता होती है, उसीप्रकार उपादान में सम्पदर्शन-ज्ञान-चारित्रकृपा कार्य अपनी उपादाननगत योग्यता से होता है और सच्चे देव-शास्त्र-गुरू उसमें निमित्त होते ही हैं, वे उसमें कुछ करते नहीं हैं। ऐसा ही सहज निमित्त-नैतिक सम्बन्ध है।

निमित्त का यथार्थ ज्ञान करने के लिए यहाँ यह कहा जा रहा है कि भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्दन प्रभु निमित्तकारण के अभाव में अकेला स्वयं राग-द्वेषरूप परिणमन नहीं करता; किन्तु आत्मा जब अपने अशुद्ध उपादान से स्वयं रागरूप परिणमत है, तब कर्म का रागरूप उदय नियम से निमित्त होता ही है। बस, इसीकारण यह कहा है कि आत्मा परदर्श्य के द्वारा ही रागदिरूप परिणमत है।

पण्डित फूलचंदजी सिद्धांतशास्त्री ने भी अपनी जैनतत्त्वीयमांसा में यही अर्थ किया है। वे लिखते हैं दो गुण अभिक परमाणु का अर्थात् चार गुण वाले व दो गुण वाले परमाणुओं का स्थाय रहता है। तब उन चार गुण वाले परमाणुओं द्वारा दूसरे दो गुण वाले परमाणु को चार गुणवाला परिणामत है। इसका अर्थ ही यह है कि दो गुणवाला परमाणु चार गुणवाले परमाणु के निमित्त से स्वयं चार गुणपने परिणामत है। और तब निमित्त से परिणामत है या निमित परिणामत है - ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। भगवान आत्मा अनन्तगुणों का पिण्ड, परमपविवर्त, त्रिकाल शुद्ध, पूर्ण वीरागस्वभावी है। कोई गुणवस्तवाव
समयसार गाथा २७८-२७९

इसमें ऐसा नहीं है कि स्वत : आपने से विकाररूप से परिणमित हो; किन्तु पर्याय में कर्म के निमित्त से वह रागादिरूप होता है। अतः वह पदर्वण्ड्य द्वारा परिणमित होता है - ऐसा कहा जाता है। पर्याय में विकार स्वरूप के निमित्त से नहीं होता; किन्तु पदर्वण्ड्य के निमित्त से होता है; इसलिए पदर्वण्ड्य के द्वारा ही रागादिरूप परिणमत है - ऐसा व्यवहार से निमित्त की मुख्यता के अपेक्षा से कहा जाता है। वस्तुतः देखा जाता है कि उस समय जीव को रागादिरूप अवस्था जितनी शर्म और ज्ञानकारी रीति का ही होता उसी स्वरूप का ही जन्मावस्था हो जाता है, पर्याय तो फिर भी निमित्तमात्र ही है। पर ने उसे रागादिरूप परिणमाया नहीं है।

प्रश्न - इस कोरे बौद्धिक व्यायाम में धर्म सम्बन्धी क्या लाभ है? छोड़ो न इन व्यर्थ की बातों को?

उत्तर - अरे भाई! ये व्यर्थ की बातें नहीं हैं, इसकी यथार्थ समझ से ही धर्म होता है। देखो, भगवान आत्मा शुद्ध एक ज्ञानान्दरस्वरूप स्वरूप त्रिकाली ध्वु ता है। यदि हम अपने उस ध्वु आत्मा में अपने उपयोग को ले जाते, उस और अपनी दृष्टि करे तो वह विकाररूप नहीं होता, किन्तु निर्मल-निर्विकार रूप परिणमित होता है, जो कि साक्षात्क धर्म है। अन्तर्दृष्टि रूप परिणमित होना ही तो धर्म है न? परन्तु वर्तमान दशा में हम पर का लक्ष्य कर के परिणमित हो रहे हैं, इससे हमारी परिणति रागादिरूप हो रही है। इससमय हमारी स्वरूप की योग्यता ही ऐसी है, जो पर का लक्ष्य करके विकारी हो रही है। इसमें पर का या कर्म का कोई दोष नहीं है। फिर भी परलक्ष्यी होने से पर के ऊपर आरोप तो आता ही है, व्यवहार से ऐसा कहा भी जाता है कि पर ने विकार कराया अथवा कर्मदय से विकार हुआ। परन्तु यह सब उपचार कथन है।

यह तो तीसरी गाथा में भी आया ही है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूटा भी नहीं है। प्रत्येक पदर्वण्ड्य अपने द्रव्य में रहकर अपने अन्त धर्म के चक्र को चूमता है; परन्तु पदर्वण्ड्य को कभी भी स्पर्श नहीं करता।

देखो, यह हाथ में लकड़ी है न? यह हाथ की लकड़ी हाथ का स्पर्श नहीं करती। देखो, ये दो अंगुली जो एक-दूसरे पर चढ़ी हैं, परस्पर मिल रही हैं, ये भी एक-दूसरे का स्पर्श नहीं कर रहीं, क्योंकि एक में दूसरे का अभाव है।
प्रश्न - इस बात को सुनकर/पढ़कर लोग कहते हैं कि प्रत्यक्ष एक-दूसरे की स्पर्श करते दिखाई दे रहे हैं, फिर आप ऐसा कैसे कह सकते हैं?

उत्तर - भाई! तुझे संयोग दिखाई देते हैं। तू संयोगूण को देखता है।

इसकारण ऐसा जानता है, मानता है। वस्तुतः यदि स्पर्श करूँ तो दोनों एक हो जायेंगे।

ऐसी चर्चा पहले एक बार हो चुकी है। उस बात में जलते हुए तिनकों
को अभिने स्पर्श ही नहीं किया - ऐसा स्पष्ट किया था। अभिने के परमाणुओं
ने तिनके के परमाणुओं को छुआ ही नहीं। अरे, वे तिनके के परमाणु तो अपनी
तत्समय की योग्यता से स्वयं ही अग्रनिरूप हुए हैं। उसके जलने में बाहर की
अभिने तो निमित्तमात्र है। इसीतरह, दूसर स्वयं अपनी योग्यता से दही रूप हुआ
है, बाहर का जामन का दही तो निमित्तमात्र है, जामन के दही ने दूसर में कुछ
भी नहीं किया।

ठीक इसीप्रकार आत्मा में जो विकार होता है, वह उसकी अपनी तत्समय
की पर्यायगत योग्यता से होता है, परद्रव्य-कर्म तो उसमें निमित्तमात्र है। निमित
उसमें कुछ करता नहीं है। यदि निमित्त पर में कुछ करे तो निमित्त व वह
परवस्तु, जिसमें निमित्त ने कुछ किया है - दोनों मिलकर एक हो जाना चाहिए।
और ऐसा कभी होता नहीं है। इसप्रकार आत्मा अपनी तत्कालीन योग्यता से
ही पर्याय में रागादिरूप से परिणमत है और परद्रव्य की उससमय उसमें निमित
रूप से उपस्थित होती है।

गाथा २७८-२७९ के भवाव पर प्रवचन

देखो, पहले उदाहरण देकर यह सिद्ध करते हैं कि विकार कैसे होता है।
स्फटिकमणि स्वयं स्वभाव से तो शुद्ध ही है। इसकारण वह अकेला अपने से
तो लालिमारूप कभी परिणमत ही नहीं है, परन्तु जब लाल या पीला फूल
हो तो उसके निमित्त से एवं अपनी स्वभावगत योग्यता से वह लाल-पीलेलूप
परिणमत है। यद्यपि स्फटिक अपनी वर्तमान पर्याय की योग्यता से ही लाल-
पीला आदिरूप परिणमता है तथापि परद्रव्यरूप फूल आदि उसमें नियम से निमित्तरूप होते हैं। यह तो समझने हेतु दृष्टान्त कहा।

इसीप्रकार आत्मा स्वभाव से परमपवित्र सचिवालय-स्वरूप प्रभु शुद्ध शाश्वत् है। वह परिणमन्स्वभाववाला होने पर भी अकेला अपने से ही रागादिरूप परिणमें ऐसा तो संभव नहीं है; क्योंकि आत्मा में ऐसा कोई गुण या शक्ति ही नहीं है कि जिसके कारण उसमें विकार हो। परन्तु परद्रव्यरूप जड़कर्मों के उदय के निमित्त से जीव रागादिरूप से परिणमित होता है। ऐसा वस्तु का ही स्वभाव है, उसमें अन्य किसी तरक की गुंजाइश नहीं है।

यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि जब आत्मा में ऐसी कोई शक्ति या गुण ही नहीं है कि वह स्वतः से रागरूप परिणमे तो इससे स्पष्ट है कि आत्मा में विकार के कारण एकमात्र कर्मरूप निमित्त ही हैं। अन्यथा आत्मा तो त्रिकाल शुद्ध ही है।

इसका समाधान इसप्रकार है कि जिसतरह पूर्वक स्फटिक के उदाहरण में फूल का संयोग स्फटिक को ही लाल-पीला करता है, लकड़ी को नहीं। यदि फूल ही लाल-पीला करता हो तो जिससे भी उसका संसर्ग हो, उसे लाल-पीला होना चाहिए। चाहे वह लकड़ी हो या पत्थर, पर ऐसा नहीं होता। केवल स्फटिक ही उससे प्रभावित होता है। इससे स्पष्ट है कि जिसमें स्वयं की तत्त्वज्ञ की वैसी योग्यता हो उसे ही परद्रव्य अपनेरूप परिणाम सकता है, सबको व सब काल में नहीं। अतः वह परद्रव्य तो निमित्तमात्र हुआ। कार्य तो उपादानगत तत्त्वमाय की योग्यता से ही हुआ है। इसप्रकार आत्मा धैर्यशृंगि प्रभु स्वयं तो शाश्वत शुद्ध है। उसमें वर्तमान दशा में जो ग्रह-मुख, काम-क्रोध, मान-मत्सर, लोभादि भाव होते हैं, वे सब उसकी वर्तमान पर्याय की योग्यता के जन्मक्षण-उत्पत्तिक्षण से हुए हैं। और उनमें कर्मों का उदय अवश्य है, परन्तु वे कर्म जीव में विकार करें - ऐसी योग्यता कर्मों में नहीं है।
कलश १७५ पर प्रवचन

देखो, यहाँ सूर्यकान्तमणि का दृष्टांत देकर आत्मा के विकारी परिणमन की प्रक्रिया को समझा रहे हैं। कहते हैं कि जिसतरह सूर्यकान्तमणि अकेला स्वयं अपने आप अग्नि रूप नहीं परिणामता, वैसे उसके अग्नि रूप परिणम में सूर्य का बिम्ब निमित्त्वृत्त है। यद्यपि सूर्य के कारण भी सूर्यकान्तमणि में अग्नि नहीं होती; तथापि सूर्य सूर्यकान्तमणि को अग्नि रूप होने में निमित्त अवश्य है। ऐसा ही दोनों का सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

यदि सूर्य को अग्नि का उत्पादक मानने तो अन्य साधारण पत्थर में भी सूर्य से अग्नि उत्पन्न हो जाना चाहिए और सूर्य के बिना ही सूर्यकान्तमणि में अग्नि का उत्पाद मानने तो रात्रि के काल में जब सूर्य नहीं उगा, तब भी सूर्यकान्तमणि में अग्नि उत्पन्न होते रहना चाहिए; पर ऐसा कभी नहीं होता। अत: स्पष्ट है कि सूर्यकान्तमणि में सूर्य की निमित्तता के बिना अग्नि की उत्पत्ति नहीं होती।

तात्पर्य यह है कि सूर्यकान्तमणि जो अग्नि रूप होता है, वह अपनी उस समय की पर्यायगत योग्यता से होता है और सूर्यकान्तमणि उसमें निमित्तमात्र है।
सूर्य का बिम्ब उसमें कुछ नहीं करता। तीक इसीप्रकार आत्मा स्वयं अपने आप कभी विकारी नहीं होता। विकार का निमित्त भी नहीं बनता। आत्मा तो विकाल चिद्दृष्ट स्वरूप एक शुद्ध ही है। वह स्वयं अकेला विकार-रूप कैसे हो, क्यों हो ? आत्मा की वर्तमान पर्याय में जो विकार - पुन्य-पाप के भाव, दया-दान-भक्ति आदि के शुभ-भाव व हिंसा-शृङ्खला आदि के पापभाव-अशुभभाव होते हैं, उनका निमित्कारण भगवान आत्मा स्वयं नहीं है। उसमें तो परसंग ही निमित्त है। जब आत्मा कर्मों का संग करता है तो पर्याय में विकार होता है। विकार होने में भगवान आत्मा निमित्त नहीं है, पर परसंग अर्थात् जड़कर्मों का उदय निमित्त होता है।

देखो, परसंग का अर्थ ऐसा कदापि नहीं है कि कर्म विकार करता है। हाँ, अपने तत्समय की योग्यता से आत्मा में जब जैसा विकार होता है, तब तदनुकूल ‘परसंग’ निमित्तरूप होता अवश्य है।

अहा ! जैसा अन्य मतों में इंश्वर के कर्तृव्य पर बल दिया जाता है; यदि वैसा ही जैनमत में कर्मों के या परद्रव्य के कर्तृव्य को स्वीकार कर लिया गया तो अन्यमत व जैनमत में कोई अन्तर नहीं रहेगा।

यहाँ जो यह कहा है कि ‘तस्मिन्निमित्तमू परसंगेव’ आत्मा में उत्पन हुए विकार का हेतु परसंग ही है। उस ‘परसंग’ की व्याख्या यह है कि आत्मा स्वभाव से शुद्ध चिद्वृत्परसंपवन्त पदार्थ होते हुए भी पर के संग में जो इसका लक्ष्य जाता है, वह परलक्ष्य उपयोग उसकी उस विकारी पर्याय में विकार का कारण होता है; परवस्तु उसे विकार नहीं कराती।

देखो, श्वेताम्बर मत में तो यही बात कही जाती है कि कर्मों से विकार होता है। तथा दिगम्बर मत में भी आजकल कुछ निमिताधीन विचारधारा वाले लोग ऐसा कहने लगे हैं कि ‘विकार कर्म से होता है।’ आगम में से भी वे लोग ऐसे शब्दों को खोज कर लेते हैं। आगम में ऐसे कथन मिल भी जाते हैं; क्योंकि आगम में तो अनेक अपेक्षाओं से कथन किया है न ? अतः ऐसे कथनों की विवक्षा को समझना चाहिए।
यहाँ जो ‘परसंगब्ध’ कथन है उसका अभिप्रय यह है कि जब यह जीव स्वयं परसंग करे तो विकार होता है।

जो अपने सत्यानन्दस्वरूप को भूलकर निमित्तों के संग परिणमन करते हैं, उनकी वह भूल ही विकार का कारण है तथा परसंग उसमें निमित्त है।

ज्ञानी अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव को जानता है। उसकी दृष्टि सदा स्वभाव पर ही होती है। इसकारण कर्मों के निमित्त से अपनी पर्याय में ज्ञानी को जो उपाधिभाव होते हैं, वह उन सबका स्वामी एवं कर्ता नहीं बनता। तथा अज्ञानी अपने शुद्धस्वभाव को जानता नहीं है, इसकारण कर्म के निमित्त से जो औदयिक्भाव होते हैं, वह उनका स्वामी बनकर अपनी मान्यता में उनका कर्ता बन जाता है।

अरे भाई ! यह मानना अज्ञान है कि ‘कर्म के कारण विकार होता है, कर्म मार्ग दे, रक्षावत न डाले तो धर्म हो।’ वस्तुतः कर्म तो आत्मा का स्पर्श ही नहीं करते। यहाँ तो बस इतनी-सी बात कही है कि शुद्ध स्वभाव के आश्रय से परिणमन करे तो विकार उत्पन्न न हो, धर्म की प्राप्ति हो। तथा पर के साथ - निमित्तों के साथ परिणमन करे तो विकार हो।

अन्त शक्तियों का पिण्ड प्रभु आत्मा शुद्ध एक ज्ञानानन्दस्वभावी है। इसकी अन्त शक्तियों में कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है जो विकार को करे। अज्ञानी मात्र समय की वर्तमान पर्याय में तत्समय की योग्यता में निमित्त के संग विकारी होकर एवं उनका स्वामी होकर उसे भोगता है। यद्यपि ज्ञानी के भी निमित्त के साथ उपाधि भाव होता है, तथापि वह उन विकारी भावों का स्वामी व कर्ता नहीं होता।

अरे भाई ! कर्म तो तुझे छूता ही नहीं है। यहाँ तो मात्र इतनी-सी बात है कि शुद्धस्वभाव के आश्रय से परिणमे तो विकार नहीं होता, धर्म होता है। तथा निमित्त के साथ परिणमे तो अवश्य ही विकार होता है। कर्म निमित्त होते हैं, परन्तु कर्म विकार के कर्ता नहीं हैं, कर्मों के कारण विकार नहीं होता।

प्रवचनसार में ३५ नयों के प्रकरण में आया है कि आत्मा कर्तान्य से रागादिभावों का करनेवाला है तथा भोक्ता भी है। उस कथन का तात्पर्य यह
कलश १७५

है कि ज्ञानी की गणधर अथवा तिरंगकर की पर्याप्त भी क्यों न हो, वे भी जितने अंश में पर के संग एक श्रद्धा करते हैं, उतने अंश में उस भाव के कार्त्य कहे जाते हैं। यदापि उनमें कार्त्य नहीं है, अतः वे ज्ञानी की तरह श्रद्धा की अपेक्षा कार्त्य नहीं हैं, फिर भी अस्थिरता के कारण पर के निमित्त से उन्हें जो दया, दान, ब्रत, भक्ति आदि परिणम होता है, उन भावों के कार्त्य तो वे भी कहे ही जाते हैं। भले ही उनका वह परिणम कर्म के कारण नहीं होता। परंतु, उनके उन भावों जो सेवा करते हैं, उनके उन भावों के सेवा करते हैं, तब विकार होता है। स्वस्वभाव के आश्रय से विकार नहीं होता।

(अनुष्ठुभू)

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी ज्ञानति तेन सः ।
रागादीन्नात्मनः कुर्यात्रातो भवति कारकः ॥ १७६॥

“ऐसे वस्तुस्वभाव को जानता हुआ ज्ञानी रागादि को निजस्व नहीं करता।” इस अर्थ का तथा आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं: -

श्लोकार्थः -- [इति स्वं वस्तुस्वभावं ज्ञानी ज्ञानति] ज्ञानी ऐसे अपने वस्तुस्वभावको जानता है [तेन सः: रागादीन्न आत्मनः न कुर्यात्] इसलिये वह रागादि को निजस्व नहीं करता, [अतः: कारकः: न भवति] अतः वह (रागादि का) कार्त्य नहीं है ॥ १७६॥

कलश १७६ पर प्रबंधन

ज्ञानी उसे कहते हैं जो अपने वस्तुस्वभाव को जानता है। ‘मैं स्वयं परिपूर्ण शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव से भरपूर हूँ’ ऐसा जो जानता है, अनुभवता है; वह ज्ञानी है।
ये शरीर व स्त्री-पुत्रादि तो कहीं एक ओर ही रह गये, यहाँ तो यह कहते हैं कि एक समय की पर्याय से भी भिन्न अन्तर एक शुद्ध चिदानन्द रस से भरा स्वयं भगवान आत्मा है, उस आत्मा को ज्ञानी जानते हैं, अनुभवते हैं। जिसको अन्तर में अतीदिया-आनंद के अमूर्त का स्वाद आया है, वह ज्ञानी है। वह अपने निर्विकारी शुद्ध निरंजन वस्तुस्वभाव को जानता है।

ज्ञानी अपने वस्तुस्वभाव को, अंकले ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को, पूर्ण आन्द्रमूत से भरे तत्व को जानता है; इसकारण वह रागादि को अपना नहीं करता, उनमें आत्मवृद्धित नहीं करता। भले ही वे रागादिभाव वर्तमान दशा में पर के लक्ष्य से आत्मा में हुए हों, हो रहे हों; परन्तु उनमें ज्ञानी को अपनापन नहीं होता।

धर्मी की पर अथवा निमित्तों पर से पर्यायबृद्धि टूट गई है तथा अन्तर में वस्थावृद्धि प्रगट हो गई है, इसकारण पर के निमित्त से पर्याय में जो रागादि होते हैं, उन्हें वह अपने नहीं मानता।

रागादि भावों को ज्ञानी अपना नहीं मानता, इसका अर्थ यह भी नहीं है कि उसे भक्ति पूजा, दया-दान आदि के रागभाव होते ही नहीं हैं; भूमिकानुसार होते हैं; परन्तु ज्ञानी उन्हें अपने स्वरूपरूप से नहीं स्वीकारता। वह तो उन्हें उनसे भिन्न रहकर मात्र जानता है। तत्स्थाप्रथम से रहकर मात्र उनका ज्ञाता रहता है। शुद्ध चाचन्त्यरस-ज्ञानान्दरस के रसिया ज्ञानी पूर्णों के अन्तर पुण्य-पाप के भावों का प्रवेश नहीं होता है। वे भाव बाहर-बाहर ही तैरते रहते हैं। अत: वे उनके कर्त्ता नहीं होते।

जिन्होंने अपने वस्तुस्वरूप को जान लिया, वे धर्मी पुरुष रागादि के कर्त्ता नहीं है, अकर्ता हैं, मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही हैं। यदापि वर्तमान पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण रागादिभाव होते हैं, पर वे उनके मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं; उनके कर्त्ता नहीं होते।
समयसार गाथा २८०

ण य रागद्वैसमोहं कुञ्जदि णाणी कसायभावं वा।
समयमयणो ण सो तेन कारयो तेसि भावाणं।॥ २८०॥

न च रागद्वैसमोहं करोरति णाणी कषायभावं वा।
स्वयमात्मनो न स तेन कारकस्तेषां भावानाम्।॥ २८०॥

यथोक्तं वस्तुवभावं जाननू णाणी शुद्धस्वभावादेव न प्रच्छवते, ततो
रागद्वैसमोहादिभावेः: स्वयं न परिणमते, न परेणापि परिणामते,
तत्तथंकोक्तकोपकङ्गायकभावो णाणी रागद्वैसमोहादिभावानामकर्तवेति
प्रतिनियम।

अब इसीप्रकार गाथा द्वारा कहते हैं:—

ना स्वयं करता मोह एवं राग-द्वेष-कषाय को।
इसलिए णाणी जीव कर्ता नहीं है रागादि का।॥ २८०॥

गाथार्थ: — [णाणी] णाणी [रागद्वैसमोहं] रागद्वैसमोहका [वा
कषायभावं] अथवा कषायभाव को [स्वयं] अपने आप [आत्मन्] अपने
भावानाम्] उन भावों का [कारक: न] कारक अर्थात् कर्ता नहीं है।

टीका — यथोक्तं (अर्थात् जैसा कहा वैसा) वस्तु स्वभाव को जानता हुआ
णाणी (अपने) शुद्धस्वभाव से ही चुत नहीं होता इसलिए वह रागद्वैसमोहादि
भावरूप स्वतः परिणमित नहीं होता और दूसरे के द्वारा भी परिणमित नहीं
किया जाता, इसलिए टंकोक्तकोप एक ज्ञातकभावरूप णाणी राग-द्वेष-मोह
आदि भावों का अकर्ता ही है — ऐसा नियम है।

भावार्थ: — आत्मा जब णाणी हुआ तब उसने वस्तु का ऐसा स्वभाव जाना
कि ‘आत्मा स्वयं तो शुद्ध ही है — दृष्टिः से अपरिणमनस्वरूप है,
पर्यावरणज्ञ से परद्रव्य के निमित्त से रागदिरूप परिणमित होता है;’ इसलिए
अब णाणी स्वयं उन भावों का कर्ता नहीं होता, जो उदय आते हैं उनका ज्ञाता
ही होता है।
गाथा २८० एवं उसकी टीका पर प्रवचन

भगवान आत्मा अकेला पवित्रता का पिण्ड प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का रसकंद है। ज्ञानी अपने ऐसे स्वभाव को जानता है। वह सोचता है कि ये पुण्य-पाप के भाव और पुण्य के फल में प्राप्त पाँच-पवास करोड़ की सम्पत्ति मेरे आनन्द के स्थान नहीं हैं। मेरे आनन्द का धाम तो मैं स्वयं ही हूँ। ऐसा ज्ञानी जानते हैं, अनुभवते हैं। ऐसे अपने स्वरूप को जानता - अनुभवता हुआ ज्ञानी शुद्ध स्वभाव से चुएत नहीं होता।

जिसको शुद्ध एक चैतन्य मूर्ति प्रभु आत्मा ज्ञान श्रद्धाव व अनुभव में आया, वह अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव से चुएत नहीं होता। उन्होंने दृष्टि निरंतर शुद्ध एक अखंड चिन्मात्र भाव पर ही रहती है।

प्रश्न – तो क्या ज्ञानी अजीवादि तत्वों तथा व्यवहार को जानता नहीं है?

उत्तर – अरे भाई! वह सब जानता है और जानने लायक भी है। पर आत्मवस्तु को प्राप्त करने में इसका कोई विशेष स्थान नहीं है, योगदान नहीं है। अतः आत्मवस्तु को प्राप्त करने के लिए तो एक अखंड-पूर्ण ज्ञान व आनन्द का घनपिण्ड निज भगवान आत्मा का अनुभव करना ही योग्य है। अन्य पदार्थों के जानने का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। यह बात इसके पहले २७६ व २७७वीं गाथा में आ चुकी है वहाँ कहा है कि शब्दशुद्ध में जीव आदि नब पदार्थों के सद्भाव या असद्भाव में शुद्धत्व के सद्भाव से ही ज्ञान-दर्शन है, शुद्धत्व के ही आश्रय से सम्प्रगर्भन व सम्प्रग्नान होता है, अन्य किसी के आश्रय से नहीं।

अन्ततः यह सब जीव ने चौरासी के अवतार में रखड़-रखड़ कर परिभ्रमण ही किया है। अबतक बीरंग भगवान की भी सच्ची पहचान नहीं हुई, क्योंकि अन्दर में अपने स्वरूप को जाने बिना भगवान जिनेन्द्र की सच्ची पहचान होती ही नहीं है। अपना शुद्धत्व और परमात्मा अर्थात् जिनेन्द्र भगवान - दोनों की एक ही जाति है, एक सा ही स्वभाव है, दोनों में किसी
समयसार गाथा २८०

प्रकार से कोई अन्तर ही नहीं है। अतः आत्मा की पहचान से परमात्मा की तथा परमात्मा की पहचान से आत्मा की पहचान ही जाती है।

जिसप्रकार श्रीमाली बनिया के दो पुत्र हों, उनमें एक १०० रुपया माह की नौकरी करता हो और दूसरा करोड़पति हो तो भी दोनों श्रीमाली जाति की अपेक्षा तो एक जाति के ही हैं न?

टीक इसीप्रकार भगवान आत्मा भले ही अपनी पर्याय में निगोद से लेकर एकनिष्ठा अनेक अवस्थाओं में रहा हो या अभी हो, तथापि अन्तर स्वभाव से तो संसारी आत्मा भी चैतन्यचन वस्तु ही है। भगवान जिनवर की जाति में और संसारी जीव की जाति में कोई फेर ही नहीं है। ऐसे शुद्धस्वभाव की अन्तर्दृष्टि करके इसमें ही जिसने एकाग्रता व समर्पण की है, वह ज्ञानी अपने शुद्धस्वभाव से चुन्त नहीं होता, भ्रष्ट नहीं होता। उसने अपनी वृद्धि को अपने शुद्धचैतन्य पद में ही स्थित कर रखा है।

सर्वज्ञ परमेश्वर भगवान जिनेन्द्रदेव ने आत्मा का स्वरूप शुद्धज्ञान व आनन्दरूपी अमृतरस से भरा देखा है। जिसने अपने आत्मा के ऐसे आनंद का रस्पान किया है, उस ज्ञानी को अब पुष्प-पाप के भाव में रस नहीं है। उसे इन्द्रों के विषय भी नीरस - फिके लगते हैं। अतीतिन्द्र आनन्दस का रसिया अपने उस आनन्दस से कभी चुन्त नहीं होता।

जिसप्रकार शक्कर की डाली चूसती मक्खी शक्कर पर से हटती नहीं है, उड़ाने पर भी बार - बार उसी पर आकर बैठती है; टीक इसीप्रकार अतीतिन्द्र आनन्दस का रसिया धर्मी जीव आनन्द रसकंद ध्रुव आत्मा से हटता नहीं है। भगवान त्रिकाली नाथ ने इसे ही धर्म कहा है।

ऐसा अन्तरंग स्वरूप समझना तो संसारी रागी जीवों को कठिन लगता है। अतः प्रतिक्रीणादि पाठ बोलकर संतुष्ट हो जाते हैं और ऐसा मान लेते हैं कि हो गया हमारा धर्म तथा हमने अपना धार्मिक कर्तव्य पूरा कर दिया; परंतु बापू! ये सब शुभराग की क्रियाहें हैं, ये धर्म नहीं हैं। अपने अन्तर जो आनंद का रसकंद प्रभु आत्मा विराजमान है, उसमें एकाग्रता का होना ही वास्तविक
धर्म है। धर्मपुरुष अपने शुद्ध एक ज्ञानान्दस्वभाव को नहीं छोड़ता। लोक में भी जब व्यक्ति लौंकिक जनों के प्रति हुए प्रेम को नहीं छोड़ता तो क्या धर्म का प्रेम उससे भी गया गुजरा है? जो वह छोड़ दे। नहीं, धर्मात्मा का आत्म-प्रेम तो सच्चा है, फिर वह उसे कैसे छोड़ सकता है? अतः धर्म की दृष्टि से शुद्धस्वभाव से चुन नहीं होती।

धर्म पुरुष शुद्धस्वभाव से ही चुन नहीं होता, इसकारण राग-द्रेष्ट्र-मोहरूप शुभाशुभाभावरूप स्वर्य से तो परिणमता ही नहीं है, दूसरों के द्वारा भी विभावरूप नहीं परिणमता।

निमित्तों की अपेक्षा व्यवहार से ऐसा कह दिया जाता है कि कर्मों ने या परिदृश्यों ने इसे विकाररूप परिणामाया है, परंतु कोई भी प्रदूषण किसी को बलजोरी से विभावरूप नहीं परिणमता।

यहाँ जो यह कहा है कि ‘पर से भी परिणमता नहीं है’ उसका तात्पर्य यह है कि जब स्वर्य से पररूप नहीं परिणमता तब वहाँ ऐसे ‘पर’ निमित भी होते ही नहीं है, जिनसे पररूप परिणमे।

जिनको स्व-स्वरूप में रुचि जागृत हुई है, उनकी पर में या पुष्प में रुचि नहीं रही। इसकारण वे राग-द्रेष्ट्र-मोह के भावरूप नहीं परिणमते। धर्मात्मा के व्यवहार में - पुष्प में व पुष्प के फल में, स्वरुपदिक के वैभव में - कहरीं भी सुख-बुझ्द्र सुख होती है। देखो राजा ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती के घर ९६ हजार रानियाँ थीं। हजारों देवता उनकी सेवा में रहते थे। देव व इन्द्र ने भरत को आते थे हीरा-मोती के सिंहासनों पर जोड़े से बैठते। इसकारण बाहर में वह अपार वैभव का स्वामी था, परंतु अन्दर में उसे किंचित्त भी रस-रुचि एवं उत्साह नहीं था। उसे इस पुष्प की सामग्री में ऐसा कोई प्रेम नहीं रहा था, ऐसी कोई विशेषता दिखाई नहीं देती थी, जिस कारण वह स्वभाव से चुन होते।

बीतरागता का मार्ग ही कुछ ऐसा है। एक-एक गाथा में कितना तत्त्व का रस भरा है? जिसके दूधपाक का स्वाद मिल गया हो, उसे आकड़ा के दूध में स्वाद कैसे आ सकता है? ‘भगवान आत्मा ज्ञानान्द रस का समुद्र है,'
समयसार गाथा २८०

उसमें सुचि उत्पन्न करके उसी का अनुभव करो। ऐसा करने से वीतराग मार्ग में प्रवेश होता है, धर्म का शुभारंभ हो जाता है। जो वस्तु स्वभाव को जानता है, वह धर्म है तथा वह अपने स्वभाव से चुनौती होकर शुभाशुभ भावरूप परिणत नहीं होता। तथा उसे अन्य कोई कर्म आदि विकारी नहीं करते।

इसमें दो बोल आये हैं, दो तथ्य स्पष्ट हुए हैं—

१. धर्म स्वयं से तो राग-देहस-मोह आदि भावरूप परिणमित होता ही नहीं

२. कर्म आदि पर से भी वह रागादि रूप परिणमित नहीं होता।

जिसने आत्मा के शुद्ध वीतराग स्वभाव को जान लिया एवं अनुभव कर लिया, उसकी दृष्टि शुद्धस्वभाव पर निरंतर रहने से उसके ज्ञानमय परिणमण ही है। वह राग-देहस-मोह आदि भाव से कैसे परिणम सकता है? तथा जो स्वयं विकार रूप न परिणमे, उसको कर्म आदि परपदार्थ विकाररूप कैसे परिणमा सकते हैं? 'दूसरा परिणमता है' यह तो निमित्त का कथन मात्र है।

जैसे सूर्य प्रकाश का पुंज है, उसीप्रकाश आत्मा अकेला चैतन्यप्रकाश का पुंज है। ऐसा चैतन्यप्रकाश का पुंज जिसकी दृष्टि में आया है, वह तंकोक्तरीण वीतरागी - जिनबिंब को भांति पुण्य-पाप, राग-देहस-मोह आदि भावों से पृथक ज्ञायकस्वरूप ज्ञानी ही है। सदा एक ज्ञायक भावमयपने के कारण वह राग-देहस-मोह आदि भावों का कर्ता नहीं है, अकर्ता ही है।

भूमिकानुसार ज्ञानी को दया, दान, पुण्य-पाप के भाव आते तो हैं, पर वह उनका कर्ता नहीं है। वह तो एक ज्ञानमय भाव का ही कर्ता है और रागादि भावों का अकर्ता ही है। उसके राग करने का अभिप्राय नहीं है। निर्मल ज्ञान भाव का करनेवाला ज्ञानी मलिन रागादि को कैसे करें?

यहाँ आचार्य कहते हैं भाई! अन्दर अतीतिक आनन्द के रस का समुद्र भगवान आत्मा विराजमान है। तू इसे छोड़कर इन पुण्य-पाप रूप मलिन भावों के स्वाद में अटक रहा है। अरे! ये तो नाक के मैल से भी बदतर हैं। ऐसा आचार्य कहते हैं।
अज्ञानी कहता है कि मुझे इन मलिन भावों में रहने की ही टेब फड़ गई है। ऐसे अज्ञानी को समझाते हुए ज्ञानी कहते हैं कि भाई! जिसे अन्तःस्पष्ट हो जाती है, आत्मानुभूति हो जाती है, उन धर्मी पुरुषों को अतीतात्माय आत्मन्दक के स्वाद के सम्बन्ध पर भुन्य-पाप का स्वाद सुहाता ही नहीं है। इसलिए तू भी अन्तःस्पष्ट कर।

भगवान तू स्वभाव से चिदानन्द रस का समुद्र है न? उस स्वभाव में ही अन्तर्मित हो जा। जिन्होंने भी उस अतीतात्माय रस का स्वाद क्रिया है, उन धर्मी जीवों को पुण्य-पाप का स्वाद बेस्वाद लगने लगता है, नीरस लगने लगता है। फिर वह पुण्य-पाप रूप नहीं होता। तथा कर्म उसे पुण्य-पापरूप नहीं परिणामात्मा। कर्मों में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो किसी को अपने रूप परिणामात्मा सके। त्यस्त उपचार से निर्मित पर आरोप करके यह कहा जाता है कि कर्मों के कारण राग-द्वेष-मोह हुए। यह सब व्यवहार का कथन है। ज्ञानी तो राग-द्वेष-मोह भावों का अकर्ता ही है।

गाथा ९८० के भावार्थ पर प्रवचन

जब आत्मा ज्ञानी हुआ, धर्मी हुआ; तब उसने ऐसा जाना कि में स्वयं स्वभाव से तो शुद्ध ही हूँ, एकाकार पवित्र ही हूँ। यह विकार तो मात्र मेरी वर्तमान पर्याय में बाहर ही है। अतदि वस्तु तो निर्विकार ही है। द्विविद्धिः से तो आत्मा अपरिणामस्वरूप ही है। अपरिणामस्वरूप अर्थात् त्रिकाली आत्मा व्यस्त है। यद्यपि उसमें प्रति समय पलटने वाली पर्याय निरंतर होती है, पर जब पर्याय त्रिकाली आत्मा से भिन्न है, पृथक् है। आत्मद्वश्वतः तो त्रिकाल अक्रिय-अपरिणाम स्वरूप है। त्रिकाल ध्वस्तबाय में पलटती दशा नहीं है।

परमात्मप्रकाश गाथा ६८ में आया है कि -

'प विंग ज छो किम रत बनः न गृहकेरी'

जिसको त्रिकाली कहा, ‘यह भगवान आत्मा जग्म-मरण नहीं करता तथा उसका बंध-मोक्ष भी नहीं होता। अहा!' त्रिकालीद्वश्वतः पर्याय को करता ही नहीं है, ऐसा अपरिणामी है। तथा मोक्ष का मार्ग व मोक्ष भी इसी पलटती दशा
समवसार गाथा २८०

में अर्थात् पर्याय में हैं। द्रव्यदृष्टि से द्रव्य में तो बंध-मोक्ष है ही नहीं। आत्मद्रव्य सदा अपरिणामस्वरूप पदार्थ है।

द्रव्य अर्थात् चैतन्यवस्तु। यहाँ द्रव्य का अर्थ धन-दौलत नहीं, बल्कि आत्मद्रव्य है। वह आत्मद्रव्य जो देह से भिन्न, पुष्प-पाप के विकारों से भिन्न तथा एकसमय की बंध-मोक्षरूप पर्यायों से भिन्न अखण्ड एक रूप रहनेवाला है। उस आत्मद्रव्य को द्रव्यदृष्टि से देखे तो वह अपरिणामस्वरूप है, ध्रुव है। उसमें अज्ञान-ज्ञानरूप तथा मिथ्यात्म-सम्पत्तिकरूप पर्याय या पलटन नहीं है। आत्मा ऐसा त्रिकाल अनादि-अनंत शास्त्र एक सदृश चिन्मात्रभाव से रहनेवाला द्रव्य है।

आत्मा में दो रूप भिन्न-भिन्न हैं - एक त्रिकाली ध्रुवता तथा दूसरी पलटती दशा। त्रिकाली द्रव्य कभी पलटता नहीं, एक द्रव्य कभी दूसरे द्रव्यरूप होता नहीं, पलटकर कभी नष्ट होता नहीं।

यह त्रिकाली जीवद्रव्य परद्रव्य का कर्ता नहीं है, अपने एकक्षेत्रागाही शरीर मन-चारणी का कर्ता भी नहीं है तथा अपनी पर्याय का कर्ता भी नहीं है। यह ऐसा अपरिणामस्वरूप है।

इसे पर्यायदृष्टि से अर्थात् कर्म के निमित्त से होती हुई वर्तमान दशा से देखे तो यह रागादि विकाररूप होती है एवं मोक्षमार्गरूप अर्थात् धर्मदशारूप से भी होती है। मोक्षमार्ग व मोक्ष की दशा भी इसकी पर्याय में होती है, किन्तु द्रव्यदृष्टि से यह बदलता नहीं है। ऐसा इसका अपरिणामस्वरूप है।

भाई! एक त्रिकाली ध्रुवद्रव्य और दूसरी उत्पाद-व्ययरूप पर्याय - यह बीतार्गदेव का कहा सत्य है। द्रव्य में जो नवीन-नवीन अवस्थाएँ होतीं हैं, वे उत्पाद-व्ययरूप हैं। द्रव्य में कर्म के निमित्त से विकार होता है तथा उसकी अवस्था में कर्म का अभाव करके निर्विकारी धर्म होता है, निर्दोष पूर्ण केवलज्ञान व मोक्षप्राप्त होता है। यह सब उत्पाद-व्ययरूप पलटती अवस्था में होता है, किन्तु त्रिकाली ध्रुव में कुछ नहीं होता। ध्रुव तो त्रिकाल एक सदृश चिन्मात्रपने से है।
त्रिकाली ध्रुव आत्मा का कोई कर्ता नहीं है, इसे किसी ईश्वर ने किया नहीं है। यह तो अनादि-अनंत, ध्रुव, शाश्वत अकृत्रिम द्रव्य है; उसमें परिवर्तन नहीं होता, किया नहीं होती। बदलना या पलटना तो पर्याय में होता है, ध्रुव में नहीं है।

जिसप्रकार आकाश में ध्रुवतारा होता है उस ध्रुवतारा को लक्ष्य बनाकर नाविक समुद्र पार कर लेते हैं, उसीप्रकार जो त्रिकाली ध्रुव चैतन्यमात्र आत्मा के लक्ष्य से स्वरूपसन्मुख परिणमत है, उसे सम्पद्यार्थ ग्रंह हो जाता है, वह संसार समुद्र के पार हो जाता है।

आत्मप्रव्य की भाँति पुनःगल द्रव्य (पुनःगलपरमाणु) भी द्रव्यवृद्धि से अपरिणमनस्वरूप है। देखो, भोजन के दाल-भात आदि परमाणु जो अभी दाल-भातरूप है, ये ही पेट में पहुँचकर खून-हाड़-मांसरूप से शरीर में पलट जाते हैं। बाद में यही शरीर जलकर भस्म हो जाता है। ये सब परमाणु परमाणुपने तो ध्रुव हैं। मात्र उनकी अवस्थायें पलटती रहतीं। परंतु जो ध्रुव परमाणु है, उनका कभी नाश नहीं होता। उसीप्रकार भगवान आत्मा जो शाश्वत ध्रुव चैतन्यरूप है, वह नहीं पलटता, उसके आश्रय से मात्र उसकी अवस्थायें पलटतीं हैं। ऐसे वस्तु भी स्वरूप को ज्ञानी यथार्थ जाते हैं। इसकारण ज्ञानी स्वयं उन रागादि भावों का कर्ता नहीं बनता तो उनका ज्ञान ही रहता है।

ज्ञानी को अस्थिरता जनित राग होता अवश्य है, किन्तु वह उनका कर्ता नहीं होता; वह उनका ज्ञान ही रहता है। ज्ञानी को किंचित् राग है, परंतु उसे उसकी सत्यता नहीं है, राग का स्वाभाविक नहीं है। इसका राग का परिणमन है; किन्तु यह उसे अपना कर्तव्य नहीं मानता। इसकारण वह रागादि का कर्ता नहीं होता।

अनुष्ठ्रुभु)

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः।
रागादीनात्मनं कुर्यादतो भवति कारकः।।१७७।।

‘अज्ञानी ऐसे वस्तुस्वभाव को नहीं जानता इसलिये वह रागादि भावों का कर्ता होता है’ इस अर्थ का, आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं :-
शलोकार्थ - [इति स्वं वस्तुस्वभावं अज्ञानी न वेति] अज्ञानी अपने ऐसे वस्तुस्वभाव को नहीं जानता [तेन सः रागादीनू आत्मन् कुर्यात्] इसलिये वह रागादि को (-रागादिभावों को) अपना करता है, [अतः कारकः भवति] अतः वह उनका कर्त्ता होता है ॥ १७७॥

कलश १७७ पर प्रवचन

अज्ञानी अपने अतीतिय ज्ञान व आत्मा के र्सकंद, शुद्ध, एक, ज्ञानन्द-स्वभावी आत्मा को नहीं जानता। वस्तु के स्वभाव पर उसकी दृष्टि नहीं है, उसका ज्ञानोपयोग स्वरूपसन्मुख नहीं है। वह बाहर में निमित्त के तथा पुण्य-प्पप के भावों के सन्मुख हो रहा है, इसकारण वह निरस्तर रागादि भाव से परिणामित होता हुआ पर का कर्ता बनता है, जो कि अज्ञान भाव है।

भले ही बाहर से वह साधु हो गया हो, क्रतादि का पालन करता हो, परंतु अन्वर्दृढ़ति के बिना, स्वरूप के भान बिना, अज्ञानी रागादि का कर्त्ता होता है अर्थात् वह राग को करने लायक मानता है। ऐसा मानकर वह रागादि को अपनाता है, उसे अपना कर्त्तव्य और कर्तव्य मान लेता है। पुण्यभाव - दया, दान, क्रत आदि के भावों को भला मानता है और करने योग्य हैं - ऐसा मानता हुआ उनका कर्ता बनता है।

जितने भी जीव सिद्ध दशा को प्राप्त हुए हैं, उन्हें सिद्ध पद की प्राप्ति कहाँ से हुई ? आकाश से तो आई नहीं है। अरे ! अन्दर आत्मा में जो स्वभावभूत शक्ति पड़ी है, उसमें पूर्ण एकाग्र होने से ही वह शक्ति प्रगट हुई है। पर अज्ञानी आत्मा के उस पूर्ण स्वरूप को जानता नहीं है, उसमें वह अन्तर एकाग्र होता नहीं है; इसकारण वह पराश्रय में परिणामित हुआ रागादि का कर्ता होता है। •
समयसार गाथा २८१
रागमेहि य दोसम्हि य कसायकम्पेसु चेव जे भावा।
तेहि दु परिणामोतो रागादि बंधदि पुनः वि || २८१॥
रागे च देवेष्ये च कसायकर्मसु चेव ये भावा:।
तैस्तु परिणममानो रागादीनूँ बधनाति पुनरपि || २८१॥

यथोक्तं वस्तुस्वभावमजानस्तवज्ञानी शुद्धस्वभावादसंसारं प्रचुतं एव,
तत् कर्मविपाकप्रभवे रागद्वेषमोहादिभावे: परिणाममानोज्ञानी
रागद्वेषमोहादिभावानां कर्ता भवन् वध्यत एवेति प्रतिनियमः।

अब इसी अर्थ की गाथा कहते हैं :-
राग-द्वेष-कषाय कर्मों के उदय में भाव जो ।
उनरूप परिणत जीव फिर रागादि का बंधन करे || २८१॥

गाथार्थः - [ राग च देवेष्ये च कसायकर्मसु च एव ] राग, देवेष्ये और कषाय
कर्मों के होने पर (अर्थात् उनके उदय होने पर) [ ये भावा: ] जो भाव होते हैं [ तः तु ] उन-रूप [ परिणामात: ] परिणामित होता हुआ (अज्ञानी)
[ रागादीनूँ ] रागादि को [ पुनः अपि ] पुनः-पुनः [ बधनाति ] बाँधता है।

टीका - यथोक्त वस्तुस्वभाव को न जानता हुआ अज्ञानी अनादि संसार
से लेकर (अपने) शुद्धस्वभाव से चुंत ही है इसलिए कर्मोदय से उत्पन्न रागद्वेषमोहादि भावसंपन्न परिणामरूप हुआ अज्ञानी रागद्वेषमोहादि भावों का कर्ता
होता हुआ (कर्मों से) बंध होता ही है - ऐसा नियम है।

भावार्थः - अज्ञानी वस्तुस्वभाव को तो यथार्थ नहीं जानता और कर्मोदय
से जो भाव होते हैं उन्हें अपना समझकर परिणामरूप है, इसलिए वह उनका
कर्ता होता हुआ पुनः-पुनः आगामी कर्मों का बाँधता है - ऐसा नियम है।

गाथा २८१, उसकी टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन
अज्ञानी जीव अनादि से अपने एक शुद्ध मैत्र्य परक्रम एवं सहजानंद
स्वभाव से अनजान होने से अपने अनन्त सुख के ताप से वंचित है, दुःखी है।
आत्मा का सहज ज्ञान व आनन्द स्वभाव है, किंतु अज्ञानी को अपने ऐसे ज्ञानानन्द के घनगिर्ध चैन्यस्वभाव की पहचान नहीं है। आत्मा स्वरूप तो अनादि है ही, अपने स्वरूप को न पहचानने की भूल भी इसकी अनादि काल से ही है। ऐसा नहीं है कि पहले तो यह पर्याय में शुद्ध था और बाद में अशुद्ध हुआ है, मलिन हो गया है।

अनादि से स्वरूप ज्ञानानन्दस्वभावी होते हुए भी यह अज्ञानी अनादि से ही स्वभाव से भ्रष्ट है, च्युत है तथा अतीतन्त्र आनन्द से वंचित है।

देखो, यहाँ ऐसा नहीं कहा कि कर्म के कारण च्युत है; जबकि कर्म के उदय का निमित्तपना भी अनादि से ही है। जबतक आत्मा स्वभाव से भ्रष्ट रहेगा तबतक उसमें तदनुसार द्रव्यकर्म का उदय तो अतंतरंग निमित्त कारण के रूप में रहेगा ही। ऐसा ही सहज निरंतर-नैमितिक संबंध है। वस्तुतः बात यह है कि अज्ञानी की अनादि से पर्यायगत योग्यता भी ऐसी ही है और निमित्तरूप में कर्म का उदय भी होता ही है, परंतु कर्म का उदय तो निमित्त मात्र है।

अब कहते हैं देखो! आत्मा स्वरूप अन्दर में शुद्ध, एक, ज्ञानानन्दस्वभावी, अतीतन्त्रानन्द का रसकंद प्रभु है। अतः वस्तुतः: इसे पर्याय में भी अतीतन्त्र आनन्दरूप परिणामित होना चाहिए था, शुद्धरूप ही परिणामित होना चाहिए था; परंतु ऐसा न होते हुए, अज्ञानी इसरूप न परिणामित हुए राग-द्वेष-मोह भाव से परिणामत है और इन्हीं भावों का कर्ता होता है।

देखो, यद्यपि ऐसा कहा है कि कर्म के उदय से उत्पन्न हुए राग-द्वेष; परंतु इसका अर्थ यह है कि जब आत्मा स्वरूप स्वभाव से भ्रष्ट होने से रागद्वेष मोहादिरूप होता है, तब उसके उसरूप परिणाम में कर्म का उदय निमित्त होता है। कर्म के उदय ने बलात् राग-द्वेष-मोह उत्पन्न किए हों - ऐसा नहीं है। कर्म तो परवस्तु हैं। और परवस्तुएँ किसी अन्य परवस्तु में कुछ भी नहीं करती। जीव स्वरूप ही अनादि से अपने स्वरूप से च्युत हैं, भ्रष्ट है तथा पर के लक्ष्य से स्वरूप पर में रक गया है, अटक गया है; इसकारण राग-द्वेष-मोहरूप से
परिणमता है। पर में दृष्टि करके अनिष्टपना मानकर अज्ञानी पर के लक्ष्य से
राग-द्वृष्ट-मोह भाव से परिणमता है।

यह परमात्मा जगत के जीवों को आदेश देते हैं, उपदेश देते हैं कि अरे
भाई! तुझे अपने वैभव का पता नहीं है। तू तो अनंत-अनंत लक्ष्मी का भंडार
है; परंतु तू अपने को न पहचानने के कारण इससे प्रभु है, चुन्त है।

अपनी वस्तु को भूलकर परवस्तु को भला-बुरा जानकर रागादि भाव से
परिणमता हुआ, उनका कर्त्ता बनता हुआ अनादि से संसार में भटकता हुआ
हैरान ही है। सर्व सामर्थ्य के धनी अपने परमेश्वर स्वरूप आत्मा को भूलकर
कर्म की उपस्थिति में स्वयं राग-द्वृष्ट-मोहादि भावरूप से परिणमता हुआ
अज्ञानी अपने राग-द्वृष्ट-मोहादि भावों का कर्ता होता है और इसीकारण वह
कर्मों से बंधता है।

इसके पहले २८०वीं गाथा में ऐसा आया है कि अपने स्वभाव को जानता
हुआ ज्ञानी राग-द्वृष्ट-मोहादि भावों का अकर्ता है - ऐसा नियम है। और यहाँ
कहा है कि अपने परमेश्वर स्वभाव को न जानने हुए अज्ञानी राग-द्वृष्ट-मोहादि
भावों का कर्ता होता है और कर्मों से बंधता ही है - ऐसा नियम है।

अज्ञानी ने भी अनंतकाल से अबतक शास्त्र खूब पढ़े, परंतु स्वयं को जाने
बिना वे किसी काम नहीं आये, उनसे आत्मा को लाभ नहीं मिल पाया। यह
बाहर का जानपना सब व्यर्थ हो गया। ब्रह्म-तपादि भी खूब किए, पर आत्मज्ञान
के अभाव में राग की क्रियाओं से कुछ हाथ नहीं लगा। ये जो राग की क्रिया
हैं, इनमें धर्म मानना तो मिथ्यादर्शन है। जो इन राग की क्रियाओं का कर्ता बनता
है, वह तो मिथ्यादृष्टि है और वह अवश्य बंधता है। ऐसा यहाँ स्पष्ट कहा
गया है। इस बात को बहुत अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

भावार्थ में पण्डित जयचंद्रजी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ‘अज्ञानी को
स्वभाव को दृष्टि न होने से अनादि से पर्याय बुद्धि ही है।’ स्वयं अंतरंग में ज्ञान 
व आनंद लक्ष्मी का भंडार है, पर अज्ञानी को इसकी खबर ही नहीं है।
समयसार गाथा २८९

इसकारण अज्ञानी वर्तमान में सहज अनुकूलता देखकर सोच लेता है कि वर्तमान का आनंद छोड़कर परभव की चिंता करना व्यर्थ की बात है। इसप्रकार पर्यायबुद्धि हो जाती है। इसके साथ यदि शरीर स्वस्थ सुंदर और हष्ट-पुष्ट हो, पुत्र अनुकूल हों, धन-वैभव पर्याप्त हो, लोक में थोड़ी-बहुत प्रतिष्ठा हो, तब तो फिर पूछना ही क्या है? फिर तो धर्म-ध्यान की बातों से और भी कोसों दूर हो जाता है। फिर तो आत्मा की बात सुनने की पर्याप्त ही कहाँ हैं? परंतु भाई! इसी में यदि मनुष्यभव चला गया तो पता नहीं चौराही लाख योनियों में कहाँ-कहाँ भटकेगा?

यह सारा जगत विषय-कषय की मार से अनंत दुःखी है। कर्म के उदय से जो भाव होते हैं, उन्हें यह अज्ञानी अपने मानकर उन्हें उप परिप्रेक्ष्य नहीं। भाई! आत्मा के स्वरूप में तो पुष्प-पाप हैं नहीं। हाँ, कर्म के उदय के निमित्त से एवं अपने विपरीत पुरुषार्थ से जो भाव होते हैं, उन्हें यह अपना मानता है। निमित्त का आश्रय करने से अज्ञानी को मोह-राग-द्वेष भाव होते हैं, उन्हें यह अपने मानता है तथा उन्हें में तट्टूप होकर परिप्रेक्ष्य है। इसीकारण उनका कर्म होता हुआ पुन:पुन: आगामी कर्म बांधता है। ऐसा नियम है। इसप्रकार अज्ञानी संसार में परिप्रेक्ष्य करता रहता है।
समयसार गाथा २८२

रागभ्र य दोसमहि य कसायकम्मसु चेय जे भावा।
तेषु दु परिणमंतो रागादी बंधदे चेया || २८२||
रागे च देवे च कषायकर्मसु चेय ये भावा:।
तेस्तु परिणममानो रागादीनू बधनाति चेतित्यि। || २८२||

य इमे किलाजानिनक पुदलकर्मनिनित्ता रागिदेवमोहादिपरिणामास्त
एव भूयो रागिदेव-मोहादिपरिणामनिनित्तस्य पुदलकर्मणो बंधेहतुरिति।

यों राग-देव-कषायकर्मनिनित्त होवें भाव जो।
उन-रूप आत्मा परिणामें, वो बाँधता रागादि को || २८२||

गाथार्थ – [रागे च देबे च कषायकर्मसु च एव] रागे, देबे ओर
कषायकर्मों के होने पर (अर्थात् उनके उदय होने पर) [ वे भावा: ] जो भाव
होते हैं [ तै: दु ] उन-रूप [ परिणममान: ] परिणामता हुआ [ चेतित्यि]
आत्मा [ रागादीनू ] रागादि को [ बधनाति ] बाँधता है।

टीका – निर्देश से अजानी को, पुद्गल कर्म जिनका निमित्त है ऐसे जो
यह रागिदेवमोहादि परिणाम हैं, वे ही पुनः रागिदेवमोहादि परिणाम के निमित्त
जो पुद्गलकर्म उसके बंध के कारण हैं।

भावार्थ – अजानी के कर्म के निमित्त से जो रागिदेवमोहादि परिणाम होते
हैं वे ही पुनः आगामी कर्मबंध के कारण होते हैं।

गाथा २८२, टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

आत्मा अनन्त-अनन्त गुण रत्न से भरा हुआ चैत्यतरलकर है, जिसे ऐसे
गुणरूपी रत्नों से भरे आत्मारूपी समुद्र की पहचान न हो, वह अजानी है। उस
अजानी को जो अनादि से रागे, देव-मोह, हास्य, रति, अरति आदि भाव हैं,
उन भावों में कर्मादि निमित्त हैं तथा जो नवीन द्रव्यकर्म बंधते हैं, उनमें वे
राग-देव-मोह के परिणाम निमित्त हैं। ध्यान रहे, द्रव्यकर्म व रागादि भावकर्म
एक-दूसरे के निमित्त तो है पर वे एक-दूसरे के कर्म नहीं हैं। वर्तमान में जो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com
समयसार गाथा २८२

पुण्य-पाप व राग-द्वेष-मोह के भाव होते हैं, उनमें पूर्व कर्म निमित्त होते हैं। उन कर्मों के परिणामों के निमित्त से नवीन कर्म बंधते तो हैं, पर उन मोहादि ने कर्म बन्धन में किया कुछ भी नहीं है। इसप्रकार परस्पर निमित्त-नैमितिक भाव है, परस्तु कर्ता-कर्म भाव नहीं है।

अरे भाई! यह मूल सिद्धान्त है कि एक द्रव्य के कारण दूसरे में कुछ भी नहीं होता। परस्तु अज्ञानी कल्पना से ऐसा मानते हैं कि मैं ही घर बाहर की बहुत सारी व्यवस्थाएं करता हूँ, अन्यथा ऐसी सुन्दर व्यवस्था संभव ही नहीं थी। जब कभी मैंने ध्यान नहीं दिया, अथवा मैंने अनुक्रम काम नहीं किया या नहीं कर पाया तो वह काम हुआ ही नहीं। ऐसी एक नहीं अनेक घटनाएं इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अज्ञानी ऐसा सोचता है, मानता है और कहता भी है, पर यह उसका सोचना मिथ्या है।

आचार्य अज्ञानी से कहते हैं कि भाई! यह सब तेरा ध्यान है, यह तेरी गलत मान्यता है। तूने तो मात्र राग-द्वेष-मोह के भाव ही किए हैं। राग-द्वेष-मोह के भाव ही पुनः पुदगल कर्म के बंध के निमित्त कारण होते हैं।

तात्पर्य यह है कि पुराना कर्म राग-द्वेष-मोहादि विकार का निमित्त होता है और वर्तमान राग-द्वेष-मोहादि परिणाम नवीन कर्मबंधन के निमित्त होते हैं। इसप्रकार अनादि से अज्ञानी की संसार परस्पर चलती आ रही है।
गाथा २८३ से २८५

कथमात्मा रागादीनामकारक एवेति चेतुः

अप्रतिक्रमण दुविहं अपच्छाणं तहेव विण्येयं।
एदेणुवदेसेन य अकारयो वर्णिणादो चेदा ॥ २८३॥

अप्रतिक्रमण दुविहं दव्ये भावे अपच्छाणं पि।
एदेणुवदेसेन य अकारयो वर्णिणादो चेदा ॥ २८४॥

जावं अप्रतिक्रमण अपच्छाणं च दव्यभावाणं।
कुव्वदिआदा तावं कता सो होदि ग्नादवो ॥ २८५॥

अप्रतिक्रमण द्रिविधमप्रत्याख्यानं तथैव विज्ञेयम्।
एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतैविनिधित॥ २८३॥

अप्रतिक्रमण द्रिविधिः दव्ये भावे तथाप्रत्याख्यानम्।
एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतैविनिधित॥ २८४॥

यावदप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च दव्यभावोऽ।
करोत्यात्मा तावकर्त्ता तस भवति ज्ञात्वः ॥ २८५॥

आत्मात्मना रागादीनामकारक एवं,
अप्रतिक्रमण मणाप्रत्याख्याणयोऽद्वितिव्योपदेशान्यान्यनुपत्ते:। यः खलु
अप्रतिक्रमण मणाप्रत्याख्याणयोऽद्वितिव्योपदेशान्यनुपत्ते: स,
द्रव्यभावयोजनित्तैमिलितानित्तित्वाभाव प्रधानः, अकर्तृत्वात्मनो ज्ञापयति।तत
एतत् सिद्धं - परद्रव्य निमित्तं, नैमित्तिका आत्मनो रागादिभावः। यदेव
नेष्येत तदा द्रव्याप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोऽ: कर्तृत्वनिमित्तोपदेशोन्नर्धक
एव स्थात्, तदनर्धकलेक्विस्वात्मनो रागादि भावनिमित्तवापत्तौ
नित्यकर्तृत्वानुपर्गान्योपकारोऽ: प्रस्भेचा। तत: परद्रव्येवात्मनो
रागादि�ावनिमित्तमस्तु। तथा सति तु रागादीनामकारक एवात्मा। तथापि
यावदनिमित्तधर्म्य द्रव्यं न प्रतिक्रामित न प्रत्याचर्ये च तावनिमित्तकृत्तौ
भावं न प्रतिक्रामित न प्रत्याचर्ये च, यावतु भावं न प्रतिक्रामित न प्रत्याचर्ये
च तावमकर्त्तेः स्थात्। यदेव निमित्तधर्म्य प्रतिक्रामित न प्रत्याचर्ये
च तदैव नैमित्तिक भूतं भावं प्रतिक्रामित न प्रत्याचर्ये च, यदा तु
भावं प्रतिक्रामित न प्रत्याचर्ये च तदा साक्षादकर्तेः स्थात्।
सम्यक्सार गाथा २८३-२८५

हे द्विविध अप्रतिक्रिमण एवं द्विविध है अत्याग भी।
इसलिए जिनदेव ने अकारक कहा है आत्मा ॥ २८३॥
अत्याग अप्रतिक्रिमण दोनों द्विविध हैं द्रव्भाव से।
इसलिए जिनदेव ने अकारक कहा है आत्मा ॥ २८४॥
अत्याग अप्रतिक्रिमण दोनों द्विविध हैं द्रव्भाव से।
इसलिए जिनदेव ने अकारक कहा है आत्मा ॥ २८५॥

गाथार्थ - [अप्रतिक्रिमण] अप्रतिक्रिमण [द्विविधम्] दो प्रकार का
[तथा एव] उसी तरह [अप्रत्याख्यान] अप्रत्याख्यान दो प्रकार का
[विन्दुम्] जाना चाहिए; [एतेन उपदेशेन च] इस उपदेश से [चेतनाया]
आत्मा [अकारक: वर्णितं] अकारक कहा गया है।

[अप्रतिक्रिमण] अप्रतिक्रिमण [द्विविधम्] दो प्रकार का है - [द्रव्ये
भावे] द्रव्य सम्बन्धी तथा भाव सम्बन्धी; [तथा अप्रत्याख्यानम्] इसीप्रकार
अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार का है - द्रव्य सम्बन्धी और भाव सम्बन्धी; -
[एतेन उपदेशेन च] इस उपदेश से [चेतनाया] आत्मा [अकारक: वर्णितं]
अकारक कहा गया है।

[ यावतु] जबतक [आत्मा] आत्मा [द्रव्यभावयोः] द्रव्य का और भाव
का [अप्रतिक्रिमणम् च अप्रत्याख्यानं] अप्रतिक्रिमण तथा अप्रत्याख्यान
है [ज्ञातव्यं] ऐसा जाना चाहिए।

टीका - आत्मा स्वतं रागादिका अकारक ही है; क्योंकि, यदि ऐसा न
hो तो (अर्थात् यदि आत्मा स्वतं ही रागादिभावों का कारक हो तो)
अप्रतिक्रिमण और अप्रत्याख्यान की द्विविधता का उपदेश नहीं हो सकता।
अप्रतिक्रिमण और अप्रत्याख्यान का जो वास्तव में द्रव्य और भाव के भेद से
द्विविध (दो प्रकार का) उपदेश है वह, द्रव्य और भाव के निमित्त-नैमितिकता
को प्रगट करता हुआ, आत्मा के अकृत्ति को ही बतलाया है। इसलिए यह
निर्दिष्ट हुआ कि पद्रव्य निमित्त है और आत्मा के रागादिभाव नैमितिक हैं।
यदि ऐसा न माना जाये तो द्रव्य अप्रतिक्रिय और द्रव्य अप्रत्याख्यान का कर्तृत्व के निमित्तरूप का उपदेश निरन्तर ही होगा, और वह निरन्तर होने पर एक ही आत्मा को रागादिभावों का निमित्तत्व आ जायेगा, जिससे नित्य-कर्तृत्व का प्रसंग आ जायेगा, जिससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा। इसलिये परद्रव्य ही आत्मा के रागादिभावों का निमित्त हो। और ऐसा होने पर, यह सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादि का अकारक ही है (इसप्रकार यद्यपि आत्मा रागादि का अकारक ही है) तथापि जबतक वह निमित्तभूत द्रव्य का ( - परद्रव्य का) प्रतिक्रिया तथा प्रत्याख्यान नहीं करता तबतक नैमित्तिकभूत भावों का ( - रागादिभावों का) प्रतिक्रिया तथा प्रत्याख्यान नहीं करता। और जब तक इन भावों का प्रतिक्रिया तथा प्रत्याख्यान नहीं करता तब तक वह उनका कर्ता ही है। जब वह निमित्तभूत द्रव्य का प्रतिक्रिया तथा प्रत्याख्यान करता है तभी नैमित्तिकभूत भावों का प्रतिक्रिया तथा प्रत्याख्यान करता है। और जब इन भावों का प्रतिक्रिया तथा प्रत्याख्यान होता है तब वह साक्षात् अकर्ता ही है।

भावार्थ — अतीत काल में जिन परद्रव्यों का प्रधान किया था उन्हें वर्तमान में अच्छा समझना, उनके संस्कार रहना, उनके प्रति ममत्व रहना, वह द्रव्य अप्रतिक्रिय है और उन द्रव्यों के निमित्त से जो रागादिभाव हुए थे उन्हें वर्तमान में अच्छा जानना, उनके संस्कार रहना, उनके प्रति ममत्व रहना, भाव अप्रतिक्रिय है। इसप्रकार आगामी काल सम्बंधी परद्रव्यों को इच्छा रखना, ममत्व रखना, द्रव्य अप्रत्याख्यान है और उन परद्रव्यों के निमित्त से आगामी काल में होनेवाले रागादिभावों की इच्छा रखना, ममत्व रखना, भाव अप्रत्याख्यान है। इसप्रकार द्रव्य अप्रतिक्रिया और भाव अप्रतिक्रिया तथा द्रव्य अप्रत्याख्यान और भाव अप्रत्याख्यान — ऐसा जो अप्रतिक्रिया और अप्रत्याख्यान दो प्रकार का उपदेश है वह द्रव्य-भाव के निमित्तनैमित्तिक — भाव को बताता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि — परद्रव्य तो निमित्त है और रागादिभाव नैमित्तिक हैं। इसप्रकार आत्मा रागादिभावों को स्वयंमेव न करने से रागादिभावों का अकर्ता ही है — ऐसा सिद्ध हुआ। इसप्रकार यद्यपि यह आत्मा रागादिभावों
समयसार गाथा २८३-२८५

का अकर्ता ही है तथापि जबतक उसके निमित्तभूत परद्रव्य के अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान है तबतक उसके रागादिभावों का अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान है। और जबतक रागादिभावों का अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान है तबतक वह रागादिभावों का कर्ता ही है। जब वह निमित्तभूत परद्रव्य का प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान करता है तब उसके नैमितिक रागादिभावों का भी प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान हो जाता है और जब रागादिभावों का प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान हो जाता है तब वह साक्षात् अकर्ता ही है।

गाथा २८३ से २८५ तक प्रवचन

इन गाथाओं में आगम के आधार से इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि आत्मा रागादि का अकर्ता किस प्रकार है?

यह अधिकार थोड़ा सूक्ष्म है, अतः ध्यान देकर सुनना। कहते हैं कि ज्ञायक स्वभावी शुद्ध चिदानंद आत्मा स्वयं अपने स्वभाव से रागादि विकाररूप नहीं होता, विकार का कर्ता नहीं होता। स्वभाव से तो आत्मा रागादि का अकर्ता ही है। अरे! अनन्तकाल से यह अपने अज्ञान से दुःखी है। प्रभु आत्मा का स्वभाव तो अकेले ज्ञान व आनन्दरूप है। वह राग को कैसे करे?

प्रश्न - यदि ऐसा स्वभाव है तो फिर इसे राग क्यों व कैसे होता है?

उत्तर - अज्ञानी ऐसा मानकर पर का लक्ष्य करता है कि में पर का स्वामी हूँ। अज्ञानी की यही मान्यता रागादि विकार उत्पन्न होने में कारण बनती है। वह अपने स्वरूप से स्वस्वामीसंबंध न करके परद्रव्यों एवं पुण्य-पाप के भावों से स्वामित्व की प्रतीति करता है। इस कारण उसे राग होता है तथा बन्ध होता है। इसमें परद्रव्य तो मात्र निमित्त कारण है। परद्रव्य रागादि उत्पन्न नहीं कराते। जब जीव स्वयं परद्रव्य के लक्ष्य से परिणत करता है, तब विकार उत्पन्न होता है।

आत्मा स्वभाव से तो रागादि का अकर्ता ही है। यदि आत्मा स्वयं अपने स्वभाव से ही रागादि शुभशुभ भावों का कर्ता हो तो द्रव्य व भाव रूप से किया
गया अप्रतिक्रिमण और अप्रत्याख्यान का दो प्रकार का उपदेश संभव नहीं होगा।

हां, प्रतिक्रिमण व प्रत्याख्यान अर्थात् उन संयोगी पदार्थों का त्याग जो विकार के उत्पन्न होने में निमित्त होते हैं। तथा भावप्रतिक्रिमण व प्रत्याख्यान अर्थात् शुभ-शारीरिक विकार का त्याग - ऐसे दोनों ही प्रकार के प्रतिक्रिमण व प्रत्याख्यान का उपदेश संभव नहीं है; क्योंकि यदि आत्मा स्वभाव से ही राग-विकार का कारक हो तो फिर वह राग-विकार को कैसे छोड़ सकता है?

वस्तुतः तो द्रव्य व भाव अप्रतिक्रिमणादि से पीछे हटने का ही उपदेश है।

पहले भी कहा था कि ‘त्रिकाली धूर्व अकेला चेतन्यमिभम्ब भगवान आत्मा राग-द्वेषादि विकारी भावों का अपने स्वभाव से तो अकारक हो है।’ और यहाँ भी प्रकारान्तर से यही कहते हैं कि यदि ऐसा न हो तो भगवान के उपदेश में जो यह आया कि ‘शुभ-शारीरिक विकार और विकार के निमित्त बाह्य वस्तुएं’ - इन दोनों से पीछे हटने का अर्थात् प्रतिक्रिमण करने का उपदेश ही संभव नहीं हो सकता। इसलिए यह निष्ठुर हुआ कि विकार एवं विकार के कारणों का आत्मा अकारक ही है तथा दोनों से ही हटने का भगवान का उपदेश है।

द्रव्य और भाव के परस्पर निमित्त-नैतिकतिकपने को जाहिर करते हुए अप्रतिक्रिमण और अप्रत्याख्यान को द्रव्य व भावरूप दो प्रकार का कहा है।

विकार का भाव तो नैतिकिक है और बाह्यस्वध श्री-पुन-परिवार, धन व्यापार-ध्वंस बगैर निमित्त हैं। इन दोनों में परस्पर निमित्त-नैतिकिक संबंध है। एक-दूसरे के परस्पर कारणपना भी उपचार मात्र है। एक में दूसरे के कारण कुछ भी होता नहीं है। एवं वे एक-दूसरे के सर्वोच्च अवधितिक हैं। जब जीव स्वयं ही स्वयं के स्वभाव को भूलकर विकार-भाव करता है, तब वहाँ निकटवर्ती अनुकूल अन्य द्रव्य अपनी योग्यता से निमित्तरूप होता है। ऐसा विकार का द्रव्य में परस्पर का निमित्त-नैतिकिक सहज संबंध है।

इन पुण्य-पाप रूपवालों के जो असंख्य प्रकार के विकारी भाव हैं, वे नैतिकतिक हैं और बाह्य वस्तुएं निमित्त हैं। यही दोनों निमित्त-नैतिकिक संबंध
समयसार गाथा २८३-२८५

है। आचार्य कहते हैं कि इन दोनों का संबंध छोड़, क्योंकि इन निमित्तों के लक्ष्य से हुआ विकार आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं है। अतः इससे पीछे हट। इस उपदेश का अर्थ ही यही है कि विकार का कर्ता आत्मा नहीं है। परंतु अज्ञानी अज्ञान भाव से स्वरूप को पर का कर्ता मानता है।

यहाँ स्वरूप से बाह्य जो पर निमित्त हैं, उन पर से उपयोग हटाने को कहा है, क्योंकि परलक्षी उपयोग को स्वरूपसमुख कराना है। ऐसा करने से ही विकार नष्ट होगा और आत्मा अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में आ जावेगा। इसी का नाम धर्म है, प्रतिक्रियामण है। ऐसा उपदेश ही दृष्ट्व व भाव के सहज निमित्त-नैचरितिक संबंध को जाहिर करता हुआ आत्मा के अकर्तापन को दर्शाता है।

अप्रतिक्रियामण व अप्रत्याख्यान दोनों ही दो-दो प्रकार के हैं। एक तो पदर्वत के लक्ष्यरूप दृष्ट्वअप्रतिक्रियामण और दूसरा पदर्वत के लक्ष्य से हुए विकाररूप भावअप्रतिक्रियामण। ऐसा है आत्मा की पर्याय में है, स्वभाव में नहीं। पर्याय में हुए अप्रतिक्रियामण का ही त्याग हो सकता है। यदि स्वभाव हो तब तो त्यागना ही संभव नहीं था और उसके त्याग का उपदेश भी संभव नहीं था।

भाई ! ये दृष्ट्व व भाव अप्रतिक्रियामण और अप्रत्याख्यान तेरी पर्याय में हैं, तू उन्हें छोड़; क्योंकि ये तेरे स्वभाव नहीं हैं। वस्तुस्वरूप से तो तू इनका अकर्ता ही है।

सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकिनाथ परमात्मा ऐसा कहते हैं कि तू अकर्ता है। जैसा में जगत का ज्ञाता-दृष्टा हूँ, तू भी वस्तु: वैसा ही ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी है। तेरे जो पुण्य व पापरूप भाव होते हैं, पर की ओर लक्ष्य जाता है - यह तेरा अकृत्त्रिमस्वभाव नहीं है। तू जो पर की ओर लक्ष्य करता है और विकार करता है - ये ! तेरा स्वरूप नहीं है। भगवान ! तू तो इनसे भिन्न निराली वस्तु है। अरे ! तेरा हमारे ऊपर भी जो लक्ष्य जाता है, वह भी अप्रतिक्रियामण ही है, अप्रत्याख्यान ही है। और की तो बात ही क्या है ? क्योंकि हम भी पदर्वत हैं न ? और पदर्वत के लक्ष्य से राग ही होता है। इसलिए पदर्वत के लक्ष्य से और राग से हट जा।
यहाँ निमित व नैमितिक दोनों ही भावों को छोड़ने के उपदेश से ऐसा सिद्ध होता है कि भगवान आत्मा स्वभाव से अकर्ष है। तात्पर्य यह है कि जो परवस्तु रूप बाह्य निमित हैं, उनका त्याग कराया है। बाह्य वस्तु के त्याग के उपदेश से तत्संबंधी भावों का भी त्याग हो जायेगा।

देखो, जबतक पूर्ण वितरागता न हो तबतक धर्म को भी देव-गुरु आदि परद्रव्य के लक्ष्य का शुभभाव आता है, किंतु वास्तव में ये अप्रतिक्रिय व अप्रत्याख्यान ही हैं। ये स्वरूप के वातिक साधन नहीं हैं।

स्त्री-पुत्र-कुटुम्बादि तो पाप के निमित्त हैं और देव-गुरु-शास्त्र आदि पुण्य के निमित्त हैं। इसकारण इन दोनों का ही प्रतिक्रिया कराया है। दोनों को ही दृष्टि में से हटाने को कहा है। बाह्यवस्तु और बाह्यवस्तु के लक्ष्य से हुए विकारीभाव आत्मा का स्वभाव नहीं हैं। ये आत्मा के त्रिकाली अस्तित्व में हैं, ही नहीं, इसलिए दोनों से मुख मोड़ने को कहा है। तथा स्वरूप की ओर वापस आने की प्रेरणा दी है।

देखो, यह बन्ध अधिकार है। इसमें यहाँ यह कहा जा रहा है कि आत्मा वास्तव में अकारक है; किंतु जबतक यह स्व-द्रव्य का लक्ष्य छोड़कर परद्रव्य के लक्ष्य से परिणत है, तबतक इसे रागादि विकार होते हैं और इससे इसे बन्ध भी होता है। यहाँ जो निमित्तस्वरूप परद्रव्य हैं तथा उनके लक्ष्य से हुए नैमितिक-संबंध हैं। इन दोनों में एकसमय का निमित्त-नैमितिक संबंध है, पर दोनों ही आत्मा के स्वभाव से भिन्न हैं। यदि आत्मा का स्वभाव विकार-रूप होने का हो तो विकार व विकार के निमित्तों के बचना संभव ही नहीं होगा। ऐसी स्थिति में द्रव्य व भाव-रूप अप्रतिक्रिया को छोड़ने का उपदेश भी निर्देशक सिद्ध होगा। परंतु ऐसा नहीं है, क्योंकि विकार नैमितिक है, स्वभाव-भाव नहीं है, स्वभाव के लक्ष्य से इन्हें अवश्य ही छोड़ जा सकता है। जैसे कि तबतक जीव कुदेव-कुगुरु आदि परद्रव्य के लक्ष्य से विकार रूप परिणत है, तबतक उसे मिथ्याविदारि भाव होते हैं और उनसे बंध भी होता है। तथा तब जीव कुगुरु-कुदेवरूप परद्रव्य का लक्ष्य छोड़ता है और उनके
ख्याति सेवन का यह छोड़कर स्व लक्ष्य में जाता है तब द्वाय एवं भाव दोनों का ही प्रतिक्रियाम हो जाता है। जिन्हें भी धर्म करना है, उन्हें अपना लक्ष्य पर की ओर से फेरना ही चाहिए। जीव अनन्तकाल से परद्रव्य के और विकार के लक्ष्य से परिणाम रहा है, इसकारण राग-द्वेशादि विकाररूप अधर्म ही हो रहा है। अतः वहें से लक्ष्य फेरकर-हटाकर स्व का लक्ष्य करना चाहिए; क्योंकि स्वरूप में परद्रव्य रूप निमित्त भी नहीं और नैमित्तिक विभाव भी नहीं।

भगवान आत्मा का स्वभाव परद्रव्य और उसके लक्ष्य से हुए विकारी परिणामों के अभाव स्वभाव रूप है। व्यवहार द्या-दान-भक्ति के विकल्प भी तेरे कर्तव्य नहीं हैं; क्योंकि जब पर के ऊपर लक्ष्य जाता है, तब ये विकल्प होते हैं। इसकारण भगवान का उपदेश है कि परद्रव्यों को एवं परद्रव्य के लक्ष्य से हुए विकारी भावों को छोड़ दे।

भगवान आत्मा चल जिनस्वरूप - बीतराग-स्वरूप ही है तथा कर्म अर्थात् पुण्य-पाप के भाव से लेकर सभी प्रकार के विकारी भाव व परद्रव्य अजीव हैं, पर हैं; क्योंकि पुण्य-पाप में आत्मा नहीं और आत्मा के स्वभाव में पुण्य-पाप नहीं। अहा ! पुण्य-पाप के भाव तो पर के लक्ष्य से हुए नैमित्तिक भाव हैं और वे स्वभाव के लक्ष्य से छोड़ने योग्य हैं।

देखो, जिनने भी विकारी भाव हैं, वे सब आत्मा की दशा में नैमित्तिक हैं और उनमें परद्रव्य निमित्त है। इन दोनों में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। यहाँ उन्हें छोड़ने की अपेक्षा है। इसकारण भगवान ने अपने उपदेश में दोनों को ही - द्रव्य व भावरूप अप्रत्यावरण को ही छोड़ने का उपदेश दिया है।

भगवान ऐसा कहते हैं कि राग व राग के लक्ष्य वाली वस्तुएँ आत्मा नहीं हैं, वे सब आत्मा से पृथक् हैं। इससे वे धर्म नहीं हैं। यह आत्मा तो अन्दर में विराजमान अनन्त गुण मण्डल चैतन्य महाप्रभु है। इसे पर के लक्ष्य से तथा पर के लक्ष्य से हुए विकार से छोड़ने और स्वभाव में ले जाने के लिए उपदेश है; क्योंकि जब यह स्वभाव में आवे तभी इसे धर्म और सुख होगा।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा प्रभु शुद्ध एक त्रिकाली द्रव्य हैं, तथा राग व राग के लक्ष्यभूत परद्रव्य आत्मा से भिन्न हैं। यदि रागादि भावों को आत्मा का स्वरूप
माना जाये अथवा आत्मा को उनका कर्ता कहा जाए तो आत्मा को रागादि के नित्य कर्त्तृत्व का प्रसंग प्राप्त होगा। और यदि यह न माना जाए कि रागादि भावों का निमित्त परद्रव्य ही है तो एक आत्मा को ही रागादि भावों की उत्पत्ति का निमित्तना मानना पड़ैगा और ऐसा मानने से आत्मा को राग का नित्य कर्त्तृत्व मानना पड़ेगा। तथा ऐसा मानने से आत्मा कभी भी राग रहित नहीं हो सकेगा।

अहा ! आत्मा पर का प्रतिक्रिमण करे, पर से पीछे हटकर स्वभाव में आये। यदि आत्मा का ऐसा स्वभाव न माना गया तो आत्मा सदा विकार करता ही रहेगा और संसार में रखड़ता ही रहेगा। राग रहित होने का प्रसंग ही नहीं आयेगा। यह महादोष उपत्यक होगा।

जबकि भगवान आत्मा तो त्रिकाल मोक्षस्वरूप वीररागस्वरूप ही है। स्वभाव से आत्मा रागादि का अकारक ही है। इसीकारण भगवान आत्मा रागादि विकार व विकार के लक्ष्य से रहित हो - ऐसा उपदेश है।

प्रश्न - यह तो ठीक, पर जब आत्मा को करना क्या है ? यह बताईये न कि आखिर हम क्या करें ?

उत्तर - भाई ! हम को तो सच्ची समझ करनी है। राग अर्थात् पुण्य-पाप के भाव तथा उनके लक्ष्यरूप पर-पदार्थों पर से दृष्टि हटाकर, उनका लक्ष्य छोड़कर आत्मसन्मुख दलने का काय्य करना है। विभाव व विभाव के निमित्तों का लक्ष्य छोड़कर स्वभावसन्मुख होने का प्रयत्न करना है। जो दया-दान, व्रत-भक्ति के शुभभाव भूमिकानुसार आते हैं, उन्हें रागरूप जानकर उनसे व उनके निमित्तों से हटकर आत्मसन्मुख होने की भावना करना है और इसी प्रकार स्वरूप सन्मुख होने का पुरुषार्थ करना है। यही करने योग्य है - ऐसी श्रद्धा और भावना निरंतर कर्तव्य है। जिन विभाव भावों को अनतोगत्वा छोड़ना ही है, उन्हें करने योग्य कैसे माना जा सकता है ?

अहा हां ! परद्रव्य निमित्त और उसके लक्ष्य से हुए रागादि भाव नैमितिक - ऐसा परस्पर निमित्त-नैमितिक संबंध बताकर परद्रव्य व
रागादि - दोनों का ही निषेध किया है और त्रिकाली आत्मा को अविकारी व अकारक स्वभाव में स्थापित किया है।

अब कहते हैं कि यदि ऐसा नहीं हो तो आत्मा स्वयं स्वभाव से ही कारक ठहरे। तथा यदि आत्मा को कारक मान लिया गया तो वह नित्य रागादि विकार ही किया करेगा। सदा दुःखों ही रहेगा। कभी भी दुःख से मुक्त नहीं हो सकेगा।

इस उपयुक्त कथन से सिद्ध है कि ‘पर द्रव्य ही आत्मा के विकार का निमित्त है, स्वद्रव्य नहीं।’ अहां! सुद्र चैतन्य मूति चिदानन्द सरसंगत आत्मा विकार होने में निमित्त कारण नहीं है। परद्रव्य ही इसके विकारी होने में निमित्त कारण है। जब परद्रव्य को ऑर लक्ष्य जाता है तथा आत्मा विकारी होता है।

अतः परद्रव्य ही विकार का निमित्त है। अष्टापाहुँड के कहा है ‘पर दब्बाओ दुगई’ अर्थात् अपने स्वद्रव्य के सिवाय परद्रव्य में लक्ष्य जाने से जो शुभाशुभभाव होते हैं वे शुभाशुभभाव ही दुर्गति के कारण हैं।

अष्टापाहुँड के इस कथन में से कोई ऐसा अर्थ निकाल सकता है कि - पर द्रव्य ही आत्मा में राग-ड्रेस करते हैं, परद्रव्य ही दुर्गति के हेतु हैं, पर उनका ऐसा अर्थ निकालना अथार्थ नहीं है; क्योंकि परद्रव्य के लक्ष्य से एवं स्वर्ग अपनी योग्यता से तदरूप परिणाम होते हैं और आत्मा की दुर्गति होती है।

अथवा उसमें विकारी भाव उत्पन्न होते हैं। परद्रव्य किसी को विकार नहीं करता। राग में स्वामित्वबुद्धि ही वस्तुतः विकार का कारण है। इस अपेक्षा परद्रव्य ही आत्मा को पुण्य-पाप आदि का निमित्त है। ऐसा स्वीकार होने पर आत्मा स्वयं स्वतः तो रागादि का अकारक ही ठहरता है। जो इस टीका में प्रारंभ में कहा था - वह बात अब भली-भांति सिद्ध हो गई।

इसप्रकार भगवान आत्मा शुद्ध एक ज्ञाननदस्वरूप प्रभु रागादि का अकारक ही है। रागादि का मूलकारण तो परवस्तु का निमित्तपना और स्वामीपना है। जब राग व राग के लक्ष्य वाले परद्रव्य की ओर का स्वामीपना छूटता है, तब आत्मा स्वभाव का स्वामी होता है और तभी वह रागादि का अकारक ज्ञातादृश्य होता है।
प्रश्न – यह तो समझने में भारी कठिन पड़ता है। धर्म करने का इससे सरल कोई उपाय नहीं है?

उत्तर – अरे भाई! यही सबसे सरल मार्ग है। इससे सरल अन्य कोई उपाय नहीं है। इसके सिवाय सभी उपाय संसार के ही कारण हैं, जिन्हें अज्ञानवश लोगों ने मुक्तिमार्ग मान रखा है।

अब कहते हैं कि – आत्मा स्वभाव से तो अकारक ही है, तथापि जवाब वह निमित्तभूत परद्रव्यों का प्रतिक्रमण नहीं कर पाता, उनसे विमुख होकर स्वरूप की ओर नहीं झुक पाता, परद्रव्य का लक्ष्य छोड़कर वहाँ से उपयोग को हटा नहीं पाता, तबतक वह नैमित्तिकभूत रागादि भावों का प्रतिक्रमण नहीं कर पाता। अहा …! वह अनादि से परद्रव्य के लक्ष्य में अटका है। स्वयं जो ज्ञानान्दस्वरूप है, उसमें नहीं आता, परद्रव्यों के निमित्तों से ही गिर रहा है।

यद्य पालन, व्रत करूँ, पूजा-पाठ करूँ, भक्ति करूँ, इसप्रकार परद्रव्य के लक्ष्य में अटक रहा है। इसप्रकार के निमित्तभूत लक्ष्य से जबतक हटता नहीं तबतक नैमित्तिक रागादि से भी वह नहीं हट सकता।

अज्ञानी निमित का लक्ष्य छोड़ता नहीं है। इसकारण निमित के लक्ष्य से हुए विकारी भावों को भी कैसे छोड़ सकता है? पर के लक्ष्य में उपयोग जायेगा तो विकार तो होगा ही। जबतक पररक्ष्य से हटेगा नहीं तबतक नैमित्तिक विकार से भी वह नहीं बच सकता।

इस उपरुक्त कथन से कुछ लोग ऐसा अर्थ निकालते हैं कि – परपद्रव्यों को छोड़े तो परद्रव्य के संबंध से हुआ विकार छूट जायेगा। इसलिए परद्रव्य को छोड़ने का उपदेश देने लगते हैं। परंतु यहाँ तो यह कहा है कि जो परद्रव्य का लक्ष्य छोड़ता है तो उसके लक्ष्य से होनेवाले विकार को भी छोड़ देता है।

अहा अहा …! जबतक जीव निमित्तभूत परद्रव्य का लक्ष्य नहीं छोड़ता तबतक उनका प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान नहीं करता। तभी तक उसके निमित्त से होने वाले नैमित्तिक-पुण्य-पाप के भावों का भी प्रत्याख्यान व प्रतिक्रमण नहीं होता। जबतक परद्रव्य का लक्ष्य रहता है तबतक तो भूषाशुभ विकार ही होता है। तथा जबतक वह विकार के भावों का प्रतिक्रमण नहीं करता,
समयसार गाथा २८३-२८५

प्रत्याख्यान नहीं करता तबतक वह कर्ता होता है। अहा … ! अज्ञाती राग-द्र०ष्ट्र भावों का कर्ता ही है। यद्यपि वस्तु का स्वभाव अकर्ता है, परंतु निमित्त व निमित्त के लक्ष्य से हुए विकार को जबतक त्यागता नहीं है तबतक वह उसका कर्ता ही है।

‘आत्मा स्वभाव से तो रागादि का अकर्ता ही है।’ पर ध्यान रहे, यह कथन द्र०यस्‍वभाव की अपेक्षा से किया गया कथन है। पर्याय की अपेक्षा कहें तो बात यह है कि – जब तक जीव स्वभाव का लक्ष्य नहीं करता, परद्र०य का ही लक्ष्य करता रहता है; तबतक वह परंके लक्ष्य से होनेवाले राग-द्र०ष्ट्र-मोहादि भावों को नहीं छोड़ता। और तबतक वह उनका कर्ता ही है।

भाई, यह वीरातिता का मार्ग यद्यपि बहुत सूक्ष्म है, परंतु इसका फल अनन्त आनन्द व अनन्त सुख है। देखो, जब जीव विकार के निमित्भूत परद्र०य का लक्ष्य छोड़ता है, तब वह नैमितिकभूत विकार को छोड़ता है। तथा जब विकारी भावों को छोड़ता है तब साक्षात् अकर्ता होता है। स्वभाव से तो जीव सदैव अकर्ता ही है, परंतु निमित्त-नैमितिक संबंध के छूटने पर पर्याय में भी साक्षात् अकर्ता हो जाता है।

यहाँ ‘निमित्भूत परद्र०य को छोड़े’ – ऐसा जो कहा – उसका अर्थ परद्र०य को छोड़ना नहीं है, बल्कि परद्र०य के लक्ष्य को छोड़ने की बात कहीं है। परद्र०य तो छूटा हुआ ही है, उसे जब ग्रहण ही नहीं किया तो छोड़ने का प्रयास ही कहाँ से उठ सकता है। परद्र०य तो छूटा ही पड़ा है। उसे पकड़ा ही कब था जो छोड़े? वस्तुतः आत्मा तो परद्र०य के ग्रहण-त्याग से रहित ही है।

गाथा २८३ से २८५ के भावार्थ पर प्रवचन

‘अत्यतिकाल में जो परद्र०य का ग्रहण किया था’ – इस कथन का अर्थ यह है कि – इन शरीर, वाणी, इन्द्रियाँ और स्त्री-पुत्र परिवार, धनादि परिपार्दशी को जो अबतक अपना मानकर उनके उपर अपना लक्ष्य केन्द्रित किए थे, उन सब परद्र०यों को वर्तमान में भला जानना, उनके संस्कार रहना और उनके प्रति ममत्व रखना द्र०य अप्रतिक्रियम है।
यहाँ द्रव्य का अर्थ है परवस्तु और अप्रतिक्रिमण का अर्थ है उस पर से उपयोग या लक्ष्य का न हटना। यही द्रव्य अप्रतिक्रिमण है। अपनी शुद्ध चेतन्य सत्ता को छोड़कर पूर्व में प्रभाव किए हुए शरीरादि में रूक जाना, अटक जाना। द्रव्य अप्रतिक्रिमण है।

तथा शरीरादि परपदार्थों के निमित्त से पूर्व में जो राग-द्वेर के भाव हुए, उन्हें वर्तमान में भला जानना, उनके संस्कार रहना, उनमें ममत्त्व रहना भाव-अप्रतिक्रिमण है। अहा ! पूर्व में जो परद्रव्यों के लक्ष्य से राग-द्वेरादि भाव हुए थे, उनसे वर्तमान में निवृत्त न होना, उनसे उपयोग को पीछे नहीं हटाना - बस, इसी का नाम भाव अप्रतिक्रिमण है। यह अज्ञात का सबसे बड़ा मिथ्यालूप पाप है।

‘मैंने अनेक लोकोपकार के कार्य किए, जनता की सेवा की, लाखों रुपया दान दिया, जीवों की रक्षा की’ आदि रूप में परद्रव्यों के लक्ष्य से जो राग-विकार हुआ था, उसे वर्तमान में भला जानना, उनके संस्कार रहना और उनका ममत्त्व रहना - यह भाव अप्रतिक्रिमण है।

पूर्व में जो परद्रव्य रूप देव-शास्त्र-गुरु मिले थे, उनके लक्ष्य से पीछे नहीं हटना द्रव्य-अप्रतिक्रिमण है। तथा उन्हें भला मानकर उनके प्रति जो राग हुआ उसे वर्तमान में भला जानकर निवर्ततमान नहीं होना वह भाव अप्रतिक्रिमण है।

इसी प्रकार आगामी काल संबंधी परद्रव्यों की वांछा रखना, ममत्त्व रखना द्रव्य अप्रतिक्रिमण है तथा उन परद्रव्यों के निमित्त से आगामी काल में होनेवाले रागादि भावों की वांछा रखना, ममत्त्व रखना भाव अप्रतिक्रिमण है।

भविष्य में शरीर स्वस्थ एवं सुन्दर मिले तो ठीक, सुख-सामग्री अनुकूल मिले तो ठीक; भविष्य के लिए परद्रव्यों की ऐसी वांछा रखना, उनमें ममत्त्व रखना द्रव्य अप्रतिक्रिमण है। तथा परद्रव्य के निमित्त से आगामी काल में होनेवाले पुष्प-पापादि भावों की वांछा रखना, भविष्य में ऐसे शुभशुभ भाव हों तो ठीक; ऐसी विभाव भावों की वांछा रखना, उनका ममत्त्व रखना भाव अप्रतिक्रिमण है।
समयसार गाथा २८३-२८५

अहाहां …! चैतन्य मूर्ति आत्मा जो अकेला पवित्रता का पिण्ड है। ऐसी अपनी निर्विकार निर्मल पवित्र वस्तु को भूलकर शरीरादि परद्रव्यों के साथ एकत्र-ममत्व रूप बांध करना द्रव्य अप्रत्याध्याय है। देव गुरु शास्त्र का लक्ष्य करके भविष्य में इनका संयोग हो – ऐसी बांध रखना तथा उनके प्रति ममत्व करना द्रव्य अप्रत्याध्याय है। तथा उनके लक्ष्य से जो शुभाशुभ भाव हों तो वे ठीक हैं – ऐसी बांध करना भाव अप्रत्याध्याय है।

जिनवाणी में अप्रत्याध्याय और अप्रत्याध्याय का दो प्रकार से उपलब्ध है, जो द्रव्य-भाव के निमित्त-नैन्दित्तक भाव को दर्शाता है। तात्त्वर्य यह है कि जो राग-द्वेषादि विकार पर्याय में होते हैं, उनका कारण आत्मा नहीं है तथा वे आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, किन्तु जो विकारी परिभाषा हैं, वे नैन्दित्तक हैं तथा जिसके लक्ष्य से वे विकार होते हैं, वे परद्रव्यों के निमित्त हैं। इसप्रकार परद्रव्य और उसके लक्ष्य से पर्याय में हुए विकारभावों के परस्पर निमित्त-नैन्दित्तकपना है, कर्त्ता-कर्मपना नहीं। नैन्दित्तक विकार को निमित्त उत्पन्न नहीं करता। हाँ, निमित्त के लक्ष्य से नैन्दित्तक भाव-विकारभाव उत्पन्न होता है।

ये शरीर, वाणी एवं आठ द्रव्यकर्म मिट्टी हैं, पौर्वालिक हैं; इनके साथ भगवान आत्मा का कोई संबंध नहीं है। अहां …! जगत की प्रत्येक वस्तु भगवान आत्मा से संबंध रहित है, भिन्न है, तथा उन परद्रव्यों के लक्ष्य से, निमित्तों के लक्ष्य से उत्पन्न हुए रागदि भाव नैन्दित्तक होने से भगवान आत्मा से भिन्न हैं।

देखो, आत्मा स्वभाव से पर का अकर्ता होते हुए भी जबतक इसको भूतकाल व भविष्यकाल के परद्रव्यों के लक्ष्य का लंब कर नहीं है, तब तक उसको नैन्दित्तक रागादि भावों का भी अप्रत्याध्याय व अप्रत्याध्याय है। तथा जब तक वह उन भूत व भविष्य के परद्रव्य संबंधी राग-द्वेषादि विकारी भावों को नहीं छोड़ता तबतक वह उन राग-द्वेषादि भावों का कर्त्ता ही है।

अहां …! जबतक भूत व भविष्य काल के विकारी भावों का – पुण्य-पाप के भावों का इसे प्रेम है, संस्कार व ममत्व का भाव है, तबतक वह रागादि का कर्त्ता ही है। स्वभाव से अकर्ता है, तथापि जबतक विकार को व परद्रव्यों
को भला मानकर परिणमत है, तबतक अज्ञान भाव से वह रागादि का कर्ता ही है।

अहाहा न्याय! आत्मा जब भूतकाल संबंधी परद्रव्यों के लक्ष्य से हटता है, तथा भविष्य के परद्रव्यों का भी वर्तमान में त्याग करता है, उसे नैमितिक रागादि भावों का दृष्टि में से त्याग हो जाता है। तथा आनंदकेंद्र प्रभु आत्मा का लक्ष्य व ग्रहण हो जाता है। यही सच्चा प्रतिक्रियाषण है एवं प्रत्याख्यान है। अहाहा न्याय! जब जीव निमित्तभूत द्रव्य व नैमितिक विकार को दृष्टि में से छोड़कर स्वद्रव्य का लक्ष्य करता है और इसी का आश्रय करता है, तब उसे रागादि का प्रतिक्रियाषण व प्रत्याख्यान होता है। तभी ज्ञानी आत्मा साक्षात् अकर्ता होता है।

अहाहा न्याय! यह धर्म का गार्गदर्शन करने वाली अलौकिक बात है। कहते हैं ‘परवस्तु तथा परवस्तु के निमित्त से होनेवाले भूतकाल व भविष्य काल संबंधी विकारों से पीछे हटकर उनका त्याग करने निर्विकारी निज शुद्ध ज्ञानन्दस्वरूप में साध्वधान होकर लीन होने के नाम ही समक्ष एवं धर्म है।’

अहाहा न्याय! आत्मा शुद्ध चैतन्यमय वस्तु है, वह एक ही समय में अर्थात् एक ही साथ पूर्ण ज्ञान व आनन्द का सागर है। ऐसे पूर्ण परमात्मस्वरूप निज आत्मा का आश्रय एवं लक्ष्य किए बिना अनद्य में - भूतकाल के शरीर से पर द्रव्यों के रूप में अनुकूलन का वेदन होना ही अप्रतिक्रियाषण है। तथा उन परद्रव्यों के निमित्त से अपने में हुए रागादि भावों में अपनापन ही भाव अप्रतिक्रियाषण है।

इसीप्रकार और भी वर्तबुद्धिभनाराऊ आदि बाला मजबूत शरीर हो तो ठीक है; क्योंकि इसी से केवलज्ञान आदि होते हैं; तथा भविष्य में पुनः मनुष्य पर्याय मिले तो ठीक है, क्योंकि नरभव से ही मुक्ति होती है आदि। इसतरह भविष्य के लिए परद्रव्यों की पराधीनता संस्कारों एवं ममत्व को ठीक मानना द्रव्य अप्रत्याख्यान है तथा इन परद्रव्यों के निमित्त से जो रागादि भाव होते हैं, उनमें भलेपन की बुद्धि एवं ममता रखना भाव अप्रत्याख्यान है।
अरे…! इस जीव का अनन्तकाल में अब तक ‘स्व’ व ‘पर’ की भिन्नता का भेदज्ञान हुआ ही नहीं है। पर में ही सदा से एकत्र बुद्धि की है।

यहाँ कहते हैं कि – ‘भूत-भविष्य संबंधी परद्रव्यों को एवं परद्रव्यों के निमित्त से हुए अपने रागादि भावों की एकता तोड़कर जब स्व-स्वभाव में एकता करें, तब ही सच्चा प्रतिक्रियमण एवं प्रत्याख्यान होता है। ये प्रतिक्रियमण एवं प्रत्याख्यान ही यथार्थ धर्मस्वरूप हैं। जब जीव विकार व विकार के निमित्तों से पीछे हटकर शुद्ध स्वभाव में आये, तब साक्षात् अक्षरता होता है।

(शारूलविक्रियित)

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्।
तमूलां बहुभावसंततिमिमामुद्वर्तुकामः समम्॥
आत्मानं समपैति निर्भरवहत्पूर्णेषसंविद्वृते॥
येनोमूलितंबंध एषं भगवानात्मातमनि स्फूर्तिः॥

श्लोकार्थ – [इति] इसप्रकार (परद्रव्य और अपने भाव की निमित्त-नैमीतिकता को) [आलोच्य] विचार करके [तद्-मूलां-इमाम् बहुभावसंततिम् समम् उद्वर्तुकामः] परद्रव्यमूलक बहुभावों की सन्तति को एक ही साथ उखाड़ फेंकने का इच्छुक पृष्ठ [तद् किल समग्रं परद्रव्यं बलात् विवेच्य] उस समस्त परद्रव्य को बलपूर्वक (उद्यमपूर्वक, पराक्रमपूर्वक) भिन करके (-त्याग करके), [निर्भरवहत्-पूर्ण-एक-संविद्ध-चुंंत आत्मानं] अतिरिक्ता से बहते हुए (-भारावाही) पूर्ण एक संवेदन से युक अपने आत्मा को [समपैति] प्राप्त करता है [येन] कि जिससे [उम्मूलितबंधः एषः भगवान् आत्मा] जिसने कर्मविध्य को मूल से ही उखाड़ फेंका है ऐसा वह भगवान आत्मा [आत्मनि] अपने में ही (-आत्मा में ही) [स्फूर्तिः] स्फुरायमान होता है।

भावार्थ – जब परद्रव्य की और अपने भाव की निमित्त-नैमीतिकता जानकर समस्त परद्रव्य भिन करने में - त्यागने में आते हैं तब समस्त रागादि भावों की सन्तति कट जाती है और तब आत्मा अपना ही अनुभव करता
हुआ कर्म बन्धन को काटकर अपने में ही प्रकाशित होता है। इसलिये जो अपना हित चाहते हैं वे ऐसा ही करें। ॥ १७८ ॥

कलश १७८ पर प्रवचन

आठ कर्मों से प्रत्यक्ष अनुपम, चिदन्धु भगवान आत्मा स्वदृढ्य है। इसके सिवाय यह शरीर-वाणि, कर्म-नोकर्म, स्त्री-पुत्र-परिवार एवं देव-शास्त्र-गुरु आदि सब परदृढ्य हैं। जिन्हें आत्मा का कल्याण करना हो, उन्हें ये समस्त परदृढ्य त्यागने चाहिए। अर्थात् परदृढ्य रूप जितने भी निमित्त हैं, आश्रय हैं, उन्हें छोड़ना चाहिए; क्योंकि परदृढ्य का लक्षण या आश्रय करने से सागारी विकार होता है। जो स्वदृढ्य का आश्रय छोड़कर परदृढ्य रूप निमित्तों का आश्रय करते हैं, उनको इसके निमित्त से नैमितिक भाव के रूप में राग-द्वेष-मोह के भाव होते हैं।

अहाँ…! परदृढ्य निमित्त हैं एवं उनके निमित्त से मेरे में उत्पन हुए राग-द्वेष-मोह के भाव नैमितिक हैं - ऐसा विचार कर परदृढ्य जिनका मूल है ऐसी बहुभाव संतति - विकार संतति को एकसाथ उखाड़ कर फेंकने की इच्छा वाला पुरुष समस्त परदृढ्य को उद्धमपूर्वक हटाकर पूर्ण एक स्व-संबंधत से युक्त अपने आत्मा को प्राप्त करता है।

‘परदृढ्य जिसका मूल है’ इस कथन का कितने ही लोग उल्टा अर्थ करते हैं। वे कहते हैं देखो…! देखो…! साफ लिखा है कि ‘परदृढ्य विकार करता है।’ पर इसका वास्तविक अर्थ यह नहीं है।

अरे भाई ! परदृढ्य के लक्ष्य से विकार ही होता है, इसकारण विकार की संतति का मूल परदृढ्य को कहा है। विकार के भावों की प्रवाह रूप संतति जो उठती है, उनका मूलकारण तो परदृढ्य का आश्रय, परदृढ्य का स्वामीपन्ना और परदृढ्य के अश्रय से हुए विकार का स्वामीपन्ना है।

अहां…! स्वदृढ्य अर्थात् अपना आत्मा शुद्ध एक चैत्यमूर्ति प्रभु ज्ञान व आनंद रूप लक्ष्मी का भंडार है। शेष सब पर दृढ्य हैं। यहाँ कहते हैं कि - अपने स्वदृढ्य को छोड़कर लोकलोक की समस्त वस्तुएँ परदृढ्य रूप
निमित्त हैं। उनके आश्रय से विकार होता है। अहा! देव-शास्त्र-गुरु व साक्षात् तीर्थकर परमात्मा भी क्यों न हो ? वे भी स्वदेश की अपेक्षा पर ही हैं। और उनके लक्ष्य से भी पूण परिणाम रूप - शुभराग रूप विकार होता है। बीतरागता की अपेक्षा सभी राग विकार रूप ही हैं न?

अहाहा …। एकमात्र चैतन्य मूर्ति, आनन्दस्वरूप स्वदेश के आश्रय से ही निर्विकार, कल्याणस्वरूप धर्म का परिणाम होता है। इसके सिवाय जो परदर्शन का आश्रय करके परिमें तो अकल्याणस्वरूप विकार की संतति का प्रवाह उत्पन्न होता है।

मूलपाठ में ‘तनमूला’ शब्द का शब्दार्थ – दोष का मूल कारण परदर्शन है, ऐसा लिखा है। परन्तु उसका अभिप्राय पं. राजमलजी ने कलश टीका में स्पष्टकरण करते हुए लिखा है कि ‘परदर्शन का स्वामित्व है मूल कारण जिसका।’ तात्पर्य यह है कि विकार की संतति का मूल कारण परदर्शन नहीं बल्कि परदर्शन का स्वामीपन्न है। अहा! पूर्णज्ञान व आनन्दस्वरूप आत्मा का स्वामीपन्न छोड़कर परदर्शन का स्वामी बनना एवं पर का स्वामित्व स्वीकार करना ही विकार की संतति का मूल है।

प्रश्न – दूसरों को समझाने से धर्मप्रचार तो होता है न?

उत्तर – हाँ, यह ठीक है, पर भाषा तो परदर्शन है न! और उसका आश्रय लेने तो विकार ही होगा। अन्य का आश्रय लेने से विकार ही होता है। भले ही वह परदर्शन का आश्रय पूण धर्मरूप हो अथवा पाप कार्यरूप। विकार तो दोनों ही हैं न? निर्विकारस्वरूप तो एक शुद्धात्मा ही है। पर का आश्रय तो बहुभाव संतति का एवं विकार का ही मूल है।

समक्षति को स्वदेश का आश्रय हुआ है, परंतु अभी वह स्वदेश का आश्रय अपूर्ण है। अभी उसको कुछ पर का आश्रय भी है। इतना कारण उसको अल्प रागादि होता है। धर्म प्रचार का भाव भी उसे होता है; परंतु उसे मिथ्याल नहीं होता; क्योंकि उसका उसमें स्वामित्व व कर्तृत्व नहीं रहा। तथा अज्ञात की ऐसी मान्यता है कि दूसरे मुझे समझा सकते हैं अथवा में दूसरों को समझा
सकता हूँ। इसप्रकार उसको परद्रव्य के आश्रय में स्वामीपने की बुद्धि वर्तती है। इसकारण उसे मिथ्यात्व व राग-द्वेष की परमपरा ही बद्धती है।

मोक्षपाहुँड की १६वीं गाथा में कहा है कि ‘स्वद्रव्य के आश्रय से सुगति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है, तथा परद्रव्य के आश्रय से दुर्गति अर्थात् मलिन संसार की प्राप्ति होती है।’ वहाँ १३वीं गाथा में भी कहा है कि – ‘स्वद्रव्य में रति मोक्ष का कारण है तथा परद्रव्य में रति संसार का कारण है।’

अब स्वद्रव्य व परद्रव्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि परद्रव्य के तीन प्रकार हैं – सचित्त, अचित्त व मिथ्य। सचित्त में अरहत भगवान से लेकर निगः मोक्ष तक सभी आत्मायें सचित्त हैं। एक परमाणु से लेकर महास्कन्ध तक सब अचित्त हैं। तथा शिशु, नगर, स्त्री-परिवार आदि सहित सब मिथ्य हैं। इनमें से किसी भी सचित्त, अचित्त व मिथ्य परद्रव्य का आश्रय लेने से विकार ही होता है।

इनसे भिन्न आठकरी हैं से सहित निर्मल, निर्विकार, शुद्ध चैतन्यपन प्रभु आत्मा स्वद्रव्य है। इस स्वद्रव्य का आश्रय लेने से कल्याण रूप परम वीरतां भाव होता है। अहा ! वीरतार का यह मार्ग तो देखो ! वीरतारी सर्वज्ञ देव ऐसा कहते हैं कि – हमारे सामने देखो तुम्हें राग ही होगा; क्योंकि हम भी तुम्हारे लिए परद्रव्य हैं। अहो ! ऐसी अलौकिक वात वीरतारी शासन के सिवाय अन्यत्र कहीं भी नहीं है।

अहा ! जिसके निमित्त से नये-नये कर्म बंधते हैं उस विकारी परिणति की संतति का मूल परद्रव्य का स्वामीपन है। तथा स्वद्रव्य का स्वामीपन मुक्ति का कारण है। अहा ! वराश्रय से बंध व स्वाश्रय से मुक्ति – यह सबका संक्षिप्त सारांश है।

यहाँ बन्ध अधिकार में परद्रव्य का आश्रय बंध का कारण कहा है। समयसार नातक में कविवर बनारसीदास ने मोह व रागदेश के परिणाम को बंध का कारण कहा है। तथा कलश टीकाकार श्री राजमल्लाजी ने परभाव के स्वामीपन का मूल कारण कहा है। मोक्षपाहुँड में ‘पर द्वायो दुर्गाई’ ऐसा कहा है। पर इन सबका अर्थ एक ही है।
एक ओर भगवान आत्मा स्वयं शुद्ध जीव तत्त्व है। तथा दूसरी ओर जीव तत्त्व से भिन्न पुण्य-पाप के भाव आस्व तत्त्व है तथा एक्षेत्रावगाही शरीर व कर्म अजीव तत्त्व है।

यहाँ कहते हैं कि एक समय की जो आत्मा की पर्याय है, वह भी व्यवहार से आत्मा है। अहा ! आत्मा इस पर्यायबुद्धि में व पराश्रय की बुद्धि में ही अनादिकल से रह रहा है। अब इसे निर्वचन शुद्ध अखण्ड एक जायकस्वभाव रूप अपने जीव तत्त्व में - स्वव्रुत्त में स्थापित करके स्वव्रुत्त के आश्रय से जितने अंश में स्वभावित दशा होती है वह धर्म है, मोक्ष का कारण है। तथा स्व का आश्रय छोड़कर जितने अंश में परद्रवः के आश्रय में जायेगा उतना उसे विकार होगा। चाहे वह पराश्रय रूप भाव समपद शिखर में हो, चाहे सातास्तु तीर्थकर देव में ही क्यों न हो? जितना परद्रवः का आश्रय होगा उतना विकार होगा ही होगा और बंध भी होगा ही होगा।

परमात्म प्रकाश में आया है कि ‘भगवान की दिव्यध्वनि भी आत्मा का ज्ञान करने में समर्थ नहीं है।’

अहा ⋯⋯ ! इस बहुभाव संतति को एक ही साथ उखाड़ फेंकने की इच्छा वाला पुरुष असंख्य प्रकाश के शुभाशुभ भावों की संतति को एक साथ उखाड़ फेंकना चाहता है। अतः वह समस्त परद्रवः को अपने सम्पूर्ण पुरुषार्थ के बल द्वारा भिन्न करके सभी परद्रवः से भेदज्ञान करके भले ही वे परद्रवः धर्म के सर्वोत्कृष्ट अरहंत भगवान ही क्यों न हों? उन सबको अपने निज आत्मा से भिन्न जानकर जब निज स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान करता है, तब अपने आत्मा को प्राप्त करता है।

अहा ⋯⋯ ! सिंहादि पशु, मनुष्य और देवता समोसरण में आते हैं। तथा अत्यत्न निर्भय और नम्र होकर विनयपूर्वक भगवान की वाणी सुनते हैं। किंतु जब तक वहाँ भी जिनवाणी सुनने व जिनेवाद देव के दर्शन का लक्ष्य है तबतक तो राग ही है, विकल्प जाल ही है। यहाँ कहते हैं कि ‘इस विकल्प जाल को, राग की संतति को उखाड़ फेंकने की भावना रखने वाला बड़े उद्धमपूर्वक इस
राग को भी छोड़ देता है। वह सर्व परद्रव्य को अपने से भिन्न कर देता है अर्थात् सर्व परद्रव्य की ओर से अपना ध्यान हटा लेता है।

‘समस्त परद्रव्यों को भिन्न करके’ इस कथन का कुछ लोग ऐसा अर्थ
करते हैं कि ‘सब कुछ छोड़कर जंगल में चले जाओ। परंतु भाई! यह जंगल
में नहीं, बल्कि अन्दर आत्मा में जाने की बात है। अहा … ! जिसको अपने
चैतन्य महाप्रभु का आश्रय हो गया है, वह बाहर में, घर में हो या वन में, उसे
tो दोनों ही परद्रव्य रूप से एक समान हैं।

हाँ, घर में या वन में रहने का वर्तमान में जितना लक्ष्य है, उतना राग है।
वह उस राग को भी अनतर्गती पुरूषार्थ के चल से छोड़ देता है और स्वरूप
kो प्राप्त कर लेता है।

यद्यपि परद्रव्य अन्दर आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो गया। शास्त्र में स्पष्ट लिखा
है कि ‘आत्मा परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से शून्य है; क्योंकि आत्मा में एक
t्यागोपादान शून्यत्व नाम की शक्ति है।’ फिर भी जो ऐसा कहा जाता है कि
परद्रव्य को छोड़ो या परद्रव्य का त्याग करो, उस कथन का क्या अभिप्राय है?

अरे भाई! यह भी एक उपदेश की शैली है, जिनानम की कथन पद्धति
है। ऐसा कहकर आचार्यदेव ने तत्संबंधी राग का त्याग करने को कहा है।
जिसके लक्ष्य से राग होता है, उस परद्रव्य का लक्ष्य छोड़ ! उस तरफ से
अपने उपयोग को हटा ले! पर की ओर का लक्ष्य हटते ही तत्संबंधी राग मिट
जाता है। तब, उसे ही परद्रव्य का त्याग किया – ऐसा कहा जाता है। बंध
अधिकार है न? अतः यहाँ परद्रव्य के लक्ष्य अथवा आश्रय से ही बंध होना
kहा है। और परद्रव्य का लक्ष्य या आश्रय छूटते ही उस जाति का राग छूट
jाता है – इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है।

यहाँ कोई शिष्य विनयपूर्वक पूछता है कि – यदि ये सब बंध के कारण
hैं तो आप भी इन बंध के कारणों को क्यों एकत्रित कर रहे हो ? ये पच्चिस-
pच्चिस लाख के विशाल जिन मन्दिर बनवाये, बीस-बीस लाख पुस्तकें
प्रकाशित कराया? आज भी बराबर पुस्तकें छपना व मन्दिर बनना चालू है।
आखिर यह सब क्या है?
उत्तर - अरे भाई! मन्दिर व पुस्तकें तो प्रगट परद्वार्य हैं। इनकी क्रिया
tो जिस काल में, जिनके निमित्त से होनी होती है, वह सब अपनी स्वतंत्र सत्ता
से होती है। हाँ, उस काल में जिनको उन परद्वारों के आश्रय से जो शुभभाव
होता है वह भी अपने स्वतंत्र स्वच्छता से होता ही है, उसे कौन रोक सकता
है, परंतु है वह सब बंध ही का कारण। भगवान के दर्शन करना एवं भगवान
की वाणी सुनना - सब शुभभाव है। इससे पुण्यबंध होगा, धर्म नहीं होगा।

अहाँा …! सर्व राग संतति को उखाड़ कर फैलने की भावना वाला
पुरुष आत्मसमुखता के पुरुषार्थ से समस्त परद्वारों को अपने से धिन करके,
परद्वार की ओर का लक्ष्य छोड़कर पूर्ण स्वरूप भगवान आत्मा का पूर्ण आश्रय
करता है, तब पर्याय में पूर्ण स्वसंबंधन प्रगट होता है, आत्मा की प्राप्ति होती
है, आत्मा के आनंद का पूर्ण धारावाही वेदन प्रगट हो जाता है। बस वह धर्म है।

बात बहुत सूक्ष्म है, पर बात यही सत्य है। इसे जानना पड़ेगा। ऐसे स्व-
संबंधन से युक्त पुरुषार्थ जो वही अपने आत्मा को प्राप्त करता है। अब तक
जो परद्वार के लक्ष्य से अपने में विकार उत्पन्न करता था, अब वही स्वद्वार
के पूर्ण आश्रय से अनुभव में आते हुए पूर्ण एक स्व-संबंधन सहित आत्मा को
प्राप्त करता है।

अब कहते हैं कि ‘जिसने उपयुक्त उपाय से अपने भगवान आत्मा का
अनुभव किया है, आत्मा को प्राप्त कर लिया है, उसके ही कर्मों को मूल से
उखाड़ फैलने की शक्ति प्रगट होती है। अथवा वही तत्काल समस्त विकारी
संतति का नाश करता है।’

यहाँ ‘धारावाही’ भाव जो कहा है उसका अर्थ है निरंतर एक के बाद
एक - ऐसी पूर्ण निर्मल धारा प्रवाहित होना, शतां आनन्द की धारा प्रवाहित
होने लगना। जैसा त्रिकाल स्थिर आत्मतत्त्व धूव है, उसी प्रकार उसके आश्रय
से प्रवाहित होती आनन्द की धारा भी धूव रूप से प्रवाहित होती रहना। अर्थात्
जैसा आत्मा अनादि-अनन्त है, उसी प्रकार वह धारा सादी-अनन्त है। ऐसा
समझना।
अहाहा …! आत्मा शुद्ध-बुद्ध चैतन्यचन प्रभु अन्द्र स्वभाव से सिद्ध समान ही है। तथा ‘अतति गच्छिति इति आत्मा’ जो ज्ञान व आनन्द के स्वभाव रूप परिणमे, वह आत्मा है। जो राग व व्यवहार में परिणमे वह आत्मा नहीं है। आत्मा का जैसा जितना पूर्ण स्वभाव है, उस पूर्ण स्वभाव रूप परिणमन करना ही वस्तुतः आत्मा है।

ऐसे परिपूर्ण आत्मा का सम्पूर्ण रूप से आश्रय करने से, जिसके शेष सम्पूर्ण कर्मों का नाश हो गया हो तथा पूर्ण आनन्द का वेदन होने लगा हो, तब आत्मा ने पर्याय में पूर्णता प्राप्त कर ली - ऐसा समझना चाहिए। इसे ही आत्मोपलब्ध कहते हैं।

यहाँ कहते हैं कि ‘ऐसा यह भगवान आत्मा अपने में ही स्फुरायमान होता है। जब हम आत्मा को भगवान कहते हैं तो कुछ लोगों को अच्छा नहीं लगता। वे कहते हैं। पहले आदमी तो बनो, फिर भगवान बनने की बात करना।’

उससे कहते हैं कि भाई ! अन्दर में तो आत्मा भगवान स्वरूप ही है।

‘भग’ यानि ‘ज्ञान’ व ‘वान’ बाला – इसप्रकार आत्मा भगवानस्वरूप ही है।

अहा ! ऐसा अपार महिमावंत आत्मा, जिसके मूल में से ही कर्म उखड़ गया है तथा पूर्ण आनन्द का वेदन प्रगट हुआ है, वह अपने आप में ही स्फुरायमान है।

अहाहा …! ऐसा भगवान आत्मा जिसने कर्मों को मूल से उखाड़ फेंका है वह शक्ति रूप से तो पहले से ही अपार महिमावंत है, पर्याय में भी स्वरूप से ही वैसा ही स्फुरायमान होकर प्रगट हो जाता है। जैसा शक्ति रूप से है, वैसा ही पर्याय में प्रगट होता है। यह अबन्ध स्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय का अबन्ध दशा रूप फल है।

कलश १७८ के भावार्थ पर प्रवचन

‘परदृश्य का और अपने भाव का निमित्त-नीमित्तिकपना जानकर …’। यहाँ आचार्य कहते हैं कि ‘आत्मा त्रिकाली शुद्ध सच्चिदानन्द प्रभु स्ववस्तु है। तथा इस आत्मा के सिवाय जगत की सर्व वस्तुएँ - शरीर, मन, वाणी, कर्म,
ध्यान-व्यापार, मकान-महल एवं देव-शास्त्र-गुरु आदि सब पर हैं। इन सब परद्व्रयों का अपने विकार के साथ निमित्त-नैमितिकता है।' इसका तात्पर्य यह है कि परद्व्रय निमित्त हैं और उनके लक्ष्य से हुए अपने विकारी परिणाम नैमितिक हैं। भाई! चाहे साक्षात्तू तीर्थकर परमात्मा की स्तुति का भाव ही क्यों न हो, परंतु वह शुभभाव भी परलक्ष्य से हुआ होने से विकार है, धर्म नहीं।

जब ऐसा यथार्थ ज्ञान व श्रद्धा होता है तब समस्त परद्व्रय भिन्न करने में, त्याग के आते हैं और समस्त रागादि भावों की संतति नष्ट होने लगती है।

अहा …! समस्त परद्व्रय (देव-शास्त्र-गुरु भी) मुझ से भिन्न हैं – ऐसा विवेक करके, भेदज्ञान करके परद्व्रय से लक्ष्य हटा लेना ही परद्व्रय को भिन्न करना है, त्यागना है।

शुद्ध आनंदकन्द प्रभु स्वतंत्र है। इसकी पर्याय में जितने भी पूण्य-पाप के भाव होते हैं, वे सब नैमितिक भाव परद्व्रय के लक्ष्य से हुए हैं।

अब कहते हैं कि ‘जितने भी परद्व्रय और परद्व्रय के लक्ष्य से हुए विकार हैं – उन सबका लक्ष्य छोड़ दे, तभी ‘परद्व्रय का त्याग किया’ – यह कहा जा सकेगा।’

वास्तव में तो आत्मा पर से रहित ही है। इसने जब पर वक्रभी ग्रहण ही नहीं किया तो त्यागने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। आत्मा में पर का ग्रहण-त्याग है ही नहीं। परंतु इस संसारी जीव ने आनंद से अपने शुद्ध निविदास्वरूप को भुला रखा है। तथा जो परवस्तुएँ इसके अत्यन्त निकट हैं, एकक्षेत्रावगाही हैं; उनमें अपनपन होने से उनका लक्ष्य करके उनके आश्रय से परिणमता है, इसकारण उसको पूण्य-पाप के भावरूप विकार ही हुआ करते हैं। तथा जब वह पर का लक्ष्य व आश्रय छोड़ देता है तो वे पर के निमित्त से होनेवाले नैमितिक भाव (विकार) भी छोड़ देता है या छूट जाते हैं। तब यह कहा जाता है कि उसने परद्व्रय का त्याग किया। वस्तुतः बात तो यही है कि एक वस्तु जब दूसरी वस्तु का ग्रहण ही नहीं करती तो त्यागने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता; क्योंकि एक में दूसरी वस्तु का अभाव है। यदि वस्तु
का स्वरूप ऐसा न होता तो सब वस्तुएँ एकमेक हो जातीं। जब जीव स्वद्रव्य का आश्रय लेता है तब जितनी मात्रा में परद्रव्यों का आश्रय छोड़ता जाता है, उतनी मात्रा में ही उसे स्व का आश्रय होता जाता है। तथा उसी अनुपात में उसके रागादि कर्म क्षीण होते जाते हैं। जब वह पूर्ण रूप से परद्रव्य का आश्रय छोड़ देता है, तब उसे स्वद्रव्य का आश्रय भी पूर्णरूप से हो जाता है। और तब उसके समस्त रागादि की संतति क्षीण हो जाती है।

यहाँ जो यह कहा है कि - 'अपना ही अनुभव करते हुए' इसका अर्थ यह है कि - जब जीव सर्व परद्रव्य से हटकर शुद्ध एक ज्ञानानंद घन भगवान आत्मा में एकाग्र होकर उसी के ध्यान में रहता है तब धर्म होता है और कर्म क्षीण होते हैं। इसप्रकार कर्मवन्धन को क्षीण करके स्वयं ही स्वयं को प्रकाशित करता है।

अहा...! स्वद्रव्य का ध्यान होनेपर जैसा अन्तरंग में चैतन्यस्वभाव है, वैसा ही चैतन्यस्वभाव पर्याय में प्रगत-प्रकाशित हो जाता है। इसलिए जो अपना हित चाहते हों उन्हें उपयुक्त कार्य करना चाहिए।
समयसार गाथा २८६-२८७

द्रव्यभावयोनिमित्तनैमितितक्षाहोदाहरणाः चैतत् —

आधाकम्मादिया पोढगलद्व्यस्य जे इमे दोशा।
कह ते कुञ्जवदि गणे परद्रव्यगुणा हु जे गिच्चव। || २८६ ||
आधाकक्रमं उदाहिसिं च पोढगलमयं इमं दल्व।
कह तं मम होदि कर्णं जं गिच्चवमचेदानं वुतं। || २८७ ||
अथः कर्मचा: पुढळगलद्व्यस्य य इमे दोषा।
कर्थं तात् करति ज्ञानी परद्रव्यगुणास्तु ये नित्यम्। || २८६ ||
अथः कर्मद्विमिश्रिकं च पुढळमयमिदं द्रव्यं।
कर्थं तत्मम भवति कृतं यत्रत्यमचेतनमुक्तम्। || २८७ ||

यथाधः कर्मनिश्चयमुद्धेराचिनिष्ट्रं च पुढळगलद्व्यं निमित्त्बूतमप्रत्याचक्षाणो
नैमितिक्भूतं बंधसाधकं भावं न प्रत्याचर्चे, तथा समस्तस्मि
परद्रव्यमप्रत्याचक्षाणस्तत्त्रिमित्तं भावं न प्रत्याचर्चे। यथा चाधः कर्मदीनः
पुढळगलद्व्यदोषाः नाम करोत्तत्त्वा परद्रव्यपरिणामात्वे सति
आत्मकार्यत्वाभावात्, ततोधः कर्मद्विमिश्रिकं च पुढळगलद्व्यं न मम कार्यं
नित्यमचेतनत्वेऽ सति मत्कार्यत्वाभावात्। — इति तत्त्वज्ञानपूर्वकं पुढळगलद्व्यं
निमित्त्बूतं प्रत्याचक्षाणो नैमितिक्भूतं बंधसाधकं भावं प्रत्याचर्चे, तथा
समस्तस्मि परद्रव्यं प्रत्याचक्षाणस्तत्त्रिमितं भावं प्रत्याचर्चे। एवं
द्रव्यभावयोरितं निमित्तनैमितिक्भावः।

अब द्रव्य और भाव को निमित-नैमितिकरता का उदाहरण देते हैं :-

अथः कर्मक आदि जो पुढळ दरब के दोष हैं।
परद्रव्य के गुणारूप उनको ज्ञानिन जैसे करें? || २८६ ||
उद्देशिक अथ: कर्म जो पुढळ दरविमय अचेतन।
कहे जाते बे सदा मेरे किए किस भाँति हों? || २८७ ||

गाथार्थ — [अथ: कर्मचा: ये इमे] अथ: कर्म आदि जो यह
[ पुढळद्रव्यस्य दोषा: ] पुढळद्रव्य के दोष हैं उनको ज्ञानी अर्थात् आत्मा


टीका – जैसे अध:कर्म से उत्पन्न और उद्देश्य से उत्पन्न हुए निमित्वभूत (आहारादि) पुद्गाल द्रव्य का प्रत्याख्यात न करता हुआ आत्मा (मुनि) नैमितिकभूत वन्धसाधक भाव का प्रत्याख्यात (त्याग) नहीं करता, इसीप्रकार समस्त परद्रव्य का प्रत्याख्यात न करता हुआ आत्मा उसके निमित्त से होने वाले भाव को नहीं त्यागता और, "अध:कर्म आदि पुद्गालद्रव्य के दोषों को आत्मा वास्तव में नहीं करता क्योंकि वे परद्रव्य के परिणाम हैं इसलिये उन्हें आत्मा के कार्यत्व का अभाव है; इसलिये अध:कर्म और उद्देशिक पुद्गालकर्म मेरा कार्य नहीं है क्योंकि वह नित्य अचेतन है इसलिये उसको मेरे कार्यत्व का अभाव है;" – इसप्रकार तत्त्वज्ञानपूर्वक निमित्वभूत पुद्गालद्रव्य का प्रत्याख्यात करता हुआ आत्मा (मुनि) जैसे नैमितिकभूत वन्धसाधक भाव का प्रत्याख्यात करता है, उसीप्रकार समस्त परद्रव्य का प्रत्याख्यात करता हुआ (त्याग करता हुआ) आत्मा उसके निमित्त से होनेवाले भाव का प्रत्याख्यात करता है। इसप्रकार द्रव्य और भाव को निमित्त नैमितिकता है।

भावार्थ – यहाँ अध:कर्म और उद्देशिक आहार के वृद्धान्त से द्रव्य और भाव की निमित्ननैमितिकता दृढ़ की है।

जिस पपकर्म से आहार उत्पन्न हो उसे अध:कर्म कहते हैं, तथा उस आहार को भी अध:कर्म कहते हैं। जो आहार, ग्रहण करनेवाले के निमित्त से ही बनाया गया हो उसे उद्देशिक कहते हैं, ऐसे (अध:कर्म और उद्देशिक) आहार का जिसने प्रत्याख्यात नहीं किया उसने उसके निमित्त से होनेवाले भाव
गाथा २८६ व २८७ पर प्रवचन

अब दो गाथाओं में द्वारा व भाव के सहज निमित्त-नैनिमित्तिकपने को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं -

पाँच स्थावर व त्रस इन छह काय की हिंसा जन्य आरंभ आदि कर्म को अध्यक्ष कहते हैं। ऐसे अध्यक्ष के निष्पत्त आहार को भी अध्यक्ष करते हैं। साधुधन अध्यक्ष कुक्कुट किसी भी काय को कृत्त-कारित अनुमोदना नहीं करते। तथा इसी महादेश से बचने के लिए वे उद्धिद्द्य या उद्देशिक आहार भी नहीं लेते। साधु के कहने से साधु के लिए गृहस्थ यदि आहारादि बनाता है, पानी भर कर लाता है, उसे उष्ण करता है, अनेक अध्यक्ष की रसोई बनाता है, तो उसे उद्देशिक आहार कहते हैं।

ऐसे अध्यक्ष के बना उद्देशिक आहार मुनि के योग्य नहीं है, तथापि यदि ऐसे आहार को मुनि राज ग्रहण करते हैं तो उन्हें उससे पापबन्ध ही होता है। वह तो वस्तु: व्यवहार से भी मुनि कहलाने के योग्य नहीं है। यह बात कहने-सुनने में अच्छी नहीं लगती, पर क्या करें वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

यह सब नग दिगम्बर मुनि की बात है, अन्य वस्त्रधारी साधु तो दिगम्बर जैनधर्म के अनुसार साधु ही नहीं हैं।

यहाँ तो यह बात है कि - कोई बाह्य में नग दिगम्बर साधु हो, पंचमहाब्रह्मों का पालन करता हो, सम्पूर्ण साधुचर्या का निर्णाय बारबार करता
हो, फिर भी यदि उस साधु को यह पता लग जाए, किसी कारण से यह जात हो जाए कि ‘यह आहार अमुक गृहस्थ द्वारा मेरे उद्देश्य से बनाया गया है’ और वह साधु उसे ग्रहण कर ले तो उस साधु को उद्देशिक आहार ग्रहण करने का महान दोष लगता है। इसे ही उद्देशिक आहार कहते हैं, जो सच्चे साधु को चर्चित है। साधु उद्देशिक आहार नहीं लेते हैं। यदि कोई ऐसा उद्देशिक आहार लेता है तो साधु ने उसके निमित्त से उल्टा भिंड साधक पाप का प्रत्याख्यान नहीं किया।

इसी प्रकार जो साधु उपदेश द्वारा अथवा व्यक्तिगत कह कर अपने लिए आहार बनाने की प्रेरणा देता है, तो वह आहार अथःकर्म दोष से दूसित है।

प्रश्न — शास्त्रों में तो ऐसा आता है कि जिन्होंने साधुओं को आहार दान दिया, उन्होंने साक्षात् मोक्षमार्ग ही दिया है।

उत्तर — हाँ, आता है; पर यह तो निर्ग्रन्थ साधुओं को दिये गये निर्दोष आहार दान की भाव है। भाई … जो अन्दर में बीतराग निर्मलपरिवर्तित से परिणम हैं और जो अच्छे निर्दोष आहार पानी ग्रहण करते हैं, उन्हें निर्दोष आहार दान देने वाले दाता की महिमा बताने के लिए व्यवहार से ऐसा कहा है। मोक्षमार्ग में उसे बाध्य सहकारी जानकर व्यवहार से ऐसा कहा है। व्यवहार में जहाँ जैसी अपेक्षा हो, वहाँ वैसा ही अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

अथःकर्मांदि जो पुदगलद्रव्य के दोष हैं, उन्हें वस्तुत: आत्मा नहीं करता; क्योंकि वे परद्रव्यों के परिणाम होने से आत्मा में उनके कार्यपने का अभाव है।

प्रश्न — यदि यह आत्मा का कार्य नहीं है तो फिर उस आहार के लेने में मुनि को क्या बाधा है?

उत्तर — जब मुनिराज को उद्देश्य आहार लेने का वाह्य ही नहीं होता तो वे आहार में सकते या नहीं ले सकते यह वात ही कहाँ से आई? इसी कारण कहा गया है कि यह उनका कार्य ही नहीं है। मुनिराज स्वयं कहते हैं कि ‘अथःकर्म आदि अशुद्धता हमारा कार्य ही नहीं है’
अहाहाः…! मुनिराज तो शुद्ध ज्ञानान्तरधर्मेः आत्मा में अन्तर्निःमग्न होते हैं। वे सम्यंदर्शन-ज्ञान व प्रचुर आनंद के स्वामी हैं। इसकारण उनकी भूमिका में उद्देशिक आहार न लेने का भाव सहज है, इसी को उनके उद्देशिक आहार का त्याग व प्रत्याख्यान कहा जाता है। अधःकर्म व उद्देशिक आहार तो पुद्गाल द्रव्य का कार्य है। उसको जो मुनिराज लेते हैं, यह उनके राग का अज्ञानमय कार्य है। ऐसा राग तो यथार्थ मुनिदशा में होता ही नहीं है। इसलिए मुनियों ने कहा है कि ‘यह हमारा कार्य नहीं है।’ अचेतन होने से इसमें मुनिराज के कार्यपने का अभाव है।

आत्मा ज्ञान और आनंद से भरा त्रिकलीतत्व है। ऐसे आत्मा के समुख होकर परिणमने से जीव की व्यवहारिक भावों की रूचि टूट जाती है। अन्तर्दृष्टि करनेवालों को व्यवहार की रूचि नहीं रहती। यही सचमुच व्यवहार का त्याग है।

राग चाहे देवशास्त्र-गुरु का व पंचमहाब्रह्माओं का भी व्यों न हो? जब तक इसे शुभराग में भी रूचि रहेगी, तब तक आत्मा के स्वभाव का त्याग है। तथा तब अन्तरस्वभाव की रूचि होती है तब व्यवहार की रूचि का त्याग हो जाता है। धर्मों के भूमिकानुसार व्यवहार होता हो तो है, परंतु व्यवहार की रूचि नहीं रहती। ऐसी स्थिति में मुनिराज उद्देशिक आहार शैली शरीर कर सकते हैं? नहीं कर सकते। उद्देशिक आहार लेने का भाव तो जड़-अज्ञानमय राग है। अतः इसे ग्रहण करने का राग मुनिराज का कार्य हो ही नहीं सकता।

पहले तो व्यवहार का जो राग है, वह स्वद्रव्य से विरुद्ध पदार्थ है। अन्यत्र पर्याय को जो पदार्थ कहा है वह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो व्यवहार की या राग की जितनी भी क्रियाएँ हैं, वे सब परमार्थों: पदार्थ हैं — यह कहा है। तथा पदार्थ के कार्य को अपना मानना तो मिथ्यात्व है। ऐसा मिथ्याभाव ज्ञानी-समक्षित के कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। ज्ञानी का व्यवहार का राग आता है, परंतु उसके प्रगट पदार्थ रूप जो व्यवहार है, उसकी रूचि छूट गई है।
अब यहाँ चरणानुयोग का उदाहरण देकर उद्देशिक आहार का मुनियों के त्याग होता है – यह बात कही है। मुनिराज के जब विशेष अन्तर स्थिरता होती है, चारित्र के आन्द्र में विशेष रमणता होती है – ऐसी अन्तरंग की स्थिति होने पर मुनिराज कहते हैं – यह जो उद्देशिक आहार है, वह जड़ से बना जड़ है और इसके ग्रहण करने का भाव भी जड़ है। इस जड़ में हुए जड़ के कार्य को चैतन्य आत्मा कर ही कैसे सकता है? मुनिराज के तो उद्देशिक आहार के ग्रहण करने के भाव का अभाव ही होता है। यही सन्या प्रत्याख्यान है।

देखो …! सम्यगदर्शन रहित उद्देशिक आहार का त्याग करते हुए उपवास तो अज्ञानी ने अनन्त बार किये। परमु इससे क्या? धर्म संबंधी तो कुछ भी लाभ नहीं हुआ। जब तत्व पूर्वक – सम्यगदर्शन सहित उद्देशिक आहार सम्बंधी लक्ष्य छूट जाये तथा तत्संबंधी राग का कार्य भी छूट जाये तो ही वास्तविक मुनिपन्ना है।

यहाँ कहते हैं कि तत्त्वज्ञानपूर्वक अर्थात् आत्मज्ञानपूर्वक उद्देशिक आहारादि को त्यागता हुआ मुनि नैमितिकभूत बंधसाधक भाव को त्यागता है। देखो …! उद्देशिक आहार लेने का भाव बंधसाधक भाव है, जो कि मुनिराज के होता ही नहीं है। इस कारण कहा है कि मुनिराज उद्देशिक आहार के लक्ष्य को छोड़ते हैं। तथा उसके निमित्त से होने वाले विकार के बंध के परिणाम को छोड़ते हैं। उनको बंध साधक भाव नहीं होता; वे अबंध रहते हैं।

मुनिराज को यदि ख्याल में आ जावे कि यह आहार उद्देशिक है, मेरे लिए बनाया है – फिर भी वे ले लेवे तो उनके बंधसाधक भाव होता है।

गृहस्थाश्रम में समक्ती–तत्त्वज्ञान के जो आहारादि का भाव होता है, वह बन्ध भाव है। वह बन्धभाव उनकी अस्थिरता का दोष है, जो गृहस्थ की भूमिका में होता ही है। यहाँ तो मुनिदशा की बात है। मुनिदशा की अन्तर की स्थिरता ऐसी होती है, जिससे वह निमित्तभूत उद्देशिक आहार के लक्ष्य को छोड़ता हुआ उसके लक्षगत बन्धसाधक भाव को भी छोड़ता है। तात्पर्य यह है कि मुनिराज को उद्देशिक आहार लेने का भाव उत्पन्न ही नहीं होता। उद्देशिक आहार के निमित्त से हुए नैमितिक भाव ही नहीं होते।
अहाहा … ! भगवान आत्मा शुद्ध एक ज्ञातक स्वभावी प्रभु त्रिकाल परमात्मा प्रवृत्त्व है। इसमें एकायः सभी परद्रव्यों का लक्ष्य छोड़ता हुआ आत्मा उसके निमित्त से हुए भावों का प्रत्याख्यान करता है। यहाँ उदेश्यक आ अध्यक्ष का तो दृष्टांत मात्र दिया है। वस्तु: सिद्धांत तो यह है कि सभी परद्रव्य, जिसमें देव-शास्त्र-गुरू जैसे परमपूज्य निमित्त भी सम्मिलित हैं। उन सब के लक्ष्य को छोड़ता हुआ साधक उसके निमित्त से हुए राग को भी छोड़ता है। अहा … ! उस साधक का ज्ञान अत्यन्त स्थिर हो जाता है। बस इसी का नाम प्रत्याख्यान है।

भाई! यहाँ सभी निमित्त-नैमितिक संबंध तोड़ने की बात है। निःसचय से मुनि गार्गों तो एक शुद्धपोषक ही है। परद्रव्य संबंधी जो विकल्प होते हैं, उनमें मुनित्व नहीं है। ‘जयधवला’ ग्रन्थ में तो स्पष्ट रूप से ऐसा लिखा है कि ‘मिनेन एक शुद्धपोषक की प्रतिज्ञा की थी, परंतु में उसमें नहीं रह सका। तथा यह छह काय के जीवों की दया का विकल्प हुआ है, निर्दोष आहार लेने का विकल्प हुआ है, इससे मेरी वह प्रतिज्ञा टूट गई है, इससे प्रत्याख्यान का भंग हुआ; क्योंकि पर की ओर अपने मन का झुकाव होना विकार है, दोष है। एक स्वद्रव्य की ओर झुकाव होना ही निर्विकार है।

देखो … ! मुनिराज को निर्दोष आहार लेने का विकल्प आता है। इसमें मुनित्व को कोई बाधा नहीं है। इससे मुनिपना नहीं जाता। किंतु यदि इन्हें अध्यक्ष, उदेश्यक आदि दोषपूर्वक आहार लेने का विकल्प आवे तो मुनिपना नहीं रहता।

यहाँ तो यह कहते हैं कि ‘मुनिराज के सभी परद्रव्यों के ओर का झुकाव छूट जाता है। आहार का, विहार का, देव-शास्त्र-गुरू की भक्ति के भाव का झुकाव छोड़कर एक स्व-द्रव्य में आना तथा उसी में स्थिर रहना ही मुनिराजों का मूढ़ धर्म है। यही वास्तविक मुनिदशा है। अर्थ है ऐसी मुनिदशा!’

प्रश्न – यदि ऐसा है तो उन्हें प्रतिक्रिया प्रत्याख्यान करना चाहिए या नहीं?
उत्तर — स्वदृढ्य में आना एवं स्थिर रहना तो अस्ति से प्रतिक्रिमण का स्वरूप है। तथा परदृढ्य से छहकाय के जीवों की रक्षा आदि के विकल्पों से भी छूटना — यह नास्ति प्रतिक्रिमण है। अहाहा …! निर्मलानन्दनाथ आत्मा में आकर ठहरना — बसना तथा पर से खसना-हटना दोनों एक ही बात के दो पहलू हैं। दो जुदी-जुदी बातें हैं वह कहाँ?

अहा …! भाषा तो देखो ! जिसप्रकार मुनि उद्देशिक आहार को छोड़ते हुए तत्संबंधी बंधसाधक भावों को छोड़ते हैं, उसी प्रकार आत्मा के सिवाय जितने भी परदृढ्य हैं, उन सबकी ओर के लक्ष्य को छोड़ते हैं। तथा वे तत्संबंधी हुए भावों को भी छोड़ते हैं। और यह सब तत्वात्मानपूर्वक ही होता है। समस्त परदृढ्यों का प्रत्याख्यान करते हुए वे मुनिराज तत्संबंधी नैमितिक विकार को छोड़ते हैं। परदृढ्य में जो लक्ष्य जाता वह चारित्र का दोष था। उसका प्रत्याख्यान करते हुए मुनिराज उस चारित्र के दोष को छोड़ते हैं।

लोगों को यह लगता है कि यह तो अकेले निश्चय की बात हुई। साथ में व्यवहार भी तो होना चाहिए न?

उनसे कहते हैं कि भाई ! व्यवहार भी होता है, इससे कौन इन्कार कर सकता है? परंतु वह निश्चय के साथ का व्यवहार भी वन्ध का ही कारण है ऐसा जानकर मुनिराज उसे हेतु मानते हैं। व्यवहार से निश्चय होता है — ऐसी मात्र गूणरूप से असत्वार्थ है। 'पर' का लक्ष्य करे और 'स्व' का लक्ष्य हो जाय — यह कैसे हो सकता है? यह तीन काल में भी संभव नहीं है। यह अंधेरे को उजाले का कारण कहने जैसा है। व्यवहार का लक्ष्य 'पर' के ऊपर है और निश्चय का लक्ष्य 'स्व' के ऊपर है। दोनों की दिशाएं ही परस्पर विरुद्ध हैं। फिर भला व्यवहार से निश्चय कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

यहाँ तो सर्व परदृढ्यों से छूटने की बात कही है। निर्दोष आहार लेने भी विकल्प है। निर्दोष आहार लेने से मुनिपना खण्डित नहीं होता, उसमें कोई दोष भी नहीं लगता। परंतु यहाँ प्रत्याख्यान व प्रतिक्रिमण के प्रकरण में परदृढ्य का सर्वथा आश्रय छोड़कर एक स्वदृढ्य का पूर्ण आश्रय करने की बात है।
समयसार गाथा २८६-२८७

क्योंकि तभी केवलज्ञान की प्राप्ति के योग्य स्थिति बनती है; पूर्णता की प्राप्ति होती है; जो कि मुनिराजों का परम ध्येय है।

सारांश यह है कि इसप्रकार समस्त परद्रव्य रूप निमित्त और उन निमित्तों के लक्ष्य से तथा उनके संबंध से हुए विकारी भावों को मुनिराज त्यागते हैं, प्रत्याख्यान करते हैं। तभी सम्पूर्णतया स्वद्रव्य का आश्रय होता है और केवलज्ञान होता है।

इसके सिवाय जिनके उद्देश्य आदि दोष युक्त आहार लेने का बंध साधक भाव होता है, उनके तो यथार्थ मुनिपन्न ही नहीं रहता। सच्चे मुनिराजों को भी जबतक निर्दोष आहार-पानी लेने का भाव, छहकाय के जीवों की रक्षा का भाव - विकल्प रहता है, तब तक केवलज्ञान नहीं होता।

प्रथम तो व्यवहार से लाभ मानने की दृष्टि ही झूठी है, समकक्षी को ऐसी दृष्टि नहीं होती। समकक्षी को शुद्ध निश्चय की दृष्टि होते हैं पर व्यवहार में हेयपना तो हो जाता है। परन्तु स्वद्रव्य के आश्रय में जितने अंश में कम्री रहती है, उतना बंधसाधक भाव-व्यवहार का भाव उत्पन्न होता है। इस प्रकार मुनिराज की भूमिका में भी यथाक्रम व्यवहार होता है। फिर भी व्यवहार में उनकी हेयवुद्ध ही वर्तती है। इस कारण वे स्वद्रव्य के उग्रतापूर्वक आश्रय से समस्त परद्रव्य का लक्ष्य छोड़ते हुए सर्व व्यवहार को उड़ा देते हैं। तथा स्वद्रव्य का पूर्ण आश्रय करके केवलज्ञान उत्पन्न कर लेते हैं।

गाथा २८६-२८७ के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ अध:कर्म व उद्देश्य आहार के दृष्टान्त से द्रव्य व भाव के निमित्त-नैमितिककपन को दृढ़ किया है।

अध:कर्म से बना आहार व उद्देश्य आहार - ये दोनों परद्रव्य रूप निमित्त हैं। तथा इनके आश्रय से उत्पन्न हुआ विकारी भाव नैमितिक है। इस प्रकार द्रव्य व भाव का निमित्त-नैमितिककपन है। जो निमित्त का लक्ष्य करता है, उसे नैमितिक विकारी भाव होता है। इसप्रकार निमित्त-नैमितिककपन का सहज व्यवहार उत्पन्न होता है।
तृत्यर्थ यह है कि - जितना नैमित्तिकरूप से विकार होता दिखाई देता है अथवा जितना निमित-नैमित्तिक संबंध दिखाई देता है, उतना स्वदेश का आश्रय नहीं है - यह सिद्ध होता है।

अज्ञानी को तो स्वदेश का आश्रय सर्वथा ही नहीं है। जब जीव अपने आत्मा का - स्वदेश के स्वरूप का प्रथमबार आश्रय लेता है तब सम्यग्दर्शनरूप अबंध परिणाम उत्पन्न होता है और तब ही उसकी व्यवहार की रूचि छूट जाती है। तत्त्वाचात् यह जितना परदेश रूप निमित का लक्ष्य छोड़ता है, उतना तत्त्वाचात् राग छोड़ता है। तब स्वदेश के आश्रय से उसको स्थिरता बढ़ती है।

प्रश्न - अधःकर्म का व्यय अर्थ है?

उत्तर - साधुजन यह कहेंगे कि - हमारे लिए अमुक प्रकार का आहार-पानी बनाओ! तथा गृहस्थ उनके नर्तेशानुसार आहार बनाये तो वह अधः कर्म से उत्पन्न हुआ आहार है। साधु अपने आहार के बारे में किसी श्रावक से कभी कुछ भी नहीं कहते। अपने आहार बनाने का निर्देश नहीं देते।

प्रश्न - और उदेशिक आहार क्या है?

उत्तर - साधु ने गृहस्थ से स्पष्ट तो नहीं कहा कि मेरे लिए अमुक प्रकार का आहार बनाओ, परन्तु उन्हें यह ज्ञात भी हो जावे कि गृहस्थ ने हमारे उदेशी से विशेष व्यवस्था की है तो वह आहार उन्हें उदेशिक आहार हो गया। अतः अपने उदेशी से बने आहार को भी ग्रहण नहीं करते।

यहाँ उदेशिक आहार के दृष्टांत से द्रव्य व भाव के निमित-नैमित्तिकपने को दूर किया है। आहार निमित एवं उसके आश्रय से उत्पन्न हुआ विकारी भाव नैमित्तिक है। इस प्रकार निमित-नैमित्तिकपना समझाया है।

अब कहते हैं कि जिसने तत्त्वाचात्मनपूर्वक आहार का प्रत्याख्यान किया है, शुद्ध अन्तःतत्त्वात्मा के ज्ञान-श्रद्धान पूर्वक जिसने उदेशिक आहार का त्याग किया है, उसने ही उसके निमित्त से हुए विकारी भावों का प्रत्याख्यान किया है। दिगम्बर भावलिंगी मुनिवरों को उदेशिक आदि सदोष आहार लेने का भाव ही नहीं होता।
प्रश्न — यह ठीक है, पर तीर्थयात्रा तो करनी चाहिए न?

उत्तर — भाई! वस्तुतः तो अन्तर्गत में विद्यमान स्वदृढ्य अर्थात् निजस्वरूप भगवान ज्ञायक की अन्तर्यात्मा करने से ही धर्म होता है। अतः यथार्थ में तो एक मात्र अन्तर्यात्मा करना ही धर्म का मूलभूत साधन है। इसी से धर्म होता है। इसके सिवाय अशुभ से बचने के लिए व्यवहार में जिन्निम्ब्र आदि के लक्ष्य से शुभभाव हों तो भले हों, पर उनसे धर्म नहीं होता। वे धर्म का कारण भी नहीं हैं। वस्तुतः तो ये सब बंध-साधक भाव ही हैं।

प्रश्न — जब ऐसी बात है तो इन सबके करने से क्या लाभ?

उत्तर — अरे भाई! जब तक पूर्ण वीतरागता नहीं होती तब तक शुभ तो क्या अशुभ भाव तक आये बिना नहीं रहते। इन्हें करता कौन है? कोई कर भी नहीं सकता। पर भूमिकानुसार हुए बिना भी नहीं रहते। जानो इन्हें कर्म-बुद्धि से नहीं करते। जो होते हैं, उनके भी ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं।

देखो, जो परदृढ्य को ग्रहण करता है अर्थात् परदृढ्य के लक्ष्य से परिणमता है, उसको राग-द्वेषादि भाव हुए बिना नहीं रहते। अज्ञानी उनका कर्म जोकर परिणमता है तथा कर्म का बंध भी करता है।

देखो, जीव जब आत्मात्मानी होता है, तब उसको परदृढ्य को ग्रहण करने का राग नहीं होता। इस समय उत्कृष्ट मुनिपने की बात है। इससे कहते हैं कि उसके रागादि परिणमन भी नहीं होता। जब परदृढ्य पर लक्ष्य नहीं रहता तो तत्त्वंबिधि रागादि परिणमन भी नहीं होता। तथा उसके आगामी बंध भी नहीं होता।
इसप्रकार ज्ञानी परद्रव्य का कर्त्ता नहीं है। अहा …! समस्त परद्रव्य के लक्ष्य को छोड़ता हुआ ज्ञानी उस परद्रव्य के लक्ष्य से उत्पन्न हुए रागादि विकारी भावों को भी छोड़ देता है। जहाँ तक अस्थिरता है, वहाँ तक किंचित् परद्रव्य के लक्ष्य से राग का परिणाम होता है, किंतु यहाँ तो सर्व परद्रव्य के लक्ष्य को छोड़कर पूर्णरूपेण स्व का अश्रय करके सर्व अस्थिरता को छोड़ते हुए पूर्ण बीतार गोंगे की बात है।

( मन्दाक्रान्ता )
रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणाः।
कार्यं बंधं विविधमधुना सद्य एव प्रणुदा॥
ज्ञानज्योति: क्षिपततिरिं साधु सतन्त्रमेतत्।
तत्वद्वृत्तप्रसरमपर: कोषय नास्याव्रृणोति॥ १७९॥

इति बंधो निष्क्रान्तः।
इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरतिनिर्विरिचरितायाः समयसारव्याख्यायामातमख्यातों बंध प्ररूपकः: सप्तमोऽऽऽः॥


भावार्थं – जब ज्ञान प्रगट होता है, रागादिक नहीं रहते, उनका कार्य जो बन्ध वह भी नहीं रहता, तब फिर उस ज्ञान को आवृत करनेवाला कोई नहीं रहता, वह सदा प्रकाशमान ही रहता है॥ १७९॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com
कलश १७९

टीका – इसप्रकार बन्ध (रंगभूमि से) बाहर निकल गया।

भावार्थ – रंगभूमि में बन्ध के स्वांग ने प्रवेश किया था। जब ज्ञानज्योति प्रगट हुई कि तब वह बंध स्वांग को अलग करके बाहर निकल गया।

कलश १७९ एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

देखो! यह लोकोत्तर मार्ग की बात है। यहाँ कहते हैं कि बन्ध के कारण भूत जो अनादि से राग-द्वेष-मोह के भाव होते रहे हैं, ज्ञानी अपने भगवान आत्मा के आश्रय से उनका नाश कर देता है।

तत्त्वचर्चा और तत्त्वरूप की कमी के कारण आजकल तो लोगों को यह समझना-समझाना भी मुश्किल हो रहा है कि राग-द्वेष क्या हैं? और उनसे आत्मा कैसे-कैसे कष्ट उठाता है?

सारा जगत यह माने बेठा है कि ‘में दूसरों का भला करता हूँ, बुरा करता हूँ, भला-बुरा कर सकता हूँ। जगत का कल्याण कर दूँ’ – उसकी यह मान्यता बन्ध के कारण रूप तथा मिथ्यात्मा व रागादि भाव रूप है। ज्ञानी स्वभाव के उपुरुषार्थ से उन मिथ्यात्मा व रागादि भावों का निर्देशात्मक नाश कर देता है। 

तात्पर्य यह है कि जब वह रघ्वर अपने शुद्ध एक ज्ञानांदस्वभाव में संलग्न रहता है तो राग उत्पन्न ही नहीं होता। इसे ही निर्देशपूर्वक नाश करना कहा जाता है। अहाहा क्या! अन्दर जब निर्दोष निर्विकारी दशा होती है, तब सदोष दशा का नाश हो जाता है।

लोग तो स्वी-पुत्र-परिवार और धंधा आदि के राग को ही राग समझते हैं। परन्तु भाई! दया, दान, भक्ति, पूजा और अहिंसा आदि व्रतों के परिणाम भी सब राग ही हैं, ये कोई शुद्ध चेतना के परिणाम नहीं हैं। अहाहा क्या! चेतन्यप्रकाश का पुंज, चेतन्य ज्योतिस्वरूप प्रभु आत्मा अन्दर में ज्योति के रूप में जगमगाता है, प्रकाशित होता है। उसमें ये शुभेशुभ भाव नहीं हैं। यह बात चाहे समझ में बैठे या न बैठे, पर बात यही सत्य है। भगवान आत्मा तो त्रिकाल, सच्चवदानं, शाश्वत चेतन्य और आनंद का धाम है।
अहा ! अपने ऐसे चैतन्यस्वरूप का आश्रय लेकर जब जीव पर परकी ओर से उपयोग को हटा लेता है तो उसके मोह-राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते। इसे ही रागादि का नाश किया कहा जाता है। अहा ... ! ऐसे अपने स्वरूप में ध्यानारूढ होकर आठ-आठ वर्ष के बालक भी केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पधारे हैं। अपने में भी ऐसी ही शक्ति है। ये आज तक हमने उस शक्ति को जाना/पहचाना नहीं है। पर की महिमा के आगे हमें अबतक अपनी महिमा आई ही नहीं, भासित ही नहीं हुई। वाह्य में देव-शास्त्र-गुरु के गीत गाने मात्र से क्या होने वाला है? वह तो राग है, वंध का कारण है। यहाँ कहते हैं कि - ऐसे वंध के कारणों का नाश करती हुई जो ज्ञान्योगित प्रगट होती है, वह धर्म है।

अहाहा ... ! भगवान आत्मा एक ज्ञान-ज्ञान का ही भंडार है, ऐसे ज्ञान स्वरूपी आत्मा का भान नहीं होने से धर्म का लाभ नहीं हुआ।

प्रश्न - धर्म परिणति कैसे प्रगट होती है? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'पर के लक्ष्य से हुए पुण्य-पाप के कार्य को भगवान आत्मा स्वरूप के आश्रय से तत्काल ही दूर कर डालता है।' जैसे कि जिससमय प्रकाश होता है, उसी समय अंधकार नद तक हो जाता है। दोनों में काल भेद नहीं है, उसी तरह भगवान आत्मा जिससमय पर का लक्ष्य छोड़ देता है, पर की ओर से होने वाले पुण्य-पाप के भावों को छोड़ दूर कर डालता है, उसीसमय अपने आत्मा के स्वभाव का लक्ष्य आ जाता है तथा स्व के आश्रय वाली निर्मल परिणति प्रगट हो जाती है एवं उसीसमय विकास का अभाव हो जाता है। दोनों कार्य एक ही काल में हो जाते हैं। आत्मा में स्थिर होने व विकास के कार्य का अभाव होने कालभेद नहीं है। दोनों का एक ही काल है।

अहाहा ... ! अकेले ज्ञान-ज्ञान-ज्ञान स्वरूप प्रकाश का पुंज ज्योतिस्वरूप भगवान आत्मा जो अन्दर में विराजमान है। उसमें एकाग्र होने पर वह तत्काल पर्याय में प्रगट हो जाता है। अहाहा ... ! वह ज्ञान्योगित अज्ञान रूपी निमित्त का नाश करती हुई अन्तर आत्मा में प्रगट हो जाती है। उस ज्ञान्योगित के प्रगट होते ही वाह्य क्रियाकाण्ड में धर्म मानने की बुद्धि नष्ट हो जाती है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com
अहा …! अज्ञानी ने अनादि से राग व ज्ञान को एक माना है। यहाँ कहते हैं कि ज्ञान्योति अज्ञान का नाश करती हुई सम्पूर्ण प्रकार से उदित होती है। आत्मा स्वयं रागरहित ज्ञानस्वरूप प्रभु है। वह जब पर से हटकर अन्दर स्वरूप सन्मुख होती है, तब स्व को स्वज्ञान स्वरूप जानता है। और राग को अज्ञानमय पर रूप जानता है। इसप्रकार स्वपर की पहचान करता हुआ स्वपर प्रकाशक ज्ञान जो अबतक शक्तिरूप से अन्दर था, अब पर्याय में प्रगट हो गया है। बस यही मोक्ष का मार्ग है। वह इसप्रकार प्रगट हुआ है कि अब उसे कोई भी शक्ति पुनः आवृत नहीं कर सकती, रोक नहीं सकती। अब कोई आवरण करने वाला नहीं रहा। वह ज्ञान ज्योति सम्पूर्ण लोकालोक को जानने की सामर्थ्य सहित प्रगट हो गई है।

भावार्थ में कहते हैं कि – एक चैतन्य जिसका स्वभाव है, आत्मा ऐसा प्रज्ञानरहस्यरूप प्रभु है। इसकी पर्याय में जो पुण्य-पाप का भाव, राग-द्वेष-मोह का भाव होता है, वह चैतन्य भाव से विरुद्ध है। परन्तु जब यह आत्मा पर का आश्रय छोड़कर चैतन्य भाव के आश्रय में आता है, तब उसे जो ज्ञान-श्रद्धा प्रगट होता है, उसमें रागादिभाव नहीं होते। उन रागादि का कार्य जो वस्त्ररूप है, वह भी नहीं रहता। विकार नष्ट होने पर उसे नवीन कर्म का बन्ध भी नहीं होता। तो फिर ज्ञान का आवरण करने वाला – ज्ञान को रोकने वाला कोई कहाँ से कैसे रह सकता है? नहीं रह सकता है। अतः वह सदा प्रकाशमान ही रहता है। अहा …! ज्ञान्योति सदा अकेली केवलज्ञान रूप रहती है। इसे ही कर्म की उत्कृष्ट दशा एवं मोक्ष कहा जाता है।

सवेया तेहेसा

ज्यों नर कोय परे रजमाहि सचिवक्कण अंग लगि वह गाढ़े, त्यों मतिहीन जु रागविरोध लिये विचरे तब बन्धन बाढ़े; पाय समें उपदेश यथारथ रागविरोध तजी निज चारै, नाहि बंधे तब कर्मसमूह जु आप गहै परभावनि कारै।
इसप्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्भगवतकुदकुदाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमायुग की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविवरित आत्मांक्याति नामक ठीक में बद्ध का प्ररूपक ७वं अंक समाप्त हुआ।

अन्तिम हिंदी छन्द पर प्रवचन

हिंदी ठीकाकार पण्डित जयचंद्रजी छाबड़ा ग्रंथ के समापन में छन्द द्वारा कहते हैं कि -

ज्यों कोई पुरुष शरीर में तैल मरन करके धूल में खेलता है या अखाड़े में व्यायाम करता है तो उसके शरीर में धूल के कण (मैल) अवश्य ही चिपकता है, वह धूल या मैल से बच नहीं सकता। ठीक इसीप्रकार जो मति हीन - आत्मज्ञान से शून्य अज्ञान पुरुष राग-द्वेष रूपी चिकनाई सहित संसार में विचरते हैं, अपने पारिवारिक जीवन में राग-द्वेष सहित विषय-कषाय रूप प्रवृत्ति करते हैं, तो उनसे कर्मरूपी रज अवश्य ही बंध को प्राप्त होती है।

आगे पण्डितजी कहते हैं कि - यदि यथासमय आत्मा के यथार्थ स्वरूप का तथा पर्याय में होने वाले बन्धन के स्वरूप का सही उपदेश मिल जाये, सत्य ज्ञान हो जाये तो वह राग-द्वेष को छोड़कर अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव कर लेता है। पहले जहाँ राग-द्वेष का अनुभव करता था, वहीं अब वह अतीतिय आनन्द के स्वाद का अनुभव करने लगता है, सच्चे सुख का स्वाद लेने लगता है।

देखो, आत्मा शरीर, वाणी, मोसमनी, ईख (गना) आदि तथा स्त्री जनित विषयादि का स्वाद लेता ही नहीं है, ले भी नहीं सकता; क्योंकि वे सभी प्रगट पर (जड़) पदार्थ हैं। जड़ का स्वाद चेतन कैसे ले?

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यदि ऐसा है तो फिर हमें जो स्वाद आता है वह क्या है ? उत्तर में आचर्य कहते हैं कि इन बाह्य पदार्थों के लक्ष्य से जो राग-द्वेष-मोह होता है आत्मा को उस राग-द्वेष का स्वाद आता है। अज्ञानी अनादि से उस ‘पर’ लक्ष्य से हुए राग-द्वेष का ही स्वाद लेता रहा है, उसे ही
कलश १७९

यहाँ पद्म में 'चाटे' शब्द के द्वारा व्यक्त किया है। 'चाटे' अर्थात् वेदन करता है, अनुभव करता है। यहाँ ज्ञात्वम् है कि यह राग-द्वैश का स्वाद महाभक्यानक दुःख का स्वाद है - जहर का स्वाद है।

यदि कोई निकट भव्य जीव पदार्थ उपदेश को प्राप्त करके पर के ओर के झुकाव को छोड़कर विकार के स्वाद को छोड़ देता है तो उसे भगवान आत्मा के अतीत्रिय आनन्द के अमूर्त का स्वाद लेता है, शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है। बस, इसी का नाम धर्म है। इसे ही ‘निज चाटे’ शब्द द्वारा व्यक्त किया है।

अतः: यदि आत्मा अपने अन्तर की ओर देखे, झुके तो वहाँ अकेला अमूर्त ही अमूर्त भरा है। परंतु अज्ञानी को उसकी खबर नहीं है, इस कारण वह रागादि के जहर का ही स्वाद लेता है और उससे ही अपने को सुख भी मानता है। जबकि वास्तविकता यह है कि जो यथार्थ उपदेश को प्राप्त करके पर दृष्टि के निमित्त से हुए नैमितिक भावों को - विकार को छोड़कर शुद्ध चैतन्य तत्व में अन्तर्लिन होता है, उसे शुद्ध आत्मानुभूति प्रकट होती है और वह उसमें निराकुल आनन्द को भेदता है - अनुभव करता है। अतः: ऐसी निजानन्द रस की दशा ही धर्म है। बाकी पर में कर्ताजबृद्ध के सारे विकल्प अधर्म हैं।

अब कहते हैं कि जिनकी ऐसी निजानन्द रस में लीन होने रूप दशा प्रगट हो जाती है, उसके कर्मसमूह का बंध नहीं होता। अहाहां ...! जब आत्मा के अनुभव में अतीत्रिय आनन्द की चीतारामी दशा प्रगट हो जाती है, तब नवीन कर्मबन्ध नहीं होता तथा पुरान कर्म भी झर जाते हैं।

प्रश्न - पंचास्तिकाय में जो भिन् साध्य-साधन की बात कही, उसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर - बापू ...! वहाँ तो निमित्त का ज्ञान कराया है, वह तो निमित्त सापेक्ष कथन किया है।

प्रश्न - एक ओर समयसार की ११वीं गाथा में कहा है कि भूतार्थ त्रिकाली आत्मा के आश्रय से सम्यगर्भसन होता है, आनन्द की अनुभूति होती है। तथा दूसरी ओर पंचास्तिकाय में ऐसा कहा है कि - राग के आश्रय से धर्म होता
है, तो यह तो परस्पर विरोध हुआ। इसमें वास्तविकता क्या है? क्या वास्तव में विरोध है?

उत्तर — नहीं, विरोध नहीं है। आत्मा के आश्रय से धर्म होता है — यह तो निरच्छनय का कथन है — यथार्थ कथन है। तथा राग के आश्रय से धर्म होता है — यह व्यवहार (उपचार) कथन है। ऐसी कथन की यथार्थकी समझ से विरोध मिट जाता है। इस प्रकार अविरोध है।

अहाहा …! आत्मा पूर्णान्द का नाथ एक ज्ञायक भाव स्वरूप चैतन्य महाप्रभु अन्दर भगवान स्वरूप विराजता है। अनन्ती अनादि से इसे न जानकर पुण्य-पाप के भावों की मिठास में ही अटका रहा है। इस कारण उसको मिठ्यात्व व कषाय का वेदन ही होता रहा है। यही दुःख का वेदन है और यही संसार है। इसके सिवाय संसार और कुछ नहीं है। कषायों और उनके फल में जो चार गति रूप संसरण है — यही संसार है। यहाँ कहते हैं कि जो ऐसे दुःख रूप (पुण्य-पाप के भावों को छोड़कर अन्दर में अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप) आत्मा का अनुभव करते हैं, उन्हें नवीन कर्मों का बंध नहीं होता।

अब ‘आप ग़हैं पर भावानि कार्ति’ वाक्य द्वारा कहते हैं कि जानी मुनि अपने शुद्ध स्वरूप का ग्रहण करते हैं तथा कर्मों को छेद देते हैं, नष्ट कर देते हैं। इस प्रकार बंध अधिकार का संक्षिप्त सारांश पद्ध द्वारा पण्डित जयचंदरजी ने कह दिया है।
मोक्ष अधिकार

अथ प्रविष्टि मोक्षः।

(शिखरिणी)

द्विधाकृत्य प्रजाक्रककदलनाद्वंधपुरूषः
नयन्मोक्षः साधात्पुरूषमुपलभैकनियतम्।
इदानीमुन्ममज्जसहजरपरमानंदसरसं
परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते॥ १८०॥

(दोहा)

कर्मन्वन्ध सब काटिके, पहुँचे मोक्ष सुधान।

नमुं सिद्ध परमात्मा, करुं ध्यान अमलान॥

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि "अब मोक्ष प्रवेश करता है।"

जैसे नृत्यमंच पर स्वाँग प्रवेश करता है उसीप्रकार यहाँ मोक्ष तत्त्व का स्वाँग
प्रवेश करता है। वहाँ ज्ञान सर्व स्वाँग का ज्ञाता है, इसलिये अधिकार के प्रारम्भ
में आचार्यदेव सम्यगज्ञान की महिमा के रूप में मंगलाचरण कहते हैं: ्-

श्लोकार्थः ्[ इदानीम्] अब (बन्ध पदार्थ के परशतू), [ प्रजाक्रकककदलनाद्वंधपुरूषाः] द्विधाकृत्य] प्रजारूपी करवत से विदारण द्वारा
बन्ध और पुरुष को द्विधा (भिन-भिन – दो) करके, [ पुरुषम् उपलब्ध-एक-नियतम्.] पुरुष को ्- कि जो पुरुष मात्र *अनुभूति के द्वारा ही निरीक्षित
है, उसे [ साधात्म मोक्ष नयम्] साधात्म मोक्ष प्राप्त करारा हुआ, [पूर्ण ज्ञान विजयते] पूर्ण ज्ञान जयवत्त प्रवर्तता है। वह हाः [ उदमज्जद्-सहज-परम-आनन्द-सरसं] प्रगट होनेवाले सहज परमानन्द के द्वारा सरस अर्थात् रसयुक्त
है,[ परं] उत्कृष्ट है, और [ कृत-सकल-कृत्यं] जिसने करने योग्य समस्त
कार्य कर लिये हैं (-जिसे कुछ भी करना शेष नहीं है) ऐसा है।

* जितना स्वरूप-अनुभवन है इतना ही आत्मा है।
कलश १८० एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

देखो, जिसप्रकार करोत (आरी) से लकड़ी को चीरकर दो टुकड़े कर देते हैं अथवा कुलहाड़ी से लकड़ी के संधि स्थान में चोट करके लकड़ी को फाड़कर उसके दो भाग अलग-अलग कर देते हैं, उसीप्रकार ज्ञानी पुरुष प्रज्ञारूपी करोत या कुलहाड़ी से आत्मा व रागादि बंध को अलग-अलग कर देते हैं। बंध अर्थात् राग-व्यवहार भाव तथा आत्मा अर्थात् निशच्य शुद्ध वस्तु - दोनों ही भिन-भिन वस्तुएँ हैं। इन्हें अपने ज्ञान में प्रज्ञारूपी जैसी से भिन जानने-मानने का नाम ही धर्म है।

पुरुषार्थसिद्धायुपाय में तो उसे ही पुरुष कहा है, जो अपने ज्ञानन्द स्वभाव का सेवन करता है। यहाँ आत्मा को ही पुरुष संज्ञा के अभिव्यक्त किया है। जो उसे जाने-पहचाने, उसी में जमे-रमे, वही पुरुष है। अपने स्वरूप में जमने-रमने वाले आत्मा ही सच्चे अर्थों में पुरुष हैं। शेष सब तो नपुंसक हैं।

आगे कहते हैं कि - जितने भी रागादि विकल्प हैं उनसे भगवान आत्मा को भिन जानकर तथापि राग का लक्ष्य छोड़कर, अन्ध्र जो ज्ञानन्द स्वरूप आत्मा विराजमान है, उसमें झुकने, उस ओर ढलने से जो अनुभूति होती है। उस अनुभूति से ही आत्मा का निशच्य होता है, आत्मा प्राप्त होता है। राग व व्यवहार से आत्मा प्राप्त नहीं होता जिस राग से आत्मा को भिन करता है, उससे ही आत्मा की प्राप्ति कैसे संभव है?

भाई ! व्यवहार व निशच्य - दोनों का ही असित्व है, दोनों की अपनी जगह उपयोगिता भी है, परंतु दोनों से ही आत्मा को जुड़ा जाने, जुड़ा करने का नाम धर्म है। पुन्य-पाप के विकल्प आदि सभी राग हैं। तथा जो राग है, वह बंध स्वरूप है। इसमें भिन होकर, अवन्धस्वरूप भगवान आत्मा की अनुभूति से आत्मा प्राप्त होता है। अहाहाँ... ! भगवान आत्मा द्विवृत्त से -
कल्प १८०

शक्तिरूप से, स्वभाव से तो सदा मोक्षस्वरूप ही है। पर्याय में भी अवन्ध दशा के प्राप्त होने पर, मोक्ष प्राप्त होने पर पूर्ण केवलज्ञान सदा जयवंत वर्तता है। सादि-अनन्तकाल तक एक सरीखा ज्ञान उत्पन्न होता रहता है। केवलज्ञान में कोई कमी-वेशी नहीं होती।

वह केवलज्ञान सहज परम आनंदमय होने से सरस है, रसयुक्त है। केवलज्ञान सर्वोच्च निम्नलिखित आनंद के रस से भरा है, अतीतिःय आनंद रस से सहित है। सकल कर्मों का नाश हो जाने से पर्याय में भी केवलज्ञानादि सभी कार्यों की पूर्णता हो जाती है, इससे उसके बाद कुछ करना ही शेष नहीं रहता।

भावार्थ में पंडित जयचन्द्रजी छाबड़ा स्पष्ट करते हैं कि - अनन्तमुख हुआ ज्ञान अर्थात् आत्मसन्नुकुल हुआ ज्ञान बंध को व आत्मा को भिन्न-भिन्न कर देता है। कहते हैं कि - राग से भिन्न हुई प्रज्ञा स्वरूप का अनुभव करती है तथा आत्मा को राग से भिन्न कर देती है। अहा ! वह ज्ञान आत्मा को मोक्ष प्राप्त कराता हुआ अपने संपूर्ण स्वरूप केवलज्ञान को प्रगट करके सदा जयवंत वर्तता है। शक्ति रूप से अंदर में जो अनन्त ज्ञान व आनंद था, वह शक्तिवान आत्मा में एकाग्रता के ध्यान से पर्याय में प्रगट हो गया, वह सदा जयवंत वर्तता है।

इस प्रकार यहाँ जो ज्ञान की सर्वोच्च रूप में महिमा प्रदत्त की है, वही मंगलवचन है।

हिंदी मंगलाचरण पर प्रवचन

वचनिकाकार पंडित जयचन्द्रजी छाबड़ा प्रस्तुत दोहे में मंगलाचरण करते हुए कहते हैं - जितने सिद्ध परमात्मा हुए हैं, वे सब समस्त कर्मों का नाश करके तथा समस्त दुःखों का अभाव करके परिपूर्ण दशा को प्राप्त हुए हैं। मैं उन सब सिद्धों को नमस्कार करके अपने अंदर में विराजमान निर्वचनको विषयभूत सिद्ध समान निज शुद्धता का ध्यान करता हूँ जो कि स्वभाव से पूर्ण निर्मल, निर्विकार है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com
अब प्रथम टीकाकार आचार्य देव कहते हैं कि अब मोक्ष प्रवेश करता है। मोक्ष पर्याय है, यह त्रिकाली वस्तु नहीं है। जिस तरह संसार विकारी भेष है, मोक्षमार्ग आंशिक निर्मल भेष है, उसी तरह मोक्ष पूर्ण आनन्द को दशा का भेष है। जो भी नवीन अवस्थायों होती हैं, वे सब भेष हैं, स्वाग हैं। मोक्ष भी एक स्वाग है। स्थाई रहनेवाला तत्त्व तो त्रिकाली एक, धुःव, चिदानन्दस्वरूप आत्मा ही है।

जिस प्रकार नृत्य के अखाड़े में अर्थात् नाटक के रंगमंच पर नाटक करने वाला प्रवेश करता है, उसी प्रकार यहाँ मोक्षत्त्व का स्वाग धारण करके जीव प्रवेश करता है। वह सम्यक् प्रकार से सर्व स्वांगों को जाननेवाला है। शुद्ध चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का ज्ञान आस्तव-बंध-संवर-निर्जरा-मोक्ष आदि सभी स्वांगों को जानता है। आगे ३२०वीं गाथा में भी यही कहने वाले हैं कि सम्यज्ञान इन सब स्वांगों को जानता है। इस कारण आचार्य देव ने अधिकार के प्रारंभ में सम्यज्ञान की महिमा रूप मंगलाचरण किया है। •
समयसार गाथा २८८ से २९०

जह नाम को वि पुरिसों बंधनयन्त्रित् चिरकालपुर्विभोऽ।
तिब्बं मन्दसहावं कालं च वियाणादेत् तस्स ॥ २८८॥

जग न वि कुणि दिच्छेदं गुगच्छ तेन बंधनवासों सं।
कालेन उ बहुगम्यं विं गं सों दरो पावदि विमोक्षं ॥ २८९॥

इत्य कर्मविपन्नां एदेसस्थितिपुरुषमेवमणुभागं।
जाणतो वि गुगच्छि मुच्छति सों चेव जज्ञ सुख्दो ॥ २९०॥

यथा नाम केशिचतुरुषो बंधनके चिरकालप्रतिवि।
तीव्रमंदस्वभावं कालं च विज्ञानति तस्स ॥ २८८॥

यदि नापि करोति छेदेन न मुच्छते तेन बंधनवशः सनू।
कालेन तु बहुके नापि न स नरः प्राप्नोति विमोक्षम् ॥ २८९॥

इति त कर्मवन्धनानां प्रदेशस्थितिप्रकृतिमेवमणूभागम्।
जाननापि न मुच्छते मुच्छते स चेव यदि शुद्धः ॥ २९०॥

आत्मबंधयोद्धिधारकर्मोऽऽ मोक्षः। बंधस्वरूपज्ञानमात्रं तद्देशत्वित्येके, तद्दस्तः।
न कर्मबद्धस्य बंधस्वरूपज्ञानमात्रं मोक्षहेतुः, अहेतुत्वात्, निगांधित्वभद्रस्य
बन्धस्वरूपज्ञानात्मवत्। एतेन कर्मबंधप्रपंचरचनापरिज्ञानमात्रसङ्कुष्टा
उत्थाप्यते।

अब, मोक्ष की प्राप्ति कैसे होती है सो कहते हैं। उसमें प्रथम तो, यह कहते
हैं किंतु मात्र बंध का छेद नहीं करता किंतु मात्र बंध के स्वरूप को जानने
से ही सनुप्त है वह मोक्ष प्राप्त नहीं करता :-

कोई पुरुष चिरकाल से आबाद होकर बंध के।
तीव्र-मन्द स्वभाव एवं काल को हो जानता ॥ २८८॥

किंतु यदि वह बंध का छेदन न कर छूटे नहीं।
तो वह पुरुष चिरकाल तक निज मुक्ति को पाता नहीं ॥ २८९॥

इस ही तरह प्रकृति प्रदेश स्थिति अर अनुभाग को।
जानकर भी नहीं छूटे शुद्ध हो तब छूटता ॥ २९०॥

टीका - आत्मा और बन्ध का द्विधाकरण (अर्थात् आत्मा और बन्ध को अलग-अलग कर देना) मोक्ष है। कितने ही लोग कहते हैं कि बन्ध के स्वरूप का ज्ञानमा ति मोक्ष का कारण है (अर्थात् बन्ध के स्वरूप को ज्ञानमात्र से ही मोक्ष होता है), किन्तु यह असत् है; कर्म से बौधे हुए (जीव) को बन्ध के स्वरूप का ज्ञानमात्र मोक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि जैसे बेड़ी आदि से बौधे हुए (जीव) को बन्ध के स्वरूप का ज्ञानमात्र बन्ध से मुक्त होने का कारण नहीं है। उसीप्रकार कर्म से बौधे हुए (जीव) को कर्मबन्ध के स्वरूप का ज्ञानमात्र कर्मबन्ध से मुक्त होने का कारण नहीं है। इस कथन से उनका उत्थापन (खण्डन) किया गया है जो कर्मबन्ध प्रणंच की (विस्तार की) रचना के ज्ञानमात्र से सन्तुष्ट हो रहे हैं।

भावार्थ - कोई अन्यत्र यह मानते हैं कि बन्ध के स्वरूप को जान लेने से ही मोक्ष हो जाता है। उनकी इस मान्यता का इस कथन से निराकरण कर
समयसार गाथा २८८-२९०

दिया गया है। जानेमात्र से ही बंध नहीं कट जाता, किन्तु वह काटने से ही कटता है।

गाथा २८८, २८९, २९० एवं उनके भावार्थ पर प्रवचन

अब इन गाथाओं द्वारा यह कहते हैं कि - मोक्ष की प्राप्ति किसप्रकार होती है। इस कथन में सबसे पहले तो यह कह रहे हैं कि - जो जीव बंध का छेद नहीं करते, मात्र बंध के स्वरूप को जानने में ही संतुष्ट हैं, वे मोक्ष प्राप्त नहीं करते।

आत्मा और बंध को जुदा-जुदा करने का नाम मोक्ष है।‘मोक्ष’ शब्द स्वयं छुटकारा दिलाने का वाचक है। बंधन से मुक्त होने का नाम ही मोक्ष है। बंध से छूटना और स्वरूप में रहने का नाम ही वस्तुः मोक्ष है।‘परभाव से छूटना’ - यह अर्थ ग्रहण करके यहाँ दिखाकरण की बात कही है। भाई ! सिद्धिशिला पर लटकने का नाम मोक्ष नहीं है। मोक्ष माने ज्ञानान्दस्वरूपी भगवान आत्मा जब दु:ख की दशा से भिन पड़कर निज आनंदस्वरूपी निज आत्मा में रहता है तो वही दशा मोक्ष है। पर्याय में परम आनंद का लाभ होने का नाम ही मोक्ष है - ऐसा नियमसार में कहा है। पूर्ण चैतन्यच अभिज्ञ आत्मा की सम्पदर्शन रूप प्रतीति करना - केवलज्ञानरूप पूर्ण उपलब्धि करना - वस इसी का नाम मोक्ष है।

दूसरे प्रकार से कहें तो भगवान आत्मा की पर्याय में अन्धी से जो विकार का संबंध है, वही बंध है और वही संसार है। जब उस कर्म विकार से आत्मा मुक्त होकर पूर्ण अवन्ध हो जाता है, तब पूर्ण ज्ञान व आनंद की दशा प्राप्त होती है। उसी अवस्था का नाम मोक्ष है।

मोक्ष एवं मोक्ष के कारणों के संबंध में कुछ अन्य मतवादी भिन-भिन कल्पनायें करते हैं, वे असतू हैं, यथार्थ नहीं हैं। जैसे कि - बंध के स्वरूप के ज्ञानमात्र से मोक्ष की मान्यता अर्थात् जो गुणस्थानों एवं मार्गांशों के अनुसार कर्मप्रृक्तियों की सत्ता, बंध, उदय, उदीरण, क्षय, क्षयोपशाम तथा प्रकृति,
प्रदेश, स्थिति आदि के मात्र ज्ञान और चर्चा से संतुष्ट हैं और इसे ही मोक्षमार्ग मान बैठे हैं, उनकी यह धारणा भी असतू है।

“अमुक गुणस्थान में अमुक गति में अमुक जीव को इतनी प्रकृतियाँ का बंध है, इतनी प्रकृतियाँ सता में हैं। कुल १४८ प्रकृतियाँ हैं। इनमें संकरिती के ४१ प्रकृतियाँ का बंध नहीं पड़ता। कर्मबंध चार प्रकार का है, उनमें अनुभाग व स्थिति बंध कपास से पड़ता है तथा प्रकृति व प्रदेश बंध का कारण योग्य है।” - ऐसी कर्मबंध की विस्तार से की गई चर्चा अथवा ऐसे विस्तृत ज्ञानमात्र से संतुष्ट व्यक्तियों को मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

अरे भाई! जब जीव राग व आत्मा को भिन्न-भिन्न जाने, राग से भिन्न शुद्ध आत्मा का अनुभव करे तब धर्म होता है और तभी बंध से छुट्टता है। मात्र बंध के प्रपंच यानि भेद-प्रभेदों को जानने से धर्म नहीं होता, मोक्ष नहीं होता। कर्म प्रक्रिया को जानकर उनसे भेदज्ञान करके आत्मा में जमने-रचने से ही मोक्ष की प्राप्ति संभव है और यही धर्म है।

भावार्थ यह है कि - बंध राग है और राग व्यवहार है। ‘बंध को जानना मात्र मोक्ष है’ - ऐसा कोई अन्यमती मानता है। पर, उसकी यह मान्यता यथार्थ नहीं है।

यहाँ प्रश्न है कि - यदि बंध के ज्ञानमात्र से मोक्ष नहीं होता तो फिर मोक्ष कैसे होता है?

उत्तर - भाई! कर्म तो विधिवतं छेद करने से ही छिद्र हैं, नष्ट होते हैं। अन्दर आत्मा में शुद्ध दृष्टि करे और उसी में रमणात्मक करे तो कर्म नष्ट होते हैं। प्रज्ञा से राग को आत्मा से भिन्न करे तथा स्वरूप का अनुभव करे तो कर्म नष्ट होते हैं। शुद्ध का अनुभव करने से शुद्धता होती है। बंध के स्वरूप के विकल्प मात्र से बंध कभी भी नष्ट नहीं होता।
समयसार गाथा २९१

जह बंधे चिन्ततो बंधणबद्धः पावदि विमोक्खः।
तह बंधे चिन्ततो जीवो विधूपावदि विमोक्खः॥ २९१॥

यथा बंधार्चित्तयन् बंधणबद्धः न प्राप्तति विमोक्षम्।
तथा बंधार्चित्तयन् जीवोऽपि न प्राप्तति विमोक्षम्॥ २९१॥

बंधचिन्ताप्रबन्धः मोक्षहेतुरित्यये, तदप्यसः; न कर्मबद्धस्य
बंधचिन्ताप्रबन्धः मोक्षहेतुः, अहेतुतत्, निगदादिबद्धस्य
बंधचिन्ताप्रबन्धवत्।
एतेन कर्मबन्धविषयचिन्ताप्रबन्धात्मकविशुद्धिधर्मध्यानां
बुद्धयो बोधयं।

अब यह कहते हैं कि बन्ध का विचार करते रहने से भी बंध नहीं कटता।

चिन्तवन से बंध के ज्यों बंधे जन न मुक्त हों।
त्यों चिन्तवन से बंध के सब बंधे जीव न मुक्त हों॥ २९१॥

गाथार्थः — [ यथा ] जैसे [ बंधनबद्धः ] बन्धनों से बंधा हुआ पुरुष
[ बंधानुचित्तयन् ] बन्धों का विचार करने से [ विमोक्षम् न प्राप्तति ] मुक्ति
को प्राप्त नहीं करता (अर्थात् बन्ध से नहीं छूटता), [ तथा ] इसीप्रकार
[ जीवः अपि ] जीव भी [ बंधानुचित्तयन् ] बन्धों का विचार करने से
[ विमोक्षम् न प्राप्तति ] मोक्ष को प्राप्त नहीं करता।

टीका — अन्य कितने ही लोग यह कहते हैं कि ‘बन्ध सम्बन्धी विचार
शृङ्खला मोक्ष का कारण है’ किन्तु यह भी असत् है; कर्म से बंधे हुए (जीव)
को बंध सम्बन्धी विचार को शृङ्खला मोक्ष का कारण नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार
बेढ़ी आदि से बंधे हुए (पुरुष) को उस बन्ध सम्बन्धी विचार शृङ्खला (विचार
की परंपरा) बन्ध से छूटने का कारण नहीं है, उसीप्रकार कर्म से बंधे हुए
(पुरुष) को कर्म बन्ध सम्बन्धी विचारशृङ्खला कर्मबन्ध से मुक्त होने का कारण
नहीं है। इस (कथन) से, कर्मबन्ध सम्बन्धी विचार—शृङ्खलात्मक विशुद्ध
(शुभ) धर्मध्यान से जिनकी बुद्धि अन्ध है, उन्हें समझाया जाता है।
भावार्थ – कर्मबन्ध की चिंता में मन लगा रहे तो भी मोक्ष नहीं होता। यह तो धर्मध्यानरूप शुभपरिणाम है। जो केवल (मात्र) शुभ परिणाम से ही मोक्ष मानते हैं उन्हें यहाँ उपदेश दिया गया है कि - शुभ परिणाम से मोक्ष नहीं होता।

समयसार गाथा २९९ एवं इसके भावार्थ पर प्रवचन

इस गाथा के पूर्व आचार्यदेव ने यह कहा था कि- बंध के ज्ञानमात्र से मुक्त नहीं मिलती। उसी बात को आगे बढ़ाते हुए यहाँ इस गाथा में कहा है कि - बंध संबंधी विचारशृंखला अर्थात् शुभभाव की धारा भी मोक्ष का कारण नहीं है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि ‘कर्मबन्ध से छूटने का उपाय सोचते-सोचते कर्मबन्ध से छुटकारा मिल जाता है।’ उनसे आचार्य कहते हैं कि - यह तो अपायविचय धर्मध्यान है, शुभभावरूप होता है और शुभभावों को कर्म के नाश होने का हेतु मानना मिथ्या है। जो शुभभाव का हेतु है, वही शुभभाव मोक्ष का हेतु नहीं हो सकता।

जिसतरह बेड़ी आदि से बंधा पुरुष मात्र बेड़ी के बंधन और उससे छूटने की चिंता ही करता रहे, उसके लिए कोई अन्य उचित उपाय न करे तो वह बंधन से मुक्त नहीं होता, उसीतरह कर्मबन्ध से बंधा प्राणीमात्र बंध संबंधी विचार शृंखला में ही अटका रहे, उससे छूटने का मात्र मनोरथ ही करता रहे तो वह कर्मबन्ध से नहीं छूटता।

भाई ! सम्यगर्धन तो धर्म का प्रथम सोपान है, मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है। उसके होने में अपने त्रिकाली शुद्ध आत्म-द्रव्य को जानने-पहचानने उसी में जमने-रमने की अपेक्षा है। शेष सबको तो उपेक्षा करना ही बंधन से छूटने का उपाय है।

गत प्रकरण में यह बात आ चुकी है कि – शुद्ध अर्थात् एक ज्ञात्व को जानने से पर्याय में शुद्धता प्राप्त होती है। अशुद्ध को अर्थात् विकार को व परद्रव्य को जानने से अशुद्धता प्राप्त होती है। यहाँ यह कहा जा रहा है कि
समयसार गाथा २९१

स्वभाव की दृष्टि करके शुद्ध-अशुद्ध को (स्वभाव-विभाव को) जुदा-जुदा करके भेदज्ञान करने से ही आत्मा बंधन से छुटता है। मात्र बंधन संबंधी चिंता या चिंतन से अर्थात् शुभभाव रूप अपायविचय धर्मध्यान से आत्मा कर्मों के बंधन से मुक्त नहीं होता।

विशुद्ध धर्मध्यान का अर्थ है शुभभाव, जो कि पुण्यबंध का कारण है। इसे ही आगम में अपायविचय धर्मध्यान कहा है। ‘धर्मध्यान’ शब्द जरा अटपटा लगता है, परंतु यहाँ यह नाम व्यवहार धर्मध्यान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। नियमसार में आया है कि निर्णय धर्मध्यान व व्यवहार धर्मध्यान – दोनों भिन-भिन हैं। शुद्ध आत्मा के आश्रय से जो शुद्धता प्राप्त होती है, वह निर्णय धर्मध्यान है। तथा कर्म आदि की चर्चा एवं विचारधारारूप पर के लक्ष्य से जो शुभभाव होता है, वह व्यवहार धर्मध्यान है। वर्तमान में लोगों में अधिकांश यह बात चलती है – कि शुभभाव से धर्म होता है, परंतु भाई! शुभभाव निर्णय से तो आर्थिक रूपमें यह धर्मध्यान हो भी कैसे? देखो न! यह स्पष्ट कहा है कि – ‘विशुद्ध धर्मध्यान से जिसकी बुद्धि अंध है ...’। अहांहां... ! शुभभाव से धर्म माननेवाले, शुभभाव से बंधन से छुटना माननेवाले अंध हैं – ऐसा कहा है।

अरे भाई! देखो, जो शुभभाव में आकंट निम्नां हो गये हैं, उन जीवों को यह खबर नहीं है कि – अतीतिक्ष ज्ञान व आनन्द का पिण्डस्वरूप चैतन्य महाप्रभु हम स्वयं हैं। वे अंध बुद्धि हैं न? अहा! ‘मैं तो स्वयं शुभभाव से भिन चैतन्यमय प्रभु हूँ, परमात्म दृष्टित हूँ’ – ऐसा भासित नहीं होता। ‘तिनके की ओट में पहाड़’ की भांति शुभभाव की आड़ में अज्ञानी को परमात्मस्वरूप आत्मा भासित नहीं होता।

जो यह कहते हैं कि – ‘यह समयसार ग्रन्थ तो मुनिराजों के पढ़ने के लिए है, इसे गृहस्थों को नहीं पढ़ना चाहिए।’ उनसे कहते हैं कि – भाई! आपका यह सोचना यथार्थ नहीं है। यहाँ तो स्पष्ट लिखा है कि – शुभभाव से अंधी है बुद्धि जिनकी उन्हें समझाया जा रहा है। अतः जो दया, दान, प्रत,
पूजा, भक्ति आदि शुभभावों का ही विचार करते हैं, शुभराग व व्यवहार में ही मूड़ हैं, निर्वचय को जानते ही नहीं हैं - ऐसे जीवों को यह समयसार समझाने में आता है। वस्तुतः तो जो निर्वचय को जानते हुए व्यवहार को यथार्थ जानते हैं, वे ही ज्ञानी हैं। जो व्यवहार के राग से भिन्न पड़कर - भेदज्ञान करके शुद्ध चिदानन्दधाम आत्मा का अनुभव करते हैं, वे ही व्यवहार को यथार्थ जानेवाले हैं। परंतु यहाँ तो उन्हें समझाया जा रहा है जो शुभ में या व्यवहार में अंधे हैं।

कर्म के मूलतः आठ भेद हैं। इन आठ कर्मों के १४८ उत्तरभेद हैं, जिन्हें १४८ प्रकृतियाँ कहते हैं। इनमें बंध, सत्ता, उदय, उदौरणा, क्षय, क्षयोशम आदि रूप से जो प्रक्रिया सम्पन्न होती है, उस सबका विस्तृत वर्णन जैसा जैनधर्म में है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं है। परन्तु आचार्य कहते हैं कि जो - आत्मा या आत्मा के ध्यान को छोड़कर इन शुभभावों की चर्चा-वार्ता में अटक जाते हैं, उन्हें यहाँ अंधा कहा है। यहाँ ईर्षय को जगत का कर्ता माननेवालों की तो बात ही क्या कहें? वे तो बहुत स्थूल विपरीत बुझियाते हैं।

यहाँ तो यह कह रहे हैं कि जो अपने अनन्त शक्तिस्वरूप भगवान आत्मा का आश्रय न लेकर स्वाध्याय के माध्यम से कर्म के बंध, उदय, सत्ता आदि की शुभभाव रूप चर्चा मात्र से संतुष्ट है, वह अंध बुझ्द है। क्योंकि वह केवल शुभभाव को ही देखता है; इन शुभभावों से भिन्न अपने भगवान आत्मा को नहीं देखता।


समयसार गाथा २९२

कस्तहि मोक्षेतुरिति चेत्

जह बंधे छेतूण्य य बंधणस्वद्दो दु पावदि विमोक्खं।

तत्त्र बंधे छेतूण्य य जीवो संपावदि विमोक्खं। ॥२९२॥

यथा बंधांशिष्टत्वा च बंधनस्वद्दस्तु प्राप्योति विमोक्षम्।

तथा बंधांशिष्टत्वा च जीवः संप्राप्योति विमोक्षम्। ॥२९२॥

कर्मबंधस्य बन्ध्दचेदो मोक्षेतुः, हेतुत्वात्, निगंदानिदिबंधस्य

बन्ध्दचेद्वत्। एतेन उथवेिधि पूर्वः आत्मस्वयोदिनःविधाकरणे व्यापायेत्।

“(यदि बंध के स्वरूप के ज्ञानमात्र से भी मोक्ष नहीं होता और बन्ध के

विचार करने से भी मोक्ष नहीं होता) तब फिर मोक्ष का कारण क्या है?

ऐसा प्रश्न होने पर अब मोक्ष का उपाय बताते हैं:—

छेदकर सब बंधनों को बन्धुजन ज्यों मुक्त हों।

त्यों छेदकर सब बंधनों को बन्धुजिय सब मुक्त हों। ॥२९२॥

गाथार्थः — [ यथा च जैसे [ बंधनबंधः तु ] बंधनबंध पुरुष [ बंधानुः

छित्त्वा ] बंधनों को छेद कर [ विमोक्षस्त्राप्योति ] मुक्ति को प्राप्त हो जाता

है, [ तथा च इसीप्रकार [ जीवः जीव [ बंधानुःछित्त्वा ] बंधनों को छेदकर

[ विमोक्षस्त्राप्योति ] मोक्ष को प्राप्त करता है।

टीका — कर्म से बंधे हुए (पुरुष) को बन्ध का छेद मोक्ष का कारण है।

क्योंकि जैसे बेड़ी आदि से बड़ को बन्ध का छेद बन्ध से छूटने का कारण

है उसीप्रकार कर्म से बंधे हुए को कर्म बन्ध का छेद कर्मबंध से छूटने का

कारण है। इस (कथन) से, पूर्वकथित दोनों को (जो बन्ध के स्वरूप के

ज्ञानमात्र से सतुष्ट हैं तथा जो बन्ध का विचार किया करते हैं उनको) आत्मा

और बन्ध के द्विधाकरण में व्यापार कराया जाता है (अर्थात् आत्मा और बन्ध

को भिन-भिन करने के प्रति लगाया जाता है — उदाम कराया जाता है।)
गाथा २९२ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

dेखो, यहाँ कहा है कि - जो कर्म से बंधे हैं, उनका शुद्धात्मा की ओर का झुकाव अस्ति से मोक्ष का कारण है। तथा राग के अभाव को एवं बन्धन के नाश को नास्ति से मोक्ष का कारण कहा जाता है। शिष्य ने पूछा - यह अस्ति-नास्ति क्या है? इसके उत्तर में अस्ति का स्वरूप समझा हुए कहते हैं कि - रागरहित वीतरागस्वभावी एक चैतन्यमय आत्मा का आश्रय अस्तिरूप मोक्ष का हेतु है। समयसार गाथा १४, १६ में आया है कि - अबद्द्वृप्त निज आत्मा को देखने-जानने एवं अनुभव करने से बंध का छेद होता है।

कर्मों से छूटने को मोक्ष कहना निमित्त सापेक्ष कठोर है और विकार से छूटने को मोक्ष कहना अशुद्ध उपादान सापेक्ष कठोर है। तथा शुद्ध उपादान की अपेक्षा कहें तो अबद्द्वृप्त आत्मा का अनुभव करने वालों को मोक्ष होता है - ऐसा कहा जाता है। शुद्ध आत्मा का आश्रय लेने से विकार उत्पन्न ही नहीं होता। बस, इसे ही विकार का छेद कहा जाता है।

समयसार गाथा १५ में भी ऐसा आता है कि जो अपने अबद्द्वृप्तस्वरूप शुद्ध आत्मा को जानते हैं, वे सम्पूर्ण जैनशासन को ही जानते हैं। अहा! पर्याय में अपने आत्मा का जो ज्ञान हुआ, वही जैन शासन है; ज्योंकि जैन शासन के चारों अनुयोगों का तात्पर्य एकमात्र वीतरागता ही है और वह वीतरागता त्रिकाल वीतरागस्वभावी अबद्द्वृप्त निज आत्मा के आश्रय से प्राप्त होती है।

समयसार गाथा ७४ की टीका में कहा है कि - आत्मा जितना-जितना विज्ञानचन होता जाता है, उतना-उतना आस्वादों से छूटता जाता है। तथा जितना-जितना आस्वादों से छूटता जाता है, उतना-उतना विज्ञानचन होता जाता है।

वहाँ पर यह भी कहा है कि आत्मा जितना निज ज्ञानन-दस्तस्वरूप में एकाग्र होता जाता है, उतना ही वह कर्मों से (दृष्ट्कर्म व भावकर्म से) छूटता जाता है।
आगे टीका में वीतराग परमात्मा यह कहते हैं कि जो भी क्रियाकाण्ड का राग है, वह सब बंधन है और भगवान आत्मा इससे भिन्न है। इसलिए राग को आत्मा से भिन्न करने का उद्देश्य किया जाता है।

राग को राग में रहने दो और ज्ञानोपयोग को अन्तर्गत ज्ञानस्वभावी आत्मा में जोड़ दो तो राग व आत्मा भिन्न हो जाते हैं। बस यही धर्म है और धर्म करने की विधि भी एकमात्र यही है। शेष धार्मिक क्रियाओं सब इसी के साधनभूत हैं, अतः व्यवहार से उन साधनों को भी धर्म कहा जाता है।

अहाहा! आत्मा उसे कहते हैं, जिसमें पुण्य-पाप के विकल्प ही नहीं हैं। और बंध उसे कहते हैं, जिसमें आत्मा का स्वभाव नहीं है। इसप्रकार दोनों वस्तुएं भिन्न हैं। आत्मा अन्तर में चैतन्य प्रकाश का पुंज, चैतन्यमिब्र प्रभु ज्ञात तत्त्व है। तथा दया, दान, व्रत आदि के विकल्प बन-ध तत्त्व हैं।

अहा ! नित्य अविनाशी प्रभु आत्मा और क्षणिक पुण्य-पाप के भाव - दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएं हैं। ऐसा होते हुए भी अज्ञाता जीव दोनों में एकपना मान बैठे हैं। उन दोनों को भिन्न-भिन्न करने का प्रयास किया जाता है।

देखो, पूरे दिन ध्यान-व्यापार, स्त्री-पुत्र-कुशल के भरण-पोषण तथा भोग-उपभोग में लगे रहना - यह पाप का व्यापार है। तथा दया-दान, भक्ति-पूजा और बंध-मोक्ष आदि के विचारों में अटके रहना - यह सब पुण्य का व्यापार है। एवं पुण्य-पाप से भिन्न अन्तर विराज रहे शुद्धचैतन्य में लगना भेदज्ञान का व्यापार है, धर्म का व्यापार है।

आत्मा को राग से भिन्न करने का यह व्यापार ही धर्म है। और, भाई! अनादि से ज्ञान को राग में जोड़ रखा है, वहाँ से तोड़कर ज्ञान को आत्मा में जोड़ना ही धर्म का प्रथम सोपान है।
समयसार गाथा २९३
किषयमेव मोक्षेहुतुरिति चेत्
बंधानं च सहावं वियाणिदुं अप्यनो सहारं च।
बंधेषु जो विरज्जद्धो कम्मविमोक्षाणं कुणादि ॥ २९३॥
बंधानां च स्वभावं विज्ञायत्मन: स्वभाव च।
बंधेषु यो विरज्जते स कर्मविमोक्षाणं करोति ॥ २९३॥

य एवं निर्विकारचैतन्यचमत्कारमात्रमात्मस्वभावं तद्विद्वाकारकारं
बंधानां च स्वभावं विज्ञ, बंधेभ्यो, विरमति, स एव सकलकर्ममोक्षं
कुष्ठात्। एतेनात्मन्यथोद्धिन्धाकरणस्य मोक्षेहुतुलं नियम्यते।

‘मात्र यही (बन्धचेद ही) मोक्ष का कारण क्यों है?’ ऐसा प्रश्न होने
पर अब उसका उत्तर देते हैं :-

जो जानकर निजभाव निज में और बंधस्वभाव को।
विरक्त हों जो बंध से वे जीव कर्मविमुक्त हों ॥ २९३॥

गाथार्थ – [बंधानां स्वभावं च] बन्धों के स्वभाव को [आत्मा: 
स्वभावं च] और आत्मा के स्वभाव को [विज्ञ] जानकर [बंधेषु] बन्धों
के प्रति [यः] जो [विरज्जते] विरक्त होता है, [सः] वह [कर्मविमोक्षणं
करोति] कर्मों से मुक्त होता है।

टीका – जो, निर्विकार चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मस्वभाव को और
उस (आत्मा) के विकार करनेवाले बंध के स्वभाव को जानकर, बन्धों से
विरक्त होता है, वही समस्त कर्मों से मुक्त होता है। इस (कथन) से ऐसा
नियम किया जाता है कि आत्मा और बंध का द्विधाकरण (प्रथककरण) ही
मोक्ष का कारण है (अर्थात् आत्मा और बंध को भिन्न-भिन्न करना ही मोक्ष
का कारण है–ऐसा निर्णयत किया जाता है।)
गाथा २९३ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

अहा! भगवान आत्मा निर्विकार मात्र चैतन्य चमत्कार स्वभावी है। देह तथा पुण्य-पाप के भावों से भिन्न आत्मा निर्विकार चैतन्य चमत्कार मात्र है। वह आत्मा किसी को हिंसा करे, किसी पर दया करे, किसी को कुछ देवे या किसी से कुछ लेवे - ऐसे स्वभाववाला नहीं है।

अहो! आत्मा का स्वभाव ऐसा आश्चर्यकारक है कि पर में कुछ फेरफार करता नहीं और सूक्ष्म से सूक्ष्म समस्त परस्परसंबंधी सहित लोकालोक को जानता है। चैतन्य चमत्कार मात्र कहकर यह कहा गया है कि आत्मा मात्र ज्ञात स्वभावी है। पर के या राग के भाव भी आत्मा की चीज नहीं हैं, ये भाव भी शरीर की भाँति ही आत्मा से अन्य हैं।

ऐसे आत्मस्वभाव को और विकार करनेवाले बंध स्वभाव को - दोनों को जानकर जो बंध से विराम ले लेता है अर्थात् गान्धि भाव से विरक्त हो जाता है, वही सर्वकामों से छूटता है। व्यवहार रत्नत्रय का राग भी बंध स्वभाव ही है, अतः उससे भी जो विरक्त होता है, वह सर्वकामों से छूटता है, मुक्ति प्राप्त करता है।

अहा! गान्धि विकारों से आत्मा को भिन्न करना ही मोक्ष का कारण है - ऐसा नियम इस कथन से सिद्ध होता है। गान्धि से भिन्न आत्मा की प्रतीति करना सम्प्रदायन, गान्धि से भिन्न आत्मा का ज्ञान सम्प्रदायन और गान्धि से भिन्न आत्मा का आचरण करना सम्प्रदायचारित्र है। इस प्रकार राग से, विकार से आत्मा को भिन्न करना - अनुभवना मोक्ष का कारण है।

यह सिद्धांत फलित होने पर यह बात ही कहाँ ठहरती है कि व्यवहाररत्नत्रय से निश्चय मोक्षमार्ग होता है? यहाँ तो यह कह रहे हैं कि व्यवहार रत्नत्रय के शुभराग से आत्मा को भिन्न अनुभव करना मोक्ष का कारण है।

•

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com
समयसार गाथा २९४

केनात्मबन्धी द्विथा क्रियेते इति चेत् —

जीवो बंधो य तता छिन्नज्ञि सलक्षणोहि गियाएहि
पण्णाछिदंदमाणातु छिण्णा राणात्मावण्णा || २९४||

जीवो बस्थश्च तथा छिद्रेर्ते स्वल्पक्षणाभ्यां नियताध्याम्
प्रजाछिदंकेन तु छिन्ना नानात्मापात्री || २९४||

आत्मबन्धयोऽद्विधाकरणे कार्ये करुनात्मन: करणमीमांसायां, निषचयतः
स्वतो भिन्नकरणसंबवातु, भगवती प्रज्ञेव छेदनात्मकं करणमू। तथाहितौ
छिन्ननौ मात्रात्मवृद्धिः करणममू करणमू। ननु
कृत्वा भावेनात्मत्तप्रत्यासतेरे वै भृनौ भद्रविज्ञाना
भावादेक च चेतक बर्द्वयवहि यमाणी प्रज्ञा छ तुं शक्येते
नियताध्यामाद्विधामान्त: संधिसाधवाधानिपत्तानादिति बुध्येमहि। आत्मनो हि
समस्तक्रेष्टव्यासाधारणात्मचेतन्तयां स्वल्पक्षणाम। ततु प्रवर्तमाणं यद्यद्भिव्याप्य
प्रवर्तिते निवर्तमाणं च यद्युपायाय निवर्तिते तत्त्रसमस्तसंप्रवृत्तं क्रमप्रवृत्तं
वा पर्यायजातामामेर्ति लक्षणीय, तदेक लक्षणालक्ष्यत्वात्
समस्तसह कृमध्यक्रृतचर्यातीतपर्यायायाविनाभावितव्याचेतत्नयन्त् चिन्मात्र एवतां
निषेधचेतवः, इति यावतूः। बंधस्य तु आत्मद्विधासाधरणा रागादः स्वल्पक्षणाम।

न च रागादय आत्मद्विधासाधरणां विभ्राणा: प्रतिभास्ते, नित्यमेव
चेतन्यचर्मकारादिरिकारेन प्रतिभास्मान्तवात न च यावदेव समस्त
स्वपर्यायायापि चेतन्यं प्रतिभासित ताला एव रागादय: प्रतिभाति,
रागदीनंतरेणापि चेतन्यस्यात्मानित्वमप्रभावानतृतृ। यतु रागादीनां चेतन्यम्
सही वेंत्वबिन्न तत्चेतन्यचेतक भाव-प्रत्यासतेरव, नैक द्रव्यत्वात्
चेतसमानसु रागाधिरात, प्रीतिमाणो घटादिः प्रदीप्तय प्रदीप्यकत्तामिव,
चेतकतामेव प्रथयेत्, न पुना रागादितामू। एवमापि तयोस्तत्त्वप्रत्यास्त्त्त्या
भेदान्यभावादानादिरिक्तवयामोः:, स तु प्रज्ञायेम छिद्यत एव।
समवसार गाथा २९४

‘आत्मा और बंध किस (साधन) के द्वारा दिखाया (अलग) किये जाते हैं?’
ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं:\-
जीव एवं बंध निज-निज लक्षणों से भिन्न हो ।
दोनों पृथक हो जाय प्रजाछैनि से जब छिन्न हों ॥ २९४॥

गाथाध्वर - [ जीव: च तथा बंध: ] जीव तथा बंध [ नियताभ्यांग् स्वलक्षणभ्यां ] नियत स्वलक्षणों से (अपने-अपने निश्चित लक्षणों से) छिन्न देते हैं; [ प्रजाछेदनकेण ] प्रजारूपी छैनि के द्वारा [ छिन्नौ तु ] छेड़े जाने पर [ नानात्ममु आपत्ती ] वे नानापन को प्राप्त होते हैं अर्थात् अलग हो जाते हैं।

टीका - आत्मा और बंध के द्विधा करनेत्यूप कार्य में कर्ता जो आत्मा उसके *करण सम्बन्धी +मीमांसा करने पर, निर्देश: (निर्देशनय से) अपने से भिन करण का अभाव होने से भगवती प्रज्ञा ही (ज्ञानस्वरूप बुद्धि ही) छेदनात्मक (छेदन के स्वभाववाला) करण है। उस प्रज्ञा के द्वारा उनका छेद करने पर वे अवश्य ही नानात्म को प्राप्त होते हैं; इसलिये प्रज्ञा द्वारा ही आत्मा और बंध का दिखाया जाता है। (अर्थात् प्रजारूपी करण द्वारा ही आत्मा और बंध जुदे किये जाते हैं)।

(यहां प्रश्न होता है कि) आत्मा और बंध जो कि आत्मा चेतन है और बंध चेत व न है; वे दोनों अज्ञन दशा में एक से अनुभव में आते हैं। चेत्वेतकब्रह्म के द्वारा अत्यन्त निकटता के कारण एक जैसे हो रहे हैं, और भेदविज्ञान के अभाव के कारण, मानो वे एक चेत ही हैं। ऐसे जिनका व्यवहार किया जाता है (अर्थात् जिनहें एक आत्मा के रूप में ही व्यवहार में माना जाता है), उन्हें प्रज्ञा के द्वारा वास्तव में कैसे छेदा जा सकता है?

(इसका समाधान करते हुए आचार्यदेव कहते हैं:-) आत्मा और बंध के नियत स्वलक्षणों की सूक्ष्मता। अन्तःसंधि में (अन्तरंग की संधि में) प्रजाछैनि को सावधान होकर पटकने से (डालने से, मारने से) उनको छेदा जा सकता है - अर्थात् उन्हें अलग किया जा सकता है; ऐसा हम जानते हैं।

* करण = साधन; करण नाम का कारक।
+ मीमांसा = गहरी विचारणा; तपास समालोचना। शक्तेत्रे = नियतस्वलक्षणसूक्ष्मात्;
आत्मा का स्वल्पकण चैतन्य है, क्योंकि वह समस्त शेष द्रव्यों से असाधारण है (वह अन्य द्रव्यों में नहीं है)। वह (चैतन्य) प्रवर्त्तमान होता हुआ जिस-जिस पर्याय को व्याप्त होकर प्रवर्त्ता है और निवर्त्तमान होता हुआ जिस-जिस पर्याय को ग्रहण करके निवर्त्ता है वे समस्त सहवर्ती या क्रमवर्ती पर्यायें आत्मा हैं। इसप्रकार लक्षित करना (लक्षण से पहचानना) चाहिए (अर्थात् जिन-जिन गुण पर्यायों में चैतन्यलक्षण व्याप्त होता है वे सब गुण पर्यायें आत्मा हैं; ऐसा जानना चाहिए) क्योंकि आत्मा उसी एक लक्षण से लक्षित है (अर्थात् चैतन्यलक्षण से ही पहचाना जाता है)। और समस्त सहवर्ती और क्रमवर्ती अनन्त पर्यायों के साथ चैतन्य का अविनाभावी भाव होने से चिन्मात्र ही आत्मा है ऐसा निरचय करना चाहिए। इतना आत्मा के स्वल्पकण के सम्बन्ध में है।

(अब बन्ध के स्वल्पकण के सम्बन्ध में कहते हैं:-) बन्ध का स्वल्पकण तो आत्मज्ञान से असाधारण ऐसे रागादि हैं। यह रागादि आत्म द्रव्य के साथ साधारणतः धारण करते हुए प्रतिभासित नहीं होते, क्योंकि वे सदा चैतन्यचमक कर से भिन्नरूप प्रतिभासित होते हैं। और जितना, चैतन्य आत्मा को समस्त पर्यायों में व्याप्त होता हुआ प्रतिभासित होता है, उतने ही, रागादि प्रतिभासित नहीं होते, क्योंकि रागादि के बिना भी चैतन्य का आत्मलाभ संभव है (अर्थात् जहाँ रागादि न हों वहाँ भी चैतन्य होता है।) और जो, रागादि की चैतन्य के साथ ही उत्पत्ति होती है वह चैत्यचेतकभाव (ज्ञेयज्ञायकभाव) को अति निकटता के कारण ही है, एकद्रव्य के कारण नहीं; जैसे (दीपक के द्वारा) प्रकाशित किया जानेवाला पटाधिक (पदार्थ) दीपक के प्रकाशक को ही प्रगट करते हैं - घटवादि को नहीं, इसप्रकार (आत्मा के द्वारा) चेतन होनेवाले रागादि (अर्थात् ज्ञान में ज्ञेयरूप से ज्ञात होनेवाले रागादि भाव) आत्मा के चैतकल्च को ही प्रगट करते हैं - रागादिकल्च को नहीं।

ऐसा होने पर भी उन दोनों (-आत्मा और बन्ध) की अत्यन्त निकटता के कारण भेदसंभावना का अभाव होने से अर्थात् भेद दिखाई न देने से (अज्ञानी
तो) अनादि काल से एकत्व का व्यामोह (भ्रम) है; वह व्यामोह प्रजा द्वारा ही अवश्य छेदा जाता है।

भावार्थ – आत्मा और बन्ध दोनों को लक्षण भेद से पहचान कर बुद्धिरूपी छैनी से छेद कर भिन्न-भिन्न करना चाहिए।

आत्मा अमूर्तिक है और बन्ध सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं का स्कन्ध है इसलिये छत्रस्थ के ज्ञान में दोनों भिन्न प्रतीत नहीं होते; मात्र एक स्कन्ध ही दिखाई देता है (अर्थात् दोनों एक पिण्डरूप दिखाई देते हैं); इसलिये अनादि अज्ञान है। श्रीगुरुओं का उपदेश प्राप्त करके उनके लक्षण भिन-भिन अनुभव करके जानना चाहिए कि चेतन्यमात्र तो आत्मा का लक्षण है और रागादिक बन्ध का लक्षण है, तथापि ज्ञानज्ञान-भाव की अति निकटता मात्र से वे एक जैसे ही दिखाई देते हैं। इसलिये तॊक्षण बुद्धिरूपी छैनी को – जो कि उन्हें भेदकर भिन करने का शस्त्र है उसे – उनकी सूक्ष्मसंधि को दूर टूटकर उसमें सावधान (निष्प्रमाद) होकर पटकना चाहिए। उसके पढ़ते ही दोनों भिन-भिन दिखाई देने लगते हैं और ऐसा होने पर, आत्मा को ज्ञानभाव में ही और बन्ध को अज्ञानभाव में रखना चाहिए। इसप्रकार दोनों को भिन करना चाहिए।

गाथा २९४ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

अहा ...! शान्त निर्मल निरिकार स्वभाव से भरे ज्ञानन्दस्वरूप प्रभु आत्मा तथा पुण्य-पाप के, राग-द्वेष के भावरूप भाववन्ध को द्विधा करने वाला, भिन-भिन करनेप्रकार का कर्ता आत्मा है। आत्मा और रागादि भावों का जुदा-जुदा करना भी एक कार्य है न? इस कार्य का कर्ता आत्मा है, राग नहीं। क्योंकि जिससे भिन्न होना है, वह राग भेदज्ञान का कर्ता कैसे हो सकता है? व्यवहार शुभ राग है तो यह तो बन्ध है, इससे तो जुदा पड़ना ही है। ब्ला जिससे जुदा पड़ना हो, वही जुदा करने का कर्ता कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। इन दोनों को भिन-भिन करने का कार्य वस्तुतः आत्मा का ही है, राग का नहीं।
प्रश्न - छठालामें तो ‘हेतु नियत का होई’ यह कहकर व्यवहार मोक्षमार्ग को निश्चय मोक्षमार्ग का हेतु कह दिया है, उसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर - भाई! यह तो निमित्त का कथन है। जब सत्यार्थ मोक्षमार्ग प्राप्त हुआ, तब जो मोक्षमार्ग तो नहीं, किन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त व सहचारी होता है उसे उपचार से व्यवहार मोक्षमार्ग कहते हैं। और उसे बाह्य निमित्त व सहचारी जानकर निश्चय मोक्षमार्ग का हेतु है - ऐसा उपचार से कहा जाता है। अतः इस कथन से ऐसा समझना चाहिए कि - यहाँ उपचार कथन द्वारा निमित्त का ज्ञान कराया है।

अब आगे कहते हैं कि अतीत्रिय आनन्दस से भरे आत्मा को और पुष्य-पापरूप बंध की - दुःख की दशा को भिन्न-भिन्न करनेवाला कार्य के कर्म, कर्मण, सम्प्रदाय, अपादन व अधिकरण रूप छोड़कर कारक (शक्तियाँ) आत्मा में ही हैं; पर ये सभी शक्तियाँ आत्मा में धृष्टि रूप से अक्रिय रहती हैं। यहाँ भिन्न-भिन्न करनेवाला कार्य में पर्यायरूप कारक की बात है। दोनों को जुड़ा करना है तो जुड़ा करनेवाला कार्य के कारण में वर्तमान पर्याय साधन होकर दोनों को भिन्न-भिन्न करती हैं। जो त्रिकाली शक्तियाँ हैं, वे तो धृष्टि हैं और जो विकार है, वह दोष है। विकार को तो यहाँ पर में डाल दिया है। अतः ये दोनों ही साधन नहीं हो सकते। इसलिए यहाँ कहते हैं कि - कर्म आत्मा के करण सम्बन्धी विचार करने पर निर्देशन से (वस्तुसः) देखा जाय हो स्वर्ग से भिन्न करणों का अभाव ही है तथा भगवतीप्रजा ही - ज्ञानस्वरूप बुद्धि ही छेदनात्मक करण है। यह आत्मा की अनुभूतिदशारूप पर्याय की बात है तथा वह पर्याय कर्ता से भिन्न नहीं होती।

अहा! वीराग जैन परमेश्वर ऐसा कहते हैं कि दुःख की दशा का भाव और आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा को भिन्न-भिन्न करना हो तो कर्म भी आत्मा ही है और साधन (करण) भी आत्मा ही है। यह से - दुःख से भिन्न करने में स्वरूप की ओर उच्च ज्ञान की वर्तमान दशा साधन है। राग के साथ ज्ञान की वर्तमान दशा की एकता थी, वस्तु के साथ नहीं। वस्तु तो धृष्टि है।
समवसार गाथा २९४

बह ज्ञान की पर्याय ज्यों ही अन्दर में दली नहीं कि तत्काल राग से भिन्न अपना आनन्द का नाथ प्रभु आत्मा ख्याल में आ जाता है। इस प्रकार आत्मा को राग से भिन्न करने का साधन भगवती प्रज्ञा है, अन्तर में एकाग्र हुई ज्ञान की पर्याय ही है।

लोग कहते हैं कि भेदज्ञान का साधन व्यवहार है। परंतु भाई! यहाँ तो अत्यन्त स्पष्ट रूप से यह कहा है कि - भगवतीप्रज्ञा ही - अन्तर एकाग्र हुई स्वानुभव की दशा ही विकार से भिन्न करने का साधन है।

एक कार्य में दो साधन होते हैं - यह तो कथन शैली है। व्यवहार का कथन है - ऐसा कहकर प्रमाण का ज्ञान कराया है। वास्तव में तो - साधन दो होते ही नहीं हैं, एक ही होता है। यदि दो हों तो परस्पर विरोध आयेगा।

अहा! अनन्तकाल में परिभ्रमण करने पर यह महादुर्लभ मनुष्यभव मिला है। इसमें भी जिन्दगी में जन्म होना तो ओर भी अति दुर्लभ है। देखो न! आज तक भी जिन्हें त्वस्य अवस्था नहीं मिली - ऐसे अनन्त जीव निगोद में है। एक आलू-प्याज के एक अणु जैसे भाग में असंख्य औदारिक शरीर हैं और प्रत्येक शरीर में अनंत निगोदिया जीव हैं। वे सभी जीव स्वभाव के सामर्थ्य से पूर्ण द्रव्यरूप से परमात्मास्वरूप हैं। पर क्या करें? वर्तमान दशा ही है, स्वरूप को समझने की योग्यता से रहित हैं। भाई! अपने को ऐसा अवसर मिला है, अतः हर कीमत पर स्वरूप को समझ ही लेना चाहिए। अब तक जो राग से एकता है, उसे तोड़कर चैतन्यस्वरूप में एकता कर! यदि ऐसा अवसर पाकर भी यह काम नहीं किया तो तेरे आत्मा में और निगोद के जीव में क्या फर्क रहा? अवसर तो चला जायेगा और हम स्वरूप के भान बिना निगोदिया जीव की भांति ही कहाँं संसार समुद्र में जा पड़ेंगे।

वर्तमान में भले ही शरीर स्वस्थ्य व सुन्दर हो, पारिवारिक व आर्थिक अनुकूलता हो, पर इन सब में तेरा क्या है? भाई! तेरा तो एक आनन्द का नाथ चैतन्य लक्ष्मी स्वरूप आत्मा ही है। अहा! इसे जाने बिना तू दुःखी ही है। प्रभु! इसके भान बिना यह बाहरी जड़ लक्ष्मी से यदि तू स्वरूप को सुखी
प्रवचनरत्नाकर भाग 8

मानता है तो यह तेरी बहुत बड़ी भूल है। यह मिथ्या कल्पना है। देखते ही देखते यह सब अदृश्य हो जायेगा और तू कहीं कोइ-कुछ को योनि में चला जायेगा।

यहाँ कहते हैं कि एकमात्र भगवती प्रज्ञा ही आत्मा व विकार के भेदज्ञान में समर्थ साधन है। जिस तरह करोत से लकड़ी के दो फाड़ हो जाते हैं, उसी तरह भेदज्ञान की बुद्धिरूप प्रज्ञाचैनी से आत्मा व विकार को भिन-भिन कर देती है। आहा! देव-गुरु-शास्त्र के प्रति भक्ति विनय का राग व पंच महाब्रह्मादि का राग आदि जो भी व्यवहार है। इन सबसे भगवान आत्मा को भिन करने के स्वभाव बाला साधन एकमात्र भगवतीप्रज्ञा ही है और वह प्रज्ञा आत्मा से अभिन है। इस्प्रकार आत्मा की अन्तर्मूख झुकती हुई ज्ञान की पर्याय प्रज्ञा छैनी ही करता है और यही एक-मात्र भेदज्ञान का साधन है।

प्रश्न — आपके कहे अनुसार जब आत्मा व विकार जुड़े-जुड़े हैं ही तो फिर इन्हें जुड़ा-जुड़ा करने के लिए कहा ही क्यों जाता है?

उत्तर — हाँ, यद्यपि ये वास्तव में भिन-भिन ही हैं, परंतु अज्ञानी ने इन्हें भिन-भिन तो माना ही नहीं, साथ ही उसने अन्य परवश्तुओं में अपनापन भी स्थापित कर रखा है।

अब इसी बात को विशेष कहते हैं कि इनसे भेदविज्ञान करने का एकमात्र उपाय प्रज्ञा ही है। जीव जबतक परस्परों को एवं रागादि विकारों को ही आत्मा मानता रहता है तबतक अज्ञानी रहता है। और जब भेदज्ञानरूप प्रज्ञाचैनी से आत्मा व रागादि को भिन ज्ञान लेता है, तो दोनों भिन-भिन हो जाते हैं। आत्मा आत्मा-रूप से व रागादि रागादिरूप से भिन-भिन पड़ जाते हैं। इसी का नाम धर्म है।

अहा! लोग तो एकाध घंटा व्याख्यान सुनके, पूजा-पाठ करके, सामयिक-प्रतिक्रिमण करके संतुष्ट हो जाते हैं। इसे ही धर्म मानकर कर्तव्य की इतिहास समझ लेते हैं। अरे! लोगों ने धर्म के स्वरूप को ही तोड़-मरोड़ डाला है। संत करुणा करके समझाते हैं, अरे भाई! एकबार सुनो तो सही!
समयसार गाथा २१४

इन सब क्रियाओं में शुभभाव रहने से पुण्य बन्ध तो हो जायेगा। पर इससे भिन्न होने की खबर बिना, भेदविज्ञान की कला के बिना अनन्तकाल की संसार में भटकने की रखड़कटी नहीं मिलेगी।

निर्जरा अधिकार में कहा ही है कि रागादि भाव कलेश हैं। रागादि कलेश होना जुदी बात है, पर उससे धर्म मानना तो ठीक नहीं। उत्ती मान्यता तो मिथ्यात्म है न।

अहा! कहते हैं कि राग को व ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को एक मानने वाले तो सचमुच जैन ही नहीं हैं।

अहा! भगवान जिनेव्रेद्व द्वारा बताया मुक्ति का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। एक पल भी जिसे आत्मज्ञान होता है, वह भवरहित हो जाता है। तथा - आत्मज्ञान के बिना बाह्य क्रियाओं कर-कर के सूख भी जायें तो भी एकभव भी नहीं घटता। बाह्य क्रियाओं में धर्मवृद्धि होना मिथ्यात्म का ही महादोष है।

अब यहाँ शिष्य पूछता है कि आत्मा और बंध दोनों चैत्य-चेतकभाव के कारण तथा निकटता के कारण एक जैसे हो रहे हैं। भगवान आत्मा चेतक है और दया-दान, ब्रत-भक्ति तथा हिंसा-झूठ-चोरी आदि के विकारी भाव चैत्य अर्थात् ज्ञेय हैं। ये यथाप्रति आत्मा की पर्याय में ही होते हैं, तो भी विभाव भाव होने से ये आत्मा नहीं हैं। दोनों में अत्यन्त निकटता है। अर्थात् जिस समय आत्मा में विकार उत्पन्न होता है, उसी समय उस आत्मा में उस राग को जाननेवाला ज्ञेन भी उत्पन्न होता है। जाननेवाला भगवान आत्मा जब जाने की दशारूप उत्पन्न होता है, उसी समय राग की उत्पत्ति होती है, यह निकटता है। निर्सचय से विकार चैत्य है अर्थात् जाननेलायक है। और आत्मा चेतक है और चेतक में बंधभाव नहीं है। ऐसा होते हुए भी, दोनों की अत्यन्त निकटता के कारण अज्ञानी ‘विकार रूप चैत्य ही मैं हूँ’ - ऐसा मानता है।

देखो! आत्मा और विकार - दोनों एक हो रहे हैं - ऐसा कहा है न? वस्तुतः ये दोनों एक नहीं हैं, पर अज्ञानी को ये एक जैसे भासित होते हैं।
भाई ! अज्ञानी ने अनन्तकाल से आत्मा व बस्थ के बीच भेदज्ञान नहीं किया। अनशन ऊनोदर आदि बारह प्रकार का तप किया, गुण-गुणी के भेदरूप विकल्प किए, शुक्लेश्वरपूर्वक अनतबार नवग्रेवदक गया परंतु ‘शुभे रागरूपचैत्य पदार्थों से में (चेतकरूप आत्मा) भिन्न हूं’ - ऐसा भेदज्ञान नहीं किया।

भाई ! भगवान ने जो जीव-अजीव, पूण्य-पाप आदि नव पदार्थ कहे हैं उनमें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, पति, काम, क्रोधादि पाप भव हैं और दया, दान, ब्रत तप, भक्ति आदि पूण्य भाव हैं। तथा भगवान आत्मा इन दोनों से भिन्न ज्ञायक तत्त्व हैं।

शकरक्षन के छःक लोग की भांति शुभाशुभ भाव की लाली को यदि आत्मा से भिन्न कर दिया जाये तो अन्तर सम्पूर्ण आत्मा शकरक्षन के दल की भांति अतीन्द्रिय आनन्दरूप मिठास का कंद ही है। आत्मा की पर्याय में जो शुभाशुभ भावों के विकल्प ऊत्तर हैं, वे शकरक्षन के ऊपर के लाल छः लोग जैसे हैं। यदि अज्ञानी इनका लक्ष्य छोड़ दे तो अन्तर भगवान आत्मा अकेला ज्ञान व आनन्द का ही रसकंद है। पर अज्ञानी को आत्मा व रागादि के बीच भेदज्ञान ही नहीं हैं।

भाई ! यह मानस रोपण कर दिखता है, यह तो धूल-माटी का पिण्ड है। जब यह मानस जलेगा तो इसकी राख का पता ही नहीं चलेगा कि कहाँ उड़ गई ? और जीव भी बिना भेदज्ञान पाये कहाँ न कहाँ इसी संसार सागर में गोते लगाता रहेगा।

अहा ! जिसका महाभाव होगा उसी के कान में यह वीतराग की बाणी पड़ती है।

यहाँ शिष्य पूछता है कि चेतक आत्मा और चैत्य विकार – ये दोनों अज्ञानी को एक भासित होते हैं, उसे भगवति प्रज्ञा द्वारा किस प्रकार भेद किया जा सकता है? उसे सम्प्रदाशन और आत्मानुभव कैसे हो सकता है?
समवसार गाथा २९४

इस प्रश्न का समाधान यह है कि आत्मा और बन्ध की नियत स्वल्पक्षणों
की सूक्ष्म अन्तःसंधि में प्रजाज्ञैणी को सावधान होकर पटकने से चैत्य रूप
विकार को छेदा जा सकता है।

जिस तरह एक दिखाने वाला पहाड़ वस्तु: एक नहीं होता, उसमें अनेक
पत्थर होते हैं जो अति नजदीक-नजदीक होने से एक जैसे लगते हैं, उनकी
संधि को देखकर उसमें सुरंग लगाने से वह पहाड़ छिन-भिन हो जाता है।
ढीक इसी तरह ज्ञानान्द स्वभावी आत्मा व पुण्य-पाप एक नहीं है, उनके बीच
भी सूक्ष्म संधि है। इसलिये स्वानुभव में समर्थ प्रजाज्ञैणी से उसे छेदा जा
सकता है।

अन्तर आत्मा में जो राग का विकल्प उठता है, यद्यपि वह सूक्ष्म है; पर
भगवान आत्मा का ज्ञानोपयोग उससे भी अतिसूक्ष्म है। आत्मा व रागादि बंध
के अपने-अपने नियत स्वल्पक्षण हैं। बंध का लक्षण राग है और आत्मा का
लक्षण ज्ञान व आनंद है। दूसरी तरह कहें तो आत्मा का लक्षण निरकुलतास्वरूप
व बंध का लक्षण आकुलतास्वरूप है। राग की दशा परलक्ष्यी है, राग पर के
लक्ष्य से उत्पन्न होता है। इन लक्षणों से आत्मा व बंध के बीच संधि है, भिन्नता
है, एकरूपता नहीं है।

अहा! अनादि से अज्ञानी ने परलक्ष्यी राग की दशा को और अंतरंग ज्ञान
की दशा को एक मानकर ‘में रागी हूँ’ ऐसा माना है।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञान की दशा को राग से भिन्न जानकर ज्ञान को अन्तर
में एकाग्र करने पर वह अन्तर में ऐसा स्थिर होता है कि दोनों भिन-भिन
हो जाते हैं। वस, इसी का नाम भेदविज्ञान व सम्बन्धर्षण है।

भाई! यह भेदज्ञान तो अन्तर की क्रिया है। इसके बिना लाखों बाहर
क्रियायें करें तो भी धर्म नहीं होता। राग व आत्मा को भिन करने की भेदज्ञान
की कला ही एकमात्र धर्म प्राप्त करने की कला है। भगवान तीर्थकरदेव ने जगत
को परमार्थ का एकमात्र मार्ग दर्शाया है।
आचार्यों ने जो भेदज्ञान की बात कही है, वह उनकी स्वयं की स्वानुभव प्रमाण बात है, केवल सुनी-सुनाई नहीं है। हम भी इसे अनुभव से प्रमाण कर सकते हैं। किसी केवली भगवान से पूछने नहीं जाना पड़ेगा कि - हमें धर्म हुआ या नहीं? परंतु तत्त्व का जैसा स्वरूप है, उसे जाने बिना सत्य की ओर झुकाव भी कैसे होगा?

भाई! यह देखो तो क्षणभर में छूट जायेगी। बापू! बाहर में तुझे कोई शरणभूत नहीं है। अन्तर में रह रहा एकमात्र आत्मा ही तेरा सच्चा शरणभूत है। ये पुन्य-पाप के भाव भी अशरण हैं। अतः इनका लक्ष्य छोड़कर अन्तर आत्मा की शरण प्राप्त करने में सावधान हो जा। स्वरूप की शरण में जाते ही तुझे अतीतन्त्र आनन्द प्राप्त होगा।

अहा! ध्रुव को ध्यान में लेते ही राग व आत्मा दोनों भिन-भिन पड़ जाते हैं। अहा! पहले ज्ञान की दशा जो राग में तन्मय थी, जब वही ध्रुवधाम भगवान आत्मा में एकायु हुई तो ज्ञान राग से सहज भिन हो गया और उसी समय अतीतन्त्र आनन्द का स्वाद आया। जब अतीतन्त्र आनन्द का स्वाद आया, तब जाना कि राग व आत्मा भिन-भिन पड़ गए हैं। इसी का नाम सम्यगदर्शन है।

अहो! सम्यगदर्शन होने पर ऐसा जाना कि - में आनन्दस्वरूप हूं, रागस्वरूप मेरा स्वरूप नहीं है, राग की मुझ में नास्ति है। ज्ञानस्वरूपी आत्मा का ज्ञान होने पर पर्याय में ज्ञान आया, राग नहीं आया। राग ज्ञान से भिन पड़ गया। इसी का नाम भेदज्ञान है। अहो! पुन्य-पापरूप अशुचि से भिन करके परम पवित्र प्रभु आत्मा को प्राप्त करने वाला भेदज्ञान कोई अजेयविक नहीं है। कहा भी है :-

"भेदविज्ञानत: सिद्धः सिद्ध ये किल केचन।
अस्येवाभावतो बद्धः बद्ध ये किल केचन।"

आज पर्यन्त जितने सिद्ध हुए, सभी इस भेद विज्ञान से ही हुए हैं और जो आज भी बन्धन में हैं, वे सब भेद विज्ञान के अभाव में ही हैं।"
समयसार गाथा २९४

जिस तरह शुक्ल पक्ष की दोज के बाद पूर्णमासी आती ही है, उसी तरह सम्यगदर्शन के बाद भेरजान के बल से अत्यकाल में मुक्ति होती ही है।

अब कहते हैं कि - 'चैतन्य आत्मा का असाधारण लक्षण है; क्योंकि वह पुद्गलादि सर्व अन्य द्रव्यों में नहीं है। जो अपने में ही होता है व पर में नहीं होता है, वह असाधारण लक्षण है। इस नियमानुसार चैतन्य आत्मा का असाधारण लक्षण है।

वह चैतन्य प्रवर्तित होता हुआ जिन-जिन पर्यायों में व्याप्त होकर प्रवर्तता है, वे-वे समस्त सहवर्ती पर्यायिन् (गुण) आत्मा हैं - ऐसे लक्षण से पहचानना। देखो, यहाँ गुणों को पर्याय कहा है। द्रव्य में इतना भेद पड़ा न ? इस कारण गुणों को पर्याय कहा है। शान्तिकुण्ड के साथ अन्य जो-जो अनन्त गुण सहवर्ती हैं, उनमें चैतन्य व्याप्त होकर प्रवर्तता है। इसलिए वे आत्मा ही हैं - ऐसा जानना। (यहाँ निर्मल पर्यायिन् लेना)।

देखो, यहाँ उत्पाद-व्यव-भ्रौच्छ का स्वरूप बताया है। "उपजववाय भ्रौवयुक्तमृत्तु" यह सूत्र है न ? इसी का यहाँ स्पष्टीकरण किया है। परन्तु यदि ऐसा विकल्प उठता है कि "में आत्मा हूँ और यह ज्ञान गुण है" - ऐसा भेद पड़ते ही जो विकल्प उठता है - वह विकल्प राग है और वह बन्ध को पंक्ति में आ जाता है; क्योंकि उस विकल्प में चैतन्य का अंश नहीं है। इस कारण भगवान आत्मा का लक्षण चैतन्य है और वह गुण-पर्याय रूप है। समय-समय पर जो नवीन पर्याय क्रमबद्ध उत्पन्न होती है, उस पर्याय के उत्पाद को ग्रहण करता, पूर्व की पर्याय को छोड़ता, (निवर्तता) एवं गुणरूप से कायम रहता हुआ एक आत्मा ही है। सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो द्रव्य, गुण व पर्यायरूप आत्मा को देखा - वही सर्वज्ञ की जानी-देखी बातें हैं। आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख, बीर्थ तथा अस्तित्व, वस्तुत्व आदि। ये सभी गुण सहवर्ती हैं एक साथ रहते हैं।

त्रिकाली गुण स्वभावों को यहाँ सहवर्ती कहा है। भगवान आत्मा इन सभी गुणों में प्रवर्तता है, व्याप्त हैं तथा जो नवीन-नवीन अवस्थाएं क्रम से होती
इन, उन्हें क्रमवर्ती कहते हैं। गुण नये-नये नहीं होते। इस प्रकार सहवर्ती गुण व क्रमवर्ती पर्यायें - ये सब आत्मा ही हैं - ऐसे लक्षण से आत्मा ही एक लक्षित होता है। आत्मा एक इसी लक्षण से पहचानी जा सकती है। शरीर की या राग की किसी क्रिया से आत्मा की पहचान नहीं होती।

चैतन्य लक्षण जो गुणरूप से त्रिकाल है, वह तो चैतन्य "..." चैतन्य "..." चैतन्य "..."! इस प्रकार चैतन्य सामान्यरूप से त्रिकाल धुव है। इससे आत्मा का ग्रहण नहीं होता। परंतु इसकी जो नवीन-पर्याय उत्पन्न होती हैं, उनमें पर्वतित होता हुआ और पूर्व पर्यायों से निर्विरोध होता हुआ आत्मा उन-उन निर्मल पर्यायों से जानने में आता है।

अहा ! अंतर में चैतन्य लक्षण आत्मा है - ऐसा जानकर बहिःपुः दृष्टि छोड़कर अंतर में शुद्ध चैतन्य में अन्तर्दृष्टि करने पर जो ज्ञात होता है, वह भगवान आत्मा है। आत्मा शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु है। चैतन्य गुण इसका शक्तिरूप लक्षण है और ज्ञान-दर्शन की पर्यायें आत्मा का व्यक्त लक्षण है। अन्तर्लक्ष्य करने पर यह जो ज्ञान गुणस्वरूप है, वह आत्मा है - ऐसा जो ज्ञान प्रगट हुआ, वह सम्प्लेक्स है। ज्ञानस्वरूप आत्मा में अन्तर दलती हुई ज्ञान की दशा जो अपने ज्ञातजन्दस्वरूप को जानती है, अनुभव करती है, वह ज्ञान है। अहा ! अनत काल में जो एक क्षण भी नहीं किया - ऐसा यह भेदज्ञान करना इस जीव का प्रथम कर्त्त्व है।

अहा ! यह समयसार तो अश्रीरी बनने का अमोच परमाणु शास्त्र है क्योंकि यह शास्त्रों से भी लक्ष्य छोड़कर अन्तर्लक्ष्य करता है। अहा ! इसके अभ्यास के बिना बाह्य व्रत, तप आदि सब व्यर्थ हैं।

दस्यें भव में भगवान महादेव का जीव सिंह की पर्याय में था। एकबार जब वह दिग्गज को खा रहा था तब उसे दो चारण ऋद्धिराज मूनिराज उसके पास आये। उन्हें देख सिंह स्तब्ध रह गया। तब मूनिराजों ने सिंह से कहा - अरे! तू यह क्या कर रहा है? हमने तो भगवान की दिव्यधार न में ऐसा सुना कि तू दस्यें भव में तीर्थकर होनेवाला है। अहा ! यह सुनते ही सिंह विचारों में
रोमान्ग गाथा २९४

डूब गया। सोचनें लगा - “‘अरे ! मैं यह क्या कर रहा हूँ और ये मुनिराज क्या कह रहे हैं ?’” अहा ! ‘मैं कौन हूँ’ इन विचारों के साथ ही उसकी आँखों से पश्चाताप के आंसू बहने लगे और पलक मारते ही उस सिंह ने शुभाशिशिव विकल्पों को तोड़ चैतन्य परिणति को - चैतन्यस्वरूप में जोड़ लिया। फिर क्या था - चैतन्य … चैतन्य … चैतन्य … इस प्रकार चैतन्यस्वरूप की अनुभूति में मगन हो गया और तत्काल बवबीज के छेदक सम्यगदर्शन को प्रगट कर लिया।

अहा ! ऐसा तू भी चिन्मात्र आत्मा है। तू स्थ्री, पुरुष या नपुंसक नहीं है। पुण्य व पाप भी तू नहीं और पुण्य-पाप का कर्ता भी तू नहीं। तू तो चैतन्य की निर्मल परिणति में जात हो - ऐसा चिन्मात्र आत्मा है।

जहाँ एक चैतन्य गुण है, वहाँ दूसरी अनन्त शक्तियाँ एवं चारित्र, सुख, बीर्य, जीवत्व, कर्ता, कर्म, करण आदि एकरूप अविनाभाव से हैं और जहाँ चैतन्य की एकसमय की पर्याय है, वहाँ साथ ही इन अनन्त गुणों की पर्यायें एक अभिनाभावी हैं। अहा ! … ऐसा भगवान आत्मा मात्र ज्ञानस्वरूप चैतन्य प्रकाश से भरपूर चैतन्य सूर्य है जो आँखों से दिखाई देता है - यह तो जड़ सूर्य है। इसे तो स्वयं को यह खबर ही नहीं हैं कि में प्रकाश का बिम्ब हूँ। चैतन्य सूर्य तो अनुपम है। उसकी इस सूर्य से उपमा कैसी?

जिनेन्द्रदेव ने, सर्वज्ञ परमेश्वर ने जैसा आत्मा का स्वरूप कहा है वैसा आचार्य कुन्दकुन्द देव ने इस गाथा में दर्शाया है तथा आचार्य आमृतचन्द्र देव ने इस गाथा का दोहन करके उसके सार तत्व को विस्तार से समझाया है। अहो ! कोई अद्वैत गाथा व अलौकिक टीका है।

प्रश्न – यह तो ठीक, पर इतना सब कुछ यदि कैसे रहे ? इधर सुनते हैं उधर भूल जाते हैं ? इसके लिये क्या करें?

उत्तर – जहाँ की तीन रूचि होती है वह सब याद रहता है। रूचि अनुयायी बीर्य काम करता ही है, उस ओर का पुरुषार्थ (प्रयत्न) हुए बिना नहीं रहता।
अतः तीन रूचि जागृत करो। जितनी रूचि ध्वंश-व्यापार में है, उतनी रूचि यहाँ नहीं है। अपने-अपने अन्तर को टॉयलेट के देखो, सब खबर पढ़ जायेगी।

अब बन्ध के स्वल्पक्ष के बारे में कहते हैं। बंध का स्वल्पक्ष तो आत्मद्वय से असाधारण-शुभाशुभ रागादि रूप है। ये रागादिक आत्मद्वय के साथ साधारणतः प्रतिभासित नहीं होते; क्योंकि वे सदा चैतन्य चमकता से भिन रूप से प्रतिभासित होते हैं।

पुण्य-पाप के भाव बन्ध के स्वल्पक्ष हैं, आत्मा के लक्षण नहीं हैं। ये रागादि पुण्य-पाप के भाव आत्मद्वय के साथ सदा होते हैं - ऐसे देखने में नहीं आता। जहाँ-जहाँ आत्मा होती है वहाँ-वहाँ रागादि होते हैं - ऐसी व्यापित नहीं है। बल्कि वे तो सदा चैतन्य चमकता से भिन ही भासित होते हैं। अहा! बन्ध के लक्षणबाले पुण्य-पाप के भाव कभी-कभी संसारदशा में चैतन्यचमकारस्वरूप प्रभु आत्मा में देखने में आते हैं, पर आत्मा से पृथकरूप से ही दिखाई देते हैं। वे आत्मा ही हैं - ऐसा प्रतिभासित नहीं होता।

जैसा चैतन्य ए - चैतन्य ए - चैतन्य ए लक्षण आत्मा के समस्त गुण-पर्यायों में व्याप्त प्रतिभासित होता है वैसा पुण्य-पाप का भाव आत्मा के साथ सदा रहता दिखाई नहीं देता; क्योंकि जैसा पुण्य-पाप के बिना सिद्ध जीवों का अस्तित्व है, वैसे ही रागादि के बिना भी संभव है। भगवान आत्मा में रागादि नहीं हैं। आत्मा से भिन पड़कर जब ज्ञानी जीव अन्तर में आत्मानुभव करते हैं तो उन्हें राग रहता आत्मानुभूति होती है। तथा सिद्धों में रागादिक नहीं हैं, फिर भी चैतन्य तो है न? यदि रागादि या पुण्य-पाप के भाव आत्मा से अभिन हों, या आत्मा ही हों तो जहाँ-जहाँ चैतन्य हो, वहाँ-वहाँ उन्हें भी होना ही चाहिए। पर सिद्धों में ऐसा नहीं है। वहाँ ज्ञानदर्शन है और रागादि नहीं है। इससे सिद्ध है कि - बंध आत्मा से पूर्णतः भिन है। आत्मा की चीज नहीं है।

अहा! यद्यपि जिस समय ज्ञान की दशा उत्पन्न होती है, उसी समय पुण्य-पाप के भाव उत्पन्न होते हैं, पर ये ज्ञेय-ज्ञायक की अति निकटता के कारण होते हैं। इससे ऐसा नहीं समझना कि ज्ञान व राग एक ही इत्यादम हैं। जिस
समयसार गाथा २९४

तरह अगिन को देखने वाली आँख अगिन रूप नहीं है, उसी तरह ज्ञानस्वरूप आत्मा व राग एक नहीं हैं। जिसप्रकार अगिन को देखनेवाली आँख अगिनरूप नहीं होती, उसीप्रकार राग को जानने-देखनेवाला ज्ञान रागरूप नहीं होता। इस प्रकार ज्ञान व राग एक द्रव्यमय नहीं हैं, भिन्न-भिन्न ही हैं। अनादि से दोनों एकरूप भासित होते हैं पर यह अज्ञानजनित भ्रम है। अहा ! यहाँ तो यह कह रहे हैं कि इस राग का अभाव कैसे हो ?

अहो ! कैसी गंभीर टीका है। आचार्यदेव ने अमृत घोल दिया है। भव्यजीवों के भाग्य से जंगल में अतीतदिन आनंद में रमनेवाले मुनिवरों को विकल्प आ गया और यह शास्त्र बन गया। ध्यान रहे, शास्त्र की रचना शास्त्र के कारण हुई। आचार्य को विकल्प उनके अपने स्वतंत्र स्वच्छत्वम से हुआ है और शास्त्र अपने स्वतंत्र स्वच्छत्वम से बना। कोई किसी का कर्त्ता नहीं है। फिर भी भविष्य-भाव से व उपकार की भावना से कहा तो यही जाता है कि - संतों ने मोक्ष-मार्ग सरल कर दिया है।

प्रसिद्ध दीपचन्दजी शाह ने लिखा है कि - संतों ने मार्ग सुगम कर दिया; पर जगत उसे समझने की कोशिश नहीं करता। अहा ! ऐसे लोगों के लिए क्या कहें?

देखो ! दर्पण में प्रतिबिम्ब चेहरा और दर्पण के सामने खड़े व्यक्ति का चेहरा भिन्न-भिन्न हैं। पुरुष का चेहरा दर्पण में नहीं चला गया। जिस तरह दर्पण में जो प्रतिबिम्ब दिख रहा है, वह दर्पण की स्वच्छता है, उसी तरह ज्ञानस्वरूप आत्मा में जो पुण्य-पाप का भाव ज्ञात होता है, वह भी ज्ञान की स्वच्छता है। ज्ञान में पुण्य-पाप का भाव युग नहीं गया। जाननेवाला ज्ञान जानने में आने वाला राग - दोनों भिन्न-भिन्न ही हैं।

भगवान आत्मा चेतक है, ज्ञानस्वरूप दर्पण है। इसमें जो पुण्य-पाप के भाव प्रतिविद्यम बदलते हैं, वह प्रतिबिम्ब ज्ञानस्वभावी आत्मा की स्वच्छता है। पुण्य-पाप के भाव है अवस्था, परंतु वे भाव आत्मा में कहीं घुस नहीं जाते। वे आत्मा से तो भिन्न ही हैं। दोनों एक काल में जो साथ-साथ हैं, वह ज्ञेय-
ज्ञायक-भाव की निकटता है, पर इससे ज्ञान व रागादि कहीं एक नहीं हो गये। रागादिभाव ज्ञायकरूप अथवा ज्ञानरूप नहीं हुए तथा ज्ञायक आत्मा भी उन रागादिभाव रूप नहीं हुआ। राग है, इस कारण ज्ञायक को राग का ज्ञान हुआ तो है, पर ज्ञायक को ज्ञान करने के लिए राग की कोई पराधीनता नहीं है। राग को जानेवाला ज्ञान रागरूप हो जाता हो – ऐसा भी नहीं है। दोनों में मान स्वतंत्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

अब पुनः द्वारा इसी बात को और अधिक विस्तार से स्पष्ट करते हैं – दीपक घट-पटादि को प्रकाशित करने के काल में सचमुच तो अपनी उस ज्ञान पर्याय को ही प्रकाशित करता है, जिस ज्ञान में ये घट-पटादि प्रकाशित होते हैं। यदि घट-पटादि को वस्तुत: दीपक प्रकाशित करे तो दीपक घट-पटादि रूप हो जायें, पर ऐसा होता नहीं है और घट-पटादि भी दीपक में जाते नहीं हैं। घट-पट को प्रकाशित करता दीपक क्या घट-पटादि रूप हो जाता है ? नहीं होता। तो क्या प्रकाशित घट-पट दीपक में प्रविष्ट हो जाते हैं ? नहीं होते। वास्तव में तो दीपक घट-पटादि को प्रकाशित करता ही नहीं है, किन्तु उस समय अपना द्वैतरूप स्वप्न प्रकाशपने को ही वह प्रगट करता है, घट-पटादि को नहीं।

जिस तरह दीपक घट-पटादि को प्रकाशित करता है – यह तो व्यवहार का कथन है। वास्तविक रूप से तो दीपक अपने स्व-पर को प्रकाशित करने वाले एक प्रकाश स्वभाव को ही प्रकाशित करता है; क्योंकि दीपक घट-पट रूप व घट-पट दीपक रूप कभी होता ही नहीं है।

उसीतरह आत्मा द्वारा चेतन में आनेवाले रागादि आत्मा के चेतकपने को ही जाहिर करते हैं, रागादिपने को नहीं। भगवान आत्मा शुद्ध-एक-ज्ञायक-भावरूप है, चेतक स्वभाव है। वह रागादि पुण्य-पाप के भावों को जानने के काल में वास्तव में तो अपनी उस ज्ञान पर्याय को ही जानता है, जिसमें ये पुण्य-पाप के भाव ज्ञात हो रहे हैं। यदि आत्मा पुण्य-पाप आदि भावों को जाने तो आत्मा स्वयं पुण्य-पाप रूप हो जायें, परन्तु आत्मा कभी पुण्य-पाप रूप नहीं होता।
समयसार गाथा २९४

‘रागादि को आत्मा जानता हैं’ ऐसा कहना तो व्यवहार है। वास्तविक
रूप से तो ज्ञान अपने द्वैतरूप स्व-पर को प्रकाशित करनेवाले एकमात्र अपने
एक ज्ञानस्वभाव को - चेतनस्वभाव को ही प्रकाशित करता है; क्योंकि ज्ञान
पुण्य-पाप आदि भावोंरूप तथा पुण्य-पाप आदि ज्ञान भावरूप कभी नहीं
परिणमते। ज्ञान तो सहज ही स्व-परप्रकाशक स्वभावी है जो निरन्तर
p्रकाशित होता है। ऐसा वस्तू का स्वरूप जानकर उसे अन्तर अनुभव में लेना
समकित का कारण होता है।

अब कहते हैं कि आत्मा व बंध का लक्षणभेद होते हुए भी अज्ञानी को,
अनादिकाल से आत्मा व रागादि बंध में एकपने का भ्रम है। वह भ्रम एकमात्र
प्रज्ञा द्वारा ही छेदा जा सकता है। जिस तरह अन्धकार को दूर करने का उपाय
प्रकाश है, उसी तरह भ्रम या व्यामोह दूर करने का उपाय भी एकमात्र
सम्बन्धज्ञान ही है।

गाथा २९४ के भावार्थ पर प्रवचन

आत्मा का लक्षण चैतन्य है व राग का लक्षण बन्ध है। दोनों में लक्षण भेद
है। इससे दोनों भिन्न-भिन्न हैं। दोनों की भिन्नता लक्ष्य में लेकर ज्ञानी को स्व
को और मोड़कर स्वानुभव करना ही दोनों को भिन्न करने का उपाय है। इसे
ही प्रज्ञाचैनी कहते हैं।

आत्मा तो स्पष्ट गुणों से रहित अमूर्तिक है और बंध सूक्ष्म परमाणु का
स्कन्ध है। छविस्थ अज्ञानी को दोनों को भिन्नता भासित नहीं होती। मात्र एक
स्कन्ध दिखाई देता है। वह अनादि से पर्याय में उत्पन्न हुए रागादि में - पुण्य-
पाप के भावों में ही रमता है। अन्तर में आनंद का रसकन्ध आत्मप्रभु स्वयं
विराजता है, उसकी तो अज्ञानी को कुछ ख़बर नहीं है। उसे तो रागादिरूप
भावबंध ज्ञात होता है। इस प्रकार उसे अनादि से अज्ञान है।

यहाँ कहते हैं कि - श्री गुरु के उपदेश के निमित्त से और अन्तर निर्णय
रूप उपादान को योग्यता से जब यह जानपना है कि चैतन्य मात्र आत्मा का
लक्षण है तथा रागादि पुण्य-पाप के जो भाव होते हैं, वे बन्ध के लक्षण हैं।
आत्मा जब स्व-लक्ष्य छोड़कर पर का लक्ष्य करता है, तब रागादि भाव उत्पन्न होते हैं। इसी से परलक्ष्यी भावों की बन्ध का कारण कहा है।

अरे! जिन्हें भव का भय नहीं है, यहाँ से मर कर हम कहाँ जायेंगे?
- ऐसा विचार नहीं है। उसके लिए क्या कहें? बापू। यह देख तो क्षण में छूट जायेगी, यहाँ जलकर भस्म हो जायेगी; पर तेरा आत्मा का क्या होगा। यदि मिथ्याल्प की भूमिका में ऐसे ही पड़ा रहा तो चार गति चौरासी लाख योगियों में रखड़ना पड़ेगा।

अब यहाँ आचार्यदेव इन दुःखों से छूटने का उपाय बताते हैं - पर की ओर के लक्ष्य वाला रागादि भाव बन्ध है और आत्मा चैतन्य लक्षण है। दोनों को लक्षण भेद से भिन-भिन जानकर आत्मानुभव करना धर्म है। यह धर्म आनंदरूप और बंध दुःखरूप है। इसी भेदभाव को यहाँ प्रज्ञानी कहा है।

प्रश्न - चैतन्यभाव को ही परम पारिपारिशिक्षक भाव कहते हैं न?
उत्तर - परमपारिपारिशिक्षक भाव छहों दृष्टियों में होता है, इसलिए यहाँ चैतन्य लक्षण से लक्षित ज्ञानभाव ही कहना उचित है। अहा! अनंत गुणमणिद्वि एक ज्ञानभाव-चिन्मात्रभाव ही आत्मा है। ऐसे आत्मा के स्वरूप में वर्तमान परिपारिशिक्ष न हो दालना ही धर्म है।

लोक में जो दया को धर्म कहा गया है, वह तो स्वूल व्यवहार की बातें हैं, जो कहने-सुनने में ही अच्छी लगती हैं। यहाँ तो यह कहते हैं कि - दया तो पर जीवों के लक्ष्य से हुआ शुभभाव है। यह तो बंध का लक्षण है, क्योंकि दया से तो पुण्य बन्ध ही होता है न? इससे धर्म होना माने तो यह तो मिथ्याल्प है।

अरे भाई! तू ने पर की दया पालने की तो अनंतकाल से चिनता की है, पर अन्दर में निर्मलान्त का नाथ जो चैतन्य महाप्रभु विराजता है, एकबार उसपर भी तो दया कर! पर की दया पालने के चक्कर में तेरी स्वर्य की हिंसा हो रही है। उसे भी तो देख। अहा अनंत शक्तियों का पिण्ड आत्मा चिन्मूर्ति प्रभुरूप है। उसे ज्ञान पर्याय में ज्ञेय बनाकर उसकी प्रतीति करना स्व-दया है और यही सच्चा अहिंसा धर्म है।
कलश १८९

जिस दया को धर्म का मूल कहा है, वह यही स्वदया है। इसे छोड़कर पर में रचना-पचना सचमुच ‘स्व’ की हिंसा है।

राग हो जब आत्मा से भिन्न है तो यह शरीर स्त्री-पुत्र, परिवार आदि अपने कैसे हो सकते हैं? इन्हें अपना मानना तो निरा पागलपन है।

यहाँ कहते हैं कि - ज्ञान व राग की सूक्ष्म संधि को शोधकर, सावधान होकर अनन्त पुरुषार्थ द्वारा तीक्षण प्रज्ञाचैनी को डालो। - ऐसा करने से राग आत्मा से भिन्न हो जायेगा और उपयोग शुद्ध चैतन्य स्वभाव में एकमेक हो जायेगा। जब अन्तर्मुख हो ज्ञानोपयोग आत्मा के चैतन्य स्वभाव में एकमेक होगा तो स्व स्वपने व राग परपने स्थप्त दिखाई देने लगेगा।

अहा ..... भगवान आत्मा अन्दर में चिन्मूर्ति प्रभु आनन्द अमृत का सागर है इसमें जो राग की वृत्ति उठती है, वह जहर है। इस जहर व अमृत के मध्य तीक्षण प्रज्ञाचैनी डालते ही दोनों भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इसी का नाम भेद-ज्ञान है, सम्यग्ज्ञान है, धर्म है। भोक्ता का मूल यही भेदज्ञान है। इसके सिवाय, ब्रज-तप आदि के शेष सब विकल्प व्यर्थ हैं।

भेदज्ञान को एक अपेक्षा विकल्प भी कहते हैं, क्योंकि यह दो के बीच होता है न? जब तक दो का लक्ष्य रहता है, तब तक भी सूक्ष्म विकल्प रहता है। परंतु जब एक ज्ञात के अन्तर्मुख होता है तो भेदज्ञान का निर्विकल्प परिणाम हो जाता है। यहाँ इस गाथा में प्रज्ञाचैनी शब्द से स्वानुभव ज्ञान समझना, मान्य विकल्प नहीं समझना।

(स्थंगः)

प्रज्ञाचैनी शितेयं कथमच्य निपुणे: पातिता सावधाने:
सूक्ष्मेन:संधिबन्धे निपतति रथसादात्मकर्मोभयस्य।
आत्मां रक्षार्थिन:सिंघरविशादलस्मारिन चतन्त्यपूरे
बन्धं चात्मानवेत्रे नियमतिमभिन्न: कुर्वत्वी भिन्त्रभिन्नी॥ १८९॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :—
श्लोकार्थ - [इयं शिता प्रज्ञाचैत्रि] यह प्रज्ञारूपी तीव्रता छैनी [निपुणे]
प्रवीण पुरुषों के द्वारा [कथम् अपि] किसी भी प्रकाश से (-यत्नपूर्वक)
[सावधानः] सावधानतया (निष्प्रादत्तया) [पातिता] पटकने पर,
[आत्मा-कर्म-उभयस्य सूचिये अन्तःसिद्धं] आत्मा और कर्म दोनों के
सूक्ष्म अंतरण सन्धि के बन्ध में [रघसात्] शीघ्र [निपतति] पड़ती है।
किसप्रकार पड़ती है ? [आत्मानम् अन्तःसिद्धः-विशादः-लसदः-धानिः
चेतनयपूरे मग्नम्] वह आत्मा को तो जिसका तेज अंतरण में स्थिर और
nिम्मलतया दैदीयम्यम् ऐसे चेतनप्रवाह में मग्न करती हुई [च] और
[बन्धम् अज्ञानवाये नियमितम्] बन्ध को अज्ञानवाय में निश्चल (नियत)
करती हुई - [भविष्यवात्री कुर्वती] इसप्रकार आत्मा और बन्ध को
सर्वत्रः भिन्न-भिन्न करती हुई पड़ती है।

भावार्थ - यहाँ आत्मा और बन्ध को भिन्न-भिन्न करनेकृपण कार्य है।
उसका तर्क आत्मा है, वहाँ करण के बिना कर्म किसके द्वारा कार्य करेगा ?
इसलिये करण भी आवश्यक है। निर्वचनमय से कर्ता से करण भिन्न नहीं
होता; इसलिये आत्मा से अभिज्ञ ऐसी यह बुद्धि ही इस कार्य में करण है।
आत्मा के अनादि बन्ध ज्ञानवरणादि कर्म है, उसका कार्य भाववन्ध तो
रागादिक है तथा नोकर्म शरीरादिक है। इसलिये बुद्धि के द्वारा आत्मा को
शरीर से, ज्ञानवरणादिक द्रव्यकर्म से तथा रागादिक भावकर्म से भिन्न एक
चेतनभावमात्र अनुभवी ज्ञान में ही लीन रहना सो यही (आत्मा और बन्ध
को) दूर करना है। इसी से सर्व कर्मों का नाश होता है, और सिद्धपद को
प्राप्ति होती है - ऐसा जानना चाहिए ॥ १८९ ॥

कलश १८९ एवं भावार्थ पर प्रवचन

यह भेदज्ञान का अलोकित कलश है। आचार्य कहते हैं कि - यह आत्मा
स्वभाव से चेतनप्रकाश का पूर है, आन्दरस का दरिया है। परंतु इसकी
वर्त्तमान पर्याय में जो पुष्प-पाप के भाव होते हैं वे जहर हैं। इस जहर से
मुक्त होने के लिए यहाँ कहते हैं कि - राग का लक्ष्य छोड़कर वर्त्तमान ज्ञान
कलश १८९

की दशा चिदानन्दवन आत्मा की ओर झुक जाये तो रागादि का भाव भिन खड़ पड़ जाता है। इसप्रकार स्व-सन्मुख अभिमुख होने वाली ज्ञान की पयाय ही प्रज्ञाछेनी है।

यहाँ कहते हैं कि - वह प्रज्ञािश्चैंचनी प्रवीण पुरुषों द्वारा यत्निृवक साधारणी से पटकने पर आत्मा व कर्म की सूक्ष्म संधि में जा पड़ती है, बस यही स्वभाव सन्मुख होने का सम्बन्ध पुरुषार्थ है।

ज्ञान व आन्द्र जिसका स्वतंत्र है - ऐसा भगवान आत्मा-ज्ञानान्द का रसकिद है। इसमें जो दया-द्वारा आदि सुभाषिणाम व हिंसा-झूठ चोरी, विषय-वासना आदि अशुभ परिणाम होते हैं, वे मूलभूत वस्तु नहीं हैं अर्थात् आत्मा व शुभाशुभ भाव - दोनों एक नहीं है। दोनों में लक्षण भेद से भेद है, सांध है। यहाँ कहते हैं कि - इन दोनों की अन्तरंग संधि में बहुत ही यत्नदीश प्रज्ञाछेनी डालने पर तत्काल दोनो भिन-भिन हो जाते हैं।

जिसमें राग का ज्ञान है - ऐसी वर्तमान ज्ञान की दशा आत्मा से जुदी नहीं है, परंतु राग आत्मा से जुदा है। जिससेर ह दर्पण में जो सिंह का स्वरूप (प्रतिविम्ब) है, वह दर्पणस्वरूप है तथा सिंहस्वरूप नहीं। उसीतरह चैत्यनम प्रभु आत्मा में जो राग का ज्ञान होता है, वह ज्ञान आत्मस्वरूप है, रागरूप नहीं। इससे राग को जानेवाली वह ज्ञान की दशा अन्तर में स्वाभिमुख होने पर उस राग से भिन पड़ जाती है और आत्मा का अनुभव करती है। बस, इसी का नाम सध्याद्वार व सम्यज्ञान है। वीरराग सर्वस्व परमेश्वर का भाग क्यों से प्रारंभ होता है।

अहा ! आत्मा अनादि-अनन्त नित्य शास्त्रव्यापी परिपूर्ण स्वतंत्र सिद्ध वस्तु है। इसका चैत्यनम प्रती तेज अन्तर में नित्य, ध्रुव और स्थिर है तथा निर्मलपने देदीप्यमान है। प्रज्ञाछेनी को ऐसे आत्मा के चैत्यपुर में यानी त्रिकालीध्रुव आत्मा के चैत्य चैत्य प्रवाह की एवं बंध की संधि में पटकने से वह आत्मा को आत्मस्वभाव में और बंध को आत्म भाव में स्थित कर देती है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com
अहा ! भगवती प्रजा ज्ञानमय चेतन आत्मा और बंध को सब ओर से अर्थात्
द्रव्य-क्षेत्र-काल एवं भाव -चारों ओर से भिन-भिन कर देती है। बंध के
किसी भी अंश को ज्ञान में नहीं मिलने देती तथा ज्ञान के किसी भी अंश को
बंध में नहीं मिलने देती। ऐसी भगवती प्रजा-ज्ञान चेतना ही मोक्ष का उपाय है।

भाई ! तेरा मोक्ष का साधन तेरे स्वयं के पास ही है। उसे जाने बिना अज्ञान
भाव से शुभराग को मोक्ष का साधन मानकर अनादिकाल से तू राग का ही
- बंध का ही सेवन किया है। परंतु भाई ! राग से पार अनमुख हुई
ज्ञानचेतनारूप निर्मल निर्विकल्प अनुभूति ही मोक्ष का एकमात्र साधन है।
अहो ! इस निर्मल स्वानुभूति की क्या बात ? इसकी महिमा तो वचनातीत है,
विकल्पातीत है। इसलिए राग से साधन होकर उपयोग को अन्द्र स्वरूप
में ले जा !

भावार्थ यह है कि यहाँ आत्मा और बंध के बीच भेदज्ञान करनेवाले कार्य
का कर्त्ता आत्मा है।

भगवान आत्मा अनादि-अनंत, शुद्ध, चैतन्यसत्तास्वरूप त्रिकाली भिन
वस्तु है। और रागादि विकारी भाव आत्मा से भिन हैं। अनादि से तू अज्ञान
द्वारा इन्हें एक मान रखा है। इन्हें जुदा-जुदा करना ही धर्मरूप कार्य है। यहाँ
कहते हैं कि इन्हें भिन-भिन करने के कार्य का कर्त्ता आत्मा है। अहा ! 'स्वतः
सिद्ध वस्तुओं का कर्त्ता ईश्वर है' - यह मान्यता सर्वथा असत्य है।

लोग साधन की बात करते हैं। आचार्यदेव ने इसका भी यहाँ अति उत्तम
स्पष्टीकरण कर दिया है। वस्तुतः देखा जाय तो कर्त्ता से भिन करन होता ही
नहीं है। सत्यार्थ दृष्टि से देखें तो आत्मा से रागादिवन्ध को भिन करने के
लिए सबसे श्रेष्ठ हेतु आत्मा के अभिन गटकार हैं। आत्मा का कर्त्ता भी
आत्मा ही है और आत्मा का करण भी आत्मा ही है। करण कर्त्ता से पृथक
होता ही नहीं है। कर्त्ता व करण दोनों आत्मा की पर्याय की बात है। एक ही
पर्याय में छहों कारक होते हैं।
अतः आत्मा से अभिन भगवती प्रज्ञा ही इस कार्य में करण है। परस्पर सुध की दिशावाले रागादि विकारी भावों को भ्रूण करने का साधन ही है।

अब कहते हैं कि - में एक ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध चित्रनाद्र भ्रुण आत्मा हूँ। त्रिकाली वस्तु मेरी ‘स्व’ है। इसतरह ‘स्व’ की पहचान करके, स्वातन्त्र करके उसी में लीन रहना ही आत्मा को राग से भीन करना है। इसी का नाम भगवतीप्रज्ञा है। इसी से सर्व कर्मों का नाश होता है, सिद्ध पद को आत्मक होती है।

प्रभु ! इस राग और आत्मा को इस प्रकार भीन कर ले तो तेरा जन्म सफल हो जायेगा। इसी से तुझे आत्मलाभ होगा। अन्तर में अतीन्द्रिय आनंद प्रगट होगा और तुझे स्वयं से ही विश्वास हो जायेगा कि अब मेरा संसार अल्प रह गया है।

यदि प्रज्ञाछैनी से भेदज्ञान नहीं करेगा तो चार गति में भटकना पड़ेगा। वर्तमान में ये बेचारे सब सेष लोग ढोर होंगे; क्योंकि शरण में जाने लायक तीन पाप के कूर परिणाम तो इनके हैं नहीं, परंतु धन के लोभ में इनके माया-कपट-कुटिलता के परिणाम हैं, इस कारण ये मर कर ढोर ही होंगे।

अन्तर में विराजमान ज्ञानानन्दस्वरूप लक्ष्मी को पहचानने बिना यह बाहर की लक्ष्मी के पति सभी कपट के परिणामों के कारण तिर्यंच गति में ही जायेंगे।

अतः जिन्हें ढोर नहीं होना हो, उन्हें अपने को पहचानने का पुरुषार्थ करना चाहिए।
समयसार गाथा २९५

आत्मबन्धी द्विधा कृत्वा किं कर्तव्यमिति चेत्
जीवो बंधो य तहा छिन्नज्ञि सलक्षणेः हि नियादेहि
बंधो छेददयो शुद्धा अप्या य अवेतत्वो ॥ २९५॥

जीवो बंधरूच तथा छिन्देते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्यामृ
बंधछेतत्वयः शुद्धा आत्मा च गृहीतत्वयः ॥ २९५॥

आत्मबन्धी हि तात्त्विकतस्वलक्षणविज्ञानेन सर्वथैव छेतत्वो ततो
रागादिलक्षण: समस्त एव बंधो निर्मोक्तव्य:, उपयोगलक्षण: शुद्धा आत्मैव
गृहीतव्यः। एतदेव किलात्मबंधयोद्धारिताकरणस्य प्रयोजनं यद्वंबंधत्यागेन
शुद्धात्मोपादानमृ

‘आत्मा और बंध का द्विधा करके क्या करना चाहिए।’ ऐसा प्रश्न होने
पर उत्तर देते हैं :-

जीव एवं बंध निज-निज लक्षणों से भिन्न हों।
बंध को है छेदना अर ग्रहण करना आत्मा ॥ २९५॥

गाथार्थ – [ तथा ] इसप्रकार [ जीवः बन्धः च ] जीव और बंध
[ नियताभ्याम् स्वलक्षणाभ्यां ] अपने निरिच्छत स्वलक्षणों से [ छिन्देते ]
छेदे जाते हैं। [ बंधः ] वहाँ, बंध को [ छेतत्वः ] छेदना चाहिए अर्थात्
छोड़ना चाहिए [ च ] और [ शुद्धः आत्मा ] शुद्ध आत्मा को [ गृहीतव्यः ]
ग्रहण करना चाहिए।

टीका – आत्मा और बंध को प्रथम तो उनके नियत स्वलक्षणों को विज्ञान
से सर्वथा ही छेद अर्थात् भिन्न करना चाहिए; तत्पश्चात्, रागादिक जिसका
लक्षण है ऐसे समस्त बंध को तो छोड़ना चाहिए तथा उपयोग जिसका लक्षण
है ऐसे शुद्ध आत्मा को ही ग्रहण करना चाहिए। वास्तव में यही आत्मा और
बंध के द्विधा करने का प्रयोजन है कि बंध के त्याग से ( अर्थात् बंध का त्याग
करके ) शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना।
भावार्थ — शिष्य ने प्रश्न किया था कि आत्मा और बंध को हिद्ध करके क्या करना चाहिए? उसका यह उत्तर दिया है कि बंध का तो त्याग करना और शुद्ध आत्मा का ग्रहण करना।

गाथा २९५ की टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

आचार्य कहते हैं कि — प्रज्ञातीनी से भेदज्ञान करके रागादि को तो छोड़ना और उपयोग जिसका लक्षण है — ऐसे शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना।

देखो, इसे छोड़ना व उसे ग्रहण करना— ये ग्रहण-त्याग के सूक्ष्म विकल्प तो विकल्परूप भेदज्ञान है। वास्तविक भेदज्ञान में तो उपयोग एकदम स्वरूपसन्मुख होकर मात्र ज्ञायक ... ज्ञायक की ओर ही समर्पित हो जाता है। ऐसा करने से जब निर्विकल्प शुद्धात्मानुभूति होती है तब रागादिरूप पुण्य-पाप के बंध भावों पर से लक्ष्य स्वतः छूट जाता है। वही वास्तविक भेदज्ञान है, सम्यज्ञान है।

आगे कहते हैं — यही वास्तविक आत्मा और बंध को हिद्ध करने का प्रयोजन है कि बंध का त्याग कर शुद्धात्मा का ग्रहण हो। इस प्रकार से सम्यज्ञान, ज्ञान व अन्तररामणतारूप धर्म प्रगट होता है। इसके सिवाय बाहर में देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा से एवं नवतत्व की भेदसृष्टि श्रद्धा से जो समर्पित होने की बातें की जाती हैं, वे तो पित्त व व्यवहार की बातें हैं। वस्तुतः तो शुद्धात्मानुभूति से ही समर्पित होता है। यही एक सत्यार्थ है, शेष सब असत्यार्थ हैं।

भावार्थ में शिष्य ने पूछा था कि — आत्मा व बंध को भिन-भिन करके क्या करना? उसके उत्तर में कहा है कि बंध का तो त्याग करना एवं शुद्धात्मा को ग्रहण करना।

आत्मा चैतन्यलक्षण से जानने लायक है और बन्ध को रागलक्षण से जाना जाता है। यह दोनों में लक्षण भेद है। इसे जानकर अंतरपित्त उपयोग द्वारा चैतन्यमय आत्मा को ग्रहण करना और राग को — बंध को छोड़ देना। •
समयसार गाथा २९६

कह सो धिष्यदि अप्यापणाए सो दु धिष्यदे अप्या।
जह पणापाइ विभततो तह पणापाव घेततवो॥ २९६॥
कथं स गृहते आत्मा प्रज्ञा स तु गृहते आत्मा।
यथा प्रज्ञा विभक्तस्तथा प्रज्ञैव गृहीतव्यः॥ २९६॥

ननु केन शुद्धोपयमात्मा गृहीतव्यः? प्रज्ञैव शुद्धोपयमात्मा गृहीतव्यः,
शुद्ध-स्यात्मनः स्वमात्मानं गृहतो, विभजत इव, प्रज्ञैकरण्तवात्।
अतो यथा प्रज्ञा विभक्तस्तथा प्रज्ञैव गृहीतव्यः।

आत्मा ओर बंधको प्रज्ञाके द्वारा भिन तो किया; परन्तु आत्माको द्वारा
ग्रहण किया जाये? - इस प्रकार तथा उसके उत्तरकी गाथा कहते हैं -
जिस भाँति प्रज्ञा छैनी से पर से विभक्त किया इसे।
उस भाँति प्रज्ञा छैनी से ही अरे ग्रहण करो इसे॥ २९६॥

गाथार्थ - (शिष्य पूछता है कि -) [ स: आत्मा ] वह (शुद्ध) आत्मा
[ कथं ] कैसे [ गृहते ] ग्रहण किया जाय? (आचार्यदेव उत्तर देते हैंकि -)
[ प्रज्ञा तु ] प्रज्ञाके द्वारा [ स: आत्मा ] वह (शुद्ध) आत्मा [ गृहते ]
ग्रहण किया जाता है।[ यथा ] जैसे [ प्रज्ञा ] प्रज्ञाके द्वारा [ विभक्त: ] भिन
किया, [ तथा ] उसीप्रकार [ प्रज्ञा एव ] प्रज्ञाके द्वारा ही [ गृहीतव्यः ]
ग्रहण करना चाहिए।

टीका - यह शुद्ध आत्मा किसके द्वारा करना चाहिए? प्रज्ञा के द्वारा ही
यह शुद्धात्मा ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि शुद्ध आत्माको, स्वयं निजको ग्रहण
करनेमें प्रज्ञा ही एक कारण है - जैसे भिन करनेमें प्रज्ञा ही एक कारण था।
इसलिए जैसे प्रज्ञाके द्वारा भिन किया था उसीप्रकार प्रज्ञाके द्वारा ही ग्रहण
करना चाहिए।

भावार्थ - भिन करने और ग्रहण करनेमें करन अलग-अलग नहीं हैं; इसलिए प्रज्ञाके
द्वारा ही आत्माको भिन किया और प्रज्ञाके द्वारा ही ग्रहण करना
चाहिए।
समयसार गाथा २९६

गाथा २९६ एवं भावार्थ पर प्रवचन

यह एकदम सारभूत गाथा है। गाथा में प्रश्न व उत्तर दोनों हैं। जिसतरह अन्तर्मुखी उपयोग को दसा रूप प्रज्ञा छैनी द्वारा राग को आत्मा से भेदज्ञान किया था, उसीतरह भगवती प्रज्ञा से ही शुद्ध आत्मा का अनुभव करो।

शिष्य का प्रश्न है कि - एकबार राग से भेदज्ञान करने के पर्चातू भी बार्म्बार शुद्धात्मा का अनुभव कैसे किया जाय ? क्योंकि एक बार अनुभव हो भी जाये, तो भी बाहर में तो आ ही जाता है न ?

आचार्य इसी गाथा में इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि - प्रयत्न करके प्रज्ञा द्वारा ही पुनः-पुनः शुद्धात्मा को ग्रहण करना। आत्मा के अनुभव द्वारा ही आत्मा का ग्रहण होता है। अतः जिस प्रज्ञा द्वारा भेदज्ञान करके एक बार आत्मानुभूति की, उसी प्रज्ञा के बल से बार्म्बार अन्तर्मुखी उपयोग करके बार्म्बार आत्मा को ग्रहण करो। आत्मा को ग्रहण करने का अन्य कोई उपाय ही नहीं है।

आगे कहते हैं कि - ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा को ज्ञान लक्षण से लक्षित करके तथा दया-दान-ब्रजतादि व्यवहार के राग को बन्ध के लक्षणूप ज्ञानकर जिसप्रकार बंध को लक्ष्य में से सर्वथा छोड़ दिया और भगवान आत्मा को अन्तर एकाकारज्ञान से अर्थात् प्रज्ञा से ग्रहण किया - अनुभव किया, उसीप्रकार भगवान आत्मा को दृष्टि में लेकर मोक्ष के लिए स्वर्ग से स्वर्ग को विशेषण प्रज्ञा द्वारा ही अनुभव करो। अहा! प्रज्ञा ही एक मोक्ष का कारण है, साधन है। आत्मा का अनुभव ही एक राग से भिन डूंढने का और आत्मा को ग्रहण करने का साधन है, दया-दान-ब्रजतादि व्यवहार रत्नत्रय आत्मानुभव का साधन नहीं है।

साधन तो सदैव एक ही होता है, पर उसका निरूपण दो प्रकार से किया जाता है। शास्त्र में जहाँ व्यवहार को साधन कहा हो, उसे निमित्त व सहचर का ज्ञान करने के लिए उपचार से कहा है। - ऐसा यथार्थ जानना।

जिसतरह आत्मा और बन्ध को भिन्न करने में प्रज्ञा को ही एक करण कहा है, उसीतरह आत्मा को ग्रहण करने में भी प्रज्ञा ही एक करण है। इसलिए
जिस तरह प्रज्ञा से भिन्न किया, उसी तरह प्रज्ञा द्वारा ही आत्मा को ग्रहण करना, यह सम्यक् एकान्त का कथन है।

कर्थचित्त प्रज्ञा द्वारा व कर्थचित्त राग द्वारा ग्रहण करो - ऐसा नहीं कहा। अहा! इतनी स्पष्ट बात है तथापि लोगों की समझ में न जाने क्यों नहीं आता? आचार्य पुकार-पुकार कर कहते हैं कि - प्रज्ञा द्वारा ही ग्रहण करना; क्योंकि प्रज्ञा ही एक करण है।

बापू! राग चाहे शुभ हो या अशुभ हो - यह स्वयं दुःख्रूप है व दुःख के कारण रूप है। रागबन्ध दुःख का - संसार का ही लक्षण है। ऐसा जानकर उसका लक्ष्य सर्वथा छोड़कर उपयोग को अन्तर में छुकाकर सुखधाम प्रभु आत्मा में जोड़ दो। अहा! उपयोग की अंतर एकाकार दशा-प्रज्ञा ही शुद्धतमा को ग्रहण करने का उपाय है। भाई! जनम-मरण के दुःख से छूटने की यही एकमात्र रीति है। इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है।

इसलिए संक्षेप में कहते हैं कि - राग से खस और आत्मा में बस। इतना किया तो बस, यही है जिनवाणी का रस-कस। तात्पर्य यह है कि - भिन्न करने के व ग्रहण करने के साधन (करण) भिन्न-भिन्न नहीं है। मोक्षरूप साध्य का साधन आत्मा से भिन्न एक प्रज्ञा ही है। आत्मा का साधन आत्मा में ही है। इसका साधन कोई अन्य वस्तु, निमित्त या व्यवहार नहीं है। इसलिए प्रज्ञा के द्वारा ही आत्मा को भिन्न किया है और प्रज्ञा के द्वारा ही ग्रहण करना है। दोनों के बीच ‘ही’ शब्द है, जो सम्यक् अनेकान्त का दौकाय है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com
समयसार गाथा २९७
कथमयमात्मा प्रज्ञा गृहीतव्य इति चेतुः ।
पण्णाः धितव्यो जो चेतदा सो अहं तु गिनिष्यदो ।
अवसेसा जे भावा ते मन्त्र परेति गायव्या ॥ २९७॥
प्रज्ञा गृहीतव्यो यशचेतत्तिता सोवहं तु निष्चयतः ।
अवशेषा ये भावा: ते मम परा इति ज्ञातव्या: ॥ २९७॥

यो हि नियतस्वलक्षणावलंबिन्या प्रज्ञा प्रविभक्तश्चेततिता, 
सोवमंहः; ये त्वमि अवशिष्ठा अन्तस्वलक्षणक्ष्या व्यवहितव्याणा भावाः; तै
सर्वेऽपि चेतत्तितृत्वस्य व्यापकस्य व्याप्तत्वमानवांतोत्त्वंतं गतो भिन्नाः।
ततोशहेव मन्त्रेव मन्त्रेव मत्त एव मन्त्रेव मामेव गृहामिः।
यक्ति गृहामिः
तत्त्वेत्ताक्रियत्वादात्मनश्चेतत्य एव; चेतत्मान एव चेतेये, चेतत्मानेनेव चेतेये, 
चेतत्मानायेव चेतेये, चेतत्मानादेव चेतेये, चेतत्मानान एव चेतेये, 
चेतत्मानमेव चेतेये। अथवा — न चेतेये; न चेतत्मानश्चेतेये, न चेतत्मानेन चेतेये, न 
चेतत्मानायेव चेतेये, न चेतत्मानादेव चेतेये, न चेतत्मानान चेतेये, न 
चेतत्मानां चेतेये; किंतु सर्वविशुद्धिचिन्मात्रो भावोऽसिम।

अब प्रश्न होता है कि - इस आत्माको प्रज्ञाके द्वारा कैसे ग्रहण कर नरण 
चाहिए? इसका उत्तर कहते हैं :-

इस भाँति प्रज्ञा यहे कि में हूँ वही जो चेतना ।
अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना ॥ २९७॥

गाथार्थ - [ प्रज्ञा ] प्रज्ञाके द्वारा [ गृहीतव्या ] (आत्माको) इसप्रकार 
ग्रहण करना चाहिए कि - [ य: चेततिता ] जो चेतनवाला (चेतनस्वरूप 
आत्मा) है [ स: तु ] वह [ निष्चयतः ] निर्चयसे [ अहं ] में हूँ,
हैं [ इतिज्ञातव्या: ] ऐसा जानना चाहिए।

टीका - नियत स्वलक्षणका अवलम्बन करनेवाली प्रज्ञाके द्वारा भिन 
किया गया जो यह चेतक (चेतनवाला, चेतनस्वरूप आत्मा) है सो यह में
हूँ; और अन्य व्यवस्थाओं से लक्ष्य (अर्थात् चेतन्यलक्षणके अतिरिक्त अन्य लक्षणोंसे जानने योग्य) जो यह शेष व्यवहार-रूप भाव हैं, वे सभी, चेतन्यलक्षण व्याकरण के व्याख्या नहीं होते इसलिये, मुझसे अंत्य भिन्न हैं। इसलिये मैं ही, अपने द्वारा ही, अपने लिये ही, अपनेरमें ही, अपनेरमें ही, अपनेको ही ग्रहण करता हूँ। आत्माकी, चेतना ही एक क्रिया है इसलिये, ‘मैं ग्रहण करता हूँ’ अर्थात् ‘मैं चेतना ही हूँ’; चेतना हुआ ही चेतना हूँ, चेतन हुए के द्वारा ही चेतन हूँ, चेतन हुएके लिए ही चेतन हूँ, चेतन हुएसे ही चेतन हूँ, चेतनके ही चेतन हूँ, चेतनके ही चेतन हूँ। अथवा — न तो चेतन हूँ, न चेतन हुआ चेतन हूँ, न चेतन हुएके द्वारा चेतन हूँ, न चेतन हुएके लिए चेतन हूँ, न चेतन हुएसे चेतन हूँ, न चेतन हुएके चेतन हूँ; किन्तु सर्वप्रियज्ञ चिन्मय (चेतन्यमात्र) भाव हूँ।

भावार्थ — प्रजाके द्वारा भिन्न किया गया वह चेतन मैं हूँ और शेष भाव मुझसे पर हैं; इसलिये (अभिन छह कारकोंसे) मैं ही, मेरे द्वारा ही, मेरे लिये ही, मुझसे ही, मुझमें ही, मुझे ही ग्रहण करता हूँ। ‘ग्रहण करता हूँ’ अर्थात् ‘चेतना हूँ’, क्योंकि चेतना ही आत्माकी एक क्रिया है। इसलिये मैं चेतन हूँ; चेतनके ही, चेतनके द्वारा ही, चेतनके लिये ही, चेतनके ही, चेतनके ही, चेतनके ही चेतन हूँ। अथवा इस्तेमालसे तो — मुझमें छह कारकोंके भेद भी नहीं हैं, मैं तो शुद्ध चेतन्यमात्र भाव हूँ। — इसप्रकार प्रजाके द्वारा आत्माको ग्रहण करना चाहिये अर्थात् अपनेको चेतन्यितके रूप में अनुभव करना चाहिए।

गाथा २९७ पर प्रवचन

यहाँ प्रश्न है कि — आत्मा को प्रजा द्वारा किस विधि से ग्रहण करें? उत्तर में आचार्य कहते हैं कि — भगवान सर्वज्ञदेव ने जो प्रत्येक आत्मा को देखा है, उन सब जीवों का द्रव्य व गुण तो शुद्ध ही है; किन्तु उनकी पर्यायों में जो मिथ्यात्व व राम—घृणा आदि विकार है, उक्ते ‘परंपर—कर्त्ता—कर्म—करणादि पर्याय के पर्याय में हैं। शुद्ध आत्मद्रव्य उसमें कुछ नहीं करता तथा जो निर्मल
निर्विकार धर्म की परिणति आत्मा में होती है, वह निर्मल परिणति भी शुभराग रूप व्यवहारके कारण नहीं होती। शुद्ध द्रव्य-गुण के कारण भी नहीं होती। अहा ! ऐसी ‘ओं’ ध्वनि में आई व सूक्ष्म बात यहाँ कही जा रही है।

ज्ञानी नियत स्वल्पक्ष का अवलम्बन करनेवाली प्रज्ञा द्वारा आत्मा को राग से भिन अनुभव करते हैं। अहा हा ……! जो ज्ञान की दशा राग से भिन पड़कर अन्दर भगवान ज्ञानस्वभाव में एकाकार होकर अपने में भगवान आत्मा को राग से भिन जानती है, अनुभव करती है, उसे ही चेतक या चेतनार नाम से कहा जाता है। वह चेतक या चेतनार और कोई नहीं में स्वर्य ही हूँ – ऐसा प्रत्ययक्ष अनुभव होता है।

अब कहते हैं कि – निश्चय आत्मा का लक्षण भिन है और व्यवहार भावों का लक्षण भिन है। ज्ञान लक्षण से ज्ञात हो – ऐसा चेतनारा में स्वर्य हूँ, और अन्य लक्षणों से पहचाने जायें – ऐसे बाकी के सब भाव व्यवहार रूप भाव हैं। आत्मा गुणी और ज्ञानदर्शन आत्मा के गुण – ऐसा गुण – गुणी भेद का विकल्प व्यवहार भाव है।

अब कहते हैं कि – ये सभी व्यवहार भाव ज्ञायक की अवस्था होनेलायक ही नहीं हैं। भगवान आत्मा चेतनारा चेतक व्यापक होकर राग रूप हो, ऐसी वस्तु ही नहीं हैं। अहा हा ……! जो विकार रूप होता है, वह में नहीं हूँ। में कभी विकार या विस्तार रूप होता ही नहीं हूँ। आत्मा अन्दर में अकेला चेतन्य का दल निर्मल निर्विकार आनन्दस्वरूप है तथा ये विकारी भाव इससे विपरीत विभावभाव हैं। यहाँ कहते हैं कि शुद्ध आत्मवस्तु स्वर्य व्यापक होकर विभाव भाव की अवस्थाओं को धारण करे – ऐसा उसका स्वरूप ही नहीं हैं। जब ज्ञान में ऐसा प्रत्ययक्ष अनुभव होता है कि – यह चेतनार में स्वर्य ही हूँ अन्य व्यवहार रूप भाव मेरे चेतकपने रूप व्यापक के व्याप्त नहीं हैं, इसलिए ये मुझसे अत्यन्त भिन हैं। जब यह आत्मा ऐसा अन्तर्मुखी पुरुषार्थ करता है, तब समकित होता है।
अहा! भगवान का नाम स्मरण करना, भगवान का दर्शन पूजन स्तुति आदि करना - ये सब व्यवहार के भाव हैं। ये विकल्प-चेतक आत्मा की निर्मल दशा नहीं हैं। यद्यपि धर्मी के भी व्यवहार (राग) होता अवस्था है, पर वह मात्र जानने पुरुष प्रयोजनवान है। चेतक उस होते हुए व्यवहार को अपने स्वभाव की सामथर्य से ऐसा जानता है कि भूमिकानुसार व्यवहार भी होता है पर व्यवहार है, इस कारण धर्मी व्यवहार को जानता हो - ऐसा भी नहीं, बल्कि में चेतक हूँ - ऐसा जानता हुआ धर्मी तो उस काल में स्वयं से स्वयं के कारण स्वपर को प्रकाशित करनेवाली ज्ञान की दशा से परिणित होता है, उसमें व्यवहार जानने में आ जाता है। बस, इसे ही जानने में आता हुआ प्रयोजनवान है - ऐसा कहा जाता है।

अब कहते हैं कि - इसलिए में ही, मेरे द्वारा ही, मेरे लिए ही, मुझसे ही, मुझमें ही, मुझको ही ग्रहण करता हूँ। आत्मा की चेतना ही एक क्रिया होने से ग्रहण करता हूँ अर्थात् में चेतता ही हूँ।

यहाँ ‘में ही’ - यह कर्ता, ‘मेरे द्वारा ही’ - यह करण, ‘मेरे लिए’ यह सम्प्रदान, ‘मुझमें से ही’ - यह अपादान, ‘मुझमें ही’ यह अधिकरण और ‘मुझको ही’ यह कर्म - इस प्रकार कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण इन छह कारणों से आत्मा अपने को ही ग्रहण करता है।

आत्मा की चेतना ही अर्थात् धर्म की निर्मल वीतारागी दशा ही एक क्रिया होने से ‘में ग्रहण करता हूँ’ अर्थात् में चेतता ही हूँ - ऐसा अर्थ है।

यहाँ कहते हैं कि - ‘में ही कर्ता हूँ, मेरी चेतने रूप वीतारागी दशा का कर्ता कोई बाह्य निमित्त या व्यवहार नहीं है। व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प उठता है - वह मेरी निर्मल पर्याय का कर्ता नहीं है। प्रजा ब्रह्मस्वरूप में ही मेरी निर्मल पर्याय का कर्ता हूँ। रागदि तो मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं।’ इस प्रकार धर्मी पुरुष वीतारागी निर्मल पर्याय को अपना व्याप्त कर्म और स्वयं को उसका व्यापक कर्ता मानता है। निर्मल रत्नत्रय व्याप्त और व्यवहार रत्नत्रय व्यापक - ऐसा नहीं है, क्योंकि व्यवहार करते-करते निश्चय नहीं होता।
धर्म का निम्ल वीरतागी पर्याय का साधन भी वीरताग स्वभावी आत्मा स्वयं ही है। ‘मेरे द्वारा ही’ – ऐसा कहा है न? इसका अर्थ है कि चिदूप आत्मा ही साधन है, करण-है, न्रतादि व्यवहार निमल पर्याय का साधन नहीं है। अहाँ...! चेतने वाला मेरा वीरताग भाव (गुण) से ही वीरतागी पर्याय हुई है। राग या निमित्त द्वारा वीरताग भाव नहीं होता। कर्ता का करण कर्ता से अभिन ही होता है। इस कारण चेतने वाला में ही अपनी चेतनारूप निमल पर्याय का कर्ता और करण हूँ। देखो यहाँ ‘ही’ कहकर सम्यक् एकान्त से कथन किया है।

इसी प्रकार मुझे जो वीरताग भाव प्रगट हुआ है, उसका सम्प्रदान भी में ही हूँ, क्योंकि यह निमल पर्याय मेरे लिए ही है न? इसका देनेवाला ही में और लेनेवाला ही में ही हूँ। इसकारण में ही मेरा सम्प्रदान हूँ।

अपादान कारक भी अभिन ही है, क्योंकि यह वीरतागी पर्याय – मुझ में से ही आई है। देव-शास्त्र-गुरु में से या उनके प्रति हुए राग में से निमल पर्याय नहीं आती। वास्तव में तो उसी पर्याय में से वह पर्याय आई है। वीरताग सर्वज्ञ देव ऐसा कहते हैं कि – हम भी तेरे लिए पर द्रव्य ही है। हमारी और देखेगा तो मुझे राग ही होगा और उससे तुझे पुण्य बन्ध होगा, पर धर्म नहीं होगा। यदि धर्म करना हो तो तू भी हमारी तरह स्वसन्न मुख हो जा। ऐसा करने से तेरे में से ही तेरी निमल वीरतागी दशा प्रगट होगी।

मेरी वीरतागी पर्याय का में ही अधिकरण या आधार हूँ, राग या व्यवहार इसका आधार नहीं है। तथा यह निमल पर्याय को ही मैंने ग्रहण किया है, इस कारण यह मेरा ही कार्य है, मैंने ही ग्रहण किया – ऐसा कहा है न? इसका अर्थ है कि मैं वीरतागी पर्याय के सिवाय राग व व्यवहार को ग्रहण नहीं करता।

यहाँ कहते हैं कि – आत्मा की एक ‘चेतना’ मात्र क्रिया होने से – ‘मैं ग्रहण करता हूँ, चेतना हूँ, जानता-देखता हूँ, – आत्मा की यही एकमात्र क्रिया है। कर्थचिन्तु चेतना भी और कर्थचिन्तु राग की क्रिया भी आत्मा की है – ऐसा नहीं कहा, बल्कि चेतना ही आत्मा की एकमात्र क्रिया है, राग आत्मा की क्रिया नहीं है – ऐसा अस्ति-नस्ति रूप अनेकान्त घटित होता है।
देखो! देह की क्रिया तो आत्मा की है ही नहीं, दया-दान-ब्रत आदि की वृत्ति का कर्त्ता भी आत्मा नहीं है। ये सब व्यवहार के भाव भगवान आत्मा से भिन्न है।

आगे अभिन्न फल कारणों का विशेष खुलासा करते हुए कहते हैं कि - पोताने अर्थात् स्वर्य को चेतता हुआ ही चेतता हूँ। चेतन के द्वारा ही चेतता हूँ। अर्थात् चेतन रूप कार्य का साधन में स्वर्य ही हूँ, कोई अन्य साधन नहीं है। चेतन के लिए ही चेतता हूँ अर्थात् पर त्यों के नहीं चेतता हूँ। चेतन के स्वभाव से ही चेतता हूँ। राग या व्यवहार में से नहीं चेतता हूँ। चेतन के आधार भी चेतन ही हैं। तथा में अपने चेतन रूप कार्य को ही चेतता हूँ।

इसप्रकार व्यवहार उस काल में जानने पुर्ता प्रयोजनवान है - यह बात भी नहीं रही, इसे भी निकाल कर पृथक् कर दिया। व्यवहार को जानने की बात को तो निकाल ही दिया, पर कहाँ तो सद्भूत व्यवहार के छह भेद जो समझने के लिए किए थे, उनका लक्ष्य भी छोड़ने के लिए कह रहे हैं। रागादि तो असद्भूत व्यवहार है।

आगे कहते हैं कि वस्तुतः तो मेरे में कोई भेद ही नहीं है। मैं तो जो हूँ वह सर्वविशुद्ध चिन्मात्र भाव हूँ। 'सर्व विशुद्ध' इतना भेद जो पड़ा वह भी अशुद्धता है; पर समझायें कैसे? समझाने में भेद करना ही पड़ता है न? भेद किये बिना अभेद को समझाया नहीं जा सकता, परन्तु अनुभव के समय भेद नहीं रहते। सम्यगदर्शन का विषय ऐसा अभेद एक चिन्मात्र भाव है। सम्यगदर्शन का ध्येय एक अभेद आत्मा है। भेद समक्ष का ध्येय नहीं है। अहाहा....! मैं तो एक चिन्मात्र जानने-देखनेवाला मात्र हूँ। ऐसी निर्विकल्प दृष्टि व अनुभव का नाम सम्यगदर्शन है और यहाँ से धर्म की शुरुआत होती है।

अभेद की दृष्टि-द्रव्यदृष्टि ही सम्यगदर्शन है। अहा....! इसमें व्यवहार को चेतना तो दूर रहा, भेद को भी नहीं चेतना है, जानना है। यह स्वातंत्र्य दशा की बात है, पर संसारी जीवों को ऐसी गंभीर बात सुनने की फुससत कहाँ है? वे तो स्त्री, पुत्र, परिवार को संभारने के जंजाल में फंसे हैं। और! उन्होंने
सचमुच अपने आत्मा को जगजाल में फांस रखा है। अधिकांश लोग ऐसे हैं जो दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत आदि बाह्य क्रियाओं में रचे-पचे रहकर इसी में धर्म होना मानते हैं, पर भाई! धर्म का स्वरूप ऐसा नहीं है।

गाथा २९७ के भावार्थ पर प्रवचन

‘प्रज्ञा अर्थात प्रकृत्यज्ञान’ जिस वर्तमान ज्ञान की दशा में दृश्य का चैतन्य महाप्रभु नित्यानन्द स्वरूपी आत्मा का अनुभव होता है उसे प्रज्ञा कहते हैं। स्वाभाविक स्वरूप स्वसंवेदनज्ञान की दशा प्रज्ञा है। वह प्रज्ञा राग को नष्ट करने वाली है। इसलिए उसे प्रज्ञा छैनी कहते हैं। अहा...! ऐसी प्रज्ञा द्वारा आत्मास्वरूप का अनुभव करता हुआ आत्मा राग से भिन्न हो जाता है। अर्थात् ऐसा अनुभव करता है कि – में तो चेतना लक्षणवाला आत्मा हूँ और मेरे से भिन्न यह राग बंधस्वरूप है, बंध का लक्षण है। इसप्रकार दोनों को भिन्न-भिन्न जानता है। अहा ! जिसकी सत्ता में यह चेतना (जानना-देखना) है वह चेतन ही में हूँ तथा शेष सब भाव पर हैं। इसप्रकार स्वाभिमुख ज्ञान की दशा में आत्मा भिन्न अनुभव में आता है।

राग की दिशा परतरफ है और प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान की दिशा स्वतर्फ है। दोनों की दिशायें भिन्न-भिन्न हैं। प्रज्ञा रूपी ज्ञान की दशा से दोनों को भिन्न जानकर यह चेतन में हूँ, – ऐसा अनुभव में आता है। पर ध्यान रहे, सम्पूर्ण चेतनद्रव्य कहीं ज्ञान की पर्याय में नहीं आ जाता। दृश्य तो दृश्य रूप ही रहता है; पर त्रिकाली दृश्य की जो अनन्त शक्ति है, वह सम्पूर्ण आत्मशक्ति वर्तमान ज्ञान की पर्याय में जान ली जाती है। एकसमय की ज्ञान की दशा में – प्रज्ञा में ऐसी अद्वैत सामार्थ्य है कि – जो सर्वज्ञ स्वभावी भगवान आत्मा की सामार्थ्य को पूर्ण जान लेता है।

पहले जो ज्ञान की पर्याय पर की ओर झुकती थी, उसमें रागादि स्वपने भासते थे। अब वह पर्याय व्यय होकर त्रिकाली शुद्ध दृश्य के आश्रय से जो नवीन पर्याय उत्पन्न हुई, उसमें – ‘यह जो चेतन है, वही में हूँ’ – ऐसा ज्ञात
हुआ। व्यवहार तो मैं हूँ ही नहीं, किन्तु चेतन का जिसमें अनुभव हुआ, वह ज्ञान की दशा—प्रज्ञा भी नहीं हूँ, किन्तु सभी भाव पर हैं— ऐसा पर्याय में भासित होने लगा। बस इसी का नाम भेदज्ञान व धर्म है, भेद तो समझने के लिए किए गये हैं, स्वानुभव में तो एक अभेद द्रव्य का ही आश्रय होता है, भेद का लक्ष्य नहीं होता।

इसलिए अभिन छह कारकों से मैं ही, मेरे द्वारा ही, मेरे लिए ही, मुझमें से ही, मुझमें ही, मुझको ही ग्रहण करता हूँ।

मैं ही ग्रहण करता हूँ— यह कर्ता, मैं स्वयं को ही ग्रहण करता हूँ— यह कर्म, मेरे द्वारा ही मैं स्वयं को ग्रहण करता हूँ— यह कारण या साधन, मेरे लिये ही ग्रहण करता हूँ— यह सम्प्रदान, मुझमें से ही ग्रहण करता हूँ— यह अपादान, मुझमें से ही ग्रहण करता हूँ— यह अधिकरण या आधार है। यह अभिन पटकारकों का परिणमन पर्याय का पर्याय में है, धुव में नहीं; क्योंकि धुव तो कूटस्थ अपरिणामी है।

द्रव्य व गुण तो त्रिकाल धुव हैं। इसलिए कर्ता, कर्म, कारण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण— यह पटकारक रूप परिणमन धुव में नहीं, पर्याय के पटकारक पर्याय में हैं। पर्याय का पर्याय कर्ता, पर्याय का पर्याय कर्म, पर्याय का पर्याय साधन— इसप्रकार पर्याय का पटकारक रूप परिणमन अभिन पर्याय में है।

प्रश्न — वस्तु का परिणमन स्वयं से भी होता है व निमित से भी होता है — ऐसे अनेकान्त की सिद्धि कीजिए ।

उत्तर — भाई ! वस्तु का परिणमन स्वयं से भी हो और निमित से भी हो — ऐसा अनेकान्त का स्वरूप नहीं है। अनेकान्त का स्वरूप तो ऐसा है कि—‘स्वयं’ से ही होता है, पर से या निमित्तादि से नहीं होता। अहा! वीराग सर्वज्ञदेव ऐसा कहते हैं कि—आत्मा अनन्त शक्तियों का पिण्ड सशचिदन्त प्रभु जैत्यस्वभाव का सागर पूर्ण पदार्थ है; फिर भी यदि कोई अपूर्ण व रागवाला मानता है तो वह वस्तु के स्वरूप को यथार्थ न जानने से
स्वयं को ही धोखा देता है। ऐसा करने से एक दिन इस जीव की ऐसी दशा हो जायेगी कि - फिर न सुन सकेगा और न बोल ही सकेगा अर्थात् निगोद में चला जायेगा।

देखो ! वस्तु का मूल स्वरूप सामान्य ...... सामान्य ...... सामान्य चिन्मात्र एकरूप ध्वन् है। वस्तु को इस दृष्टि से देखें तो छह कारकों का भेद वस्तु में ही नहीं। आत्मा तो शुद्ध चैतन्यमात्र भाव है। टीका में भी ऐसा ही कहा था "में सर्वविशुद्ध चिन्मात्र भाव हूँ।" सो वह भी यही अभेद की बात है। अन्तर्नुसेह ज्ञान की पर्याय ऐसा अनुभव करती है - कि में तो शुद्ध चैतन्यमात्र भाव हूँ; खण्ड-खण्ड या भेद मेरा स्वरूप नहीं है। क्योंकि यहाँ विकल्प की चर्चा ही नहीं है, यहाँ तो स्वातन्त्र्य प्रत्यक्ष की बात है। अत: यहाँ कहते हैं कि - इसप्रकार प्रजा द्वारा अखण्ड-अभेद आत्मा का अनुभव करेंगे। अर्थात् स्वयं को चेतनारूप से अनुभव करो !

(शारूजतूलविक्रीडित)

भिद्वा सर्वमपि स्वल्पकणबलास्रेदेतुं हि यच्छवते
चिन्मुद्रांकितनिर्विभागमहिमा शुद्धरिचदेवास्मय्यहम् ।
भिद्वन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मं गुणं वा यदि
भिद्वतानं न भिदास्ति काचन विभी भावे विशुद्धे चिति || १८२ ||

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं : -

श्लोकार्थं - [ यत् भेतुं हि शाक्यते सर्वम् अपि स्वल्पकणबलात्
भिद्वा ] जो कुछ भी भेद जा सकता है उस सबको स्वल्पकणके बलसे भेदकर,[ चिन्मुद्रा-अंकित-निर्विभागमहिमा शुद्धः चिद् एव अहम् अर्थम् ]
जिसकी चिन्मुद्रासे अंकित निर्विभाग महिमा है (अर्थात् चैतन्यको मुद्रासे
अंकित विभाग रहित जिसकी महिमा है) ऐसा शुद्ध चैतन्य ही में हूँ।[ यदि
कारकाणि वा यदि धर्मं: वा यदि गुणं: भिद्वते, भिद्वन्ताम् ] यदि
कारकके अथवा धर्मके या गुणके भेद हों, तो भले हों; [ विभीविशुद्धे
चिति भावे काचन भिदा न अस्ति ] किन्तु शुद्ध (समस्त विभागोंसे रहित)
कलश १८२ पर प्रवचन

देखो ! यहाँ विकार की बात नहीं है, क्योंकि यह तो आत्मा का भेद ही नहीं है। परन्तु चैतन्यस्वरूपी, एक, ज्ञानक्षब्ध प्रभु आत्मा में गुणभेद आदि जितने भी भेद पड़ते हैं, उन सबको स्वल्पक्ष के बल से भेदकर जिसकी चिन्मुद्रा से अंकित निर्विभाग महिमा है – में तो ऐसा शुद्ध चैतन्यतत्त्व हूँ।

चिन्मुद्रा अर्थात् ज्ञान व दर्शन आत्मा की मोहर है, छाप है, तथा वह आत्मा एक अभेद चैतन्यस्वरूप है। अहा हा …… धर्मी जीव स्वयं को ऐसा अनुभव करते हैं कि – में एक चैतन्य ही हूँ, खण्ड-खण्ड भेदरूप में नहीं हूँ।

अहा हा ……! सम्प्रदानन के ध्येयरूप चिन्मात्र शुद्ध आत्मा में कर्ता-कर्म-आदि कोई भेद नहीं है। इसप्रकार नित्य, अनित्य, एक-अनेक आदि अपेक्षित धर्मों के भेद भी शुद्ध वस्तु में नहीं। इसप्रकार ज्ञान, दर्शन, आनंद आदि अनन्त गुणों का भेद भी शुद्ध अचल चैतन्य भाव में नहीं है। अहा हा ……! ज्ञानक्षब्ध आत्मा में एक, नित्य, त्रिकाली, शाश्वत, अखण्ड, एकरूप ध्रुव सामान्य ये कोई भेद नहीं हैं।

यद्यपि सदृशृत व्यवहारनय से फटकारक के, नित्य-अनित्य आदि अपेक्षित धर्मों के तथा ज्ञान आदि गुणों के अनन्त भेद हैं, परन्तु निश्चय से शुद्ध

* विभु = दृढ़ अचल, नित्य, समर्थ; सर्व गुणपर्ययों में व्यापक।
चिन्मात्रत्वभाव में कोई भेद नहीं है। ज्ञान … ज्ञान … ज्ञान – ऐसे ज्ञान के पूर्व ज्ञानमात्र भूतात्म स्वभाव में कोई भेद नहीं है।

लोग तो ऐसा मानकर कि – “दया, दान आदि शुभराग करने से धर्म हो जायेगा”, व्यवहार में अर्के हैं। उनकी यह बात तो ठहरती ही कहाँ है? यहाँ तो यह कह रहे हैं कि – पर्याय में जो पद्धतियों के भेद खड़े किए हैं, वे भी अभेद एकरूप वस्तु में स्वीकृत नहीं हैं।

कारण, धर्म और गुणभेद तो मात्र ज्ञान कराने के लिए किये गये हैं। अन्तर दृष्टि के विषय में ऐसे कोई भेद दिखाई ही नहीं देते। धर्म में भेद हैं अवस्था, परन्तु अभेद स्वभाव पर दृष्टि जमाने पर अर्थात् निर्विकल्प अनुभव में भेद दिखाई ही नहीं देते। ‘आत्म अन्तर गुण है’, अर्थात् अभेद आत्मा को ही विषय बनाती है, अतः उसमें भेद दिखाई नहीं देते। तथा यदि कोई अभेद को छोड़कर भेदों को देखे तो विकल्प अर्थात् राग उत्पन्न हुए बिना रहता ही नहीं है। अर्थात् भेददृष्टि में राग ही होता है, धर्म नहीं।

ज्ञान की एकसमय की पर्याय में छहें द्रव्यों का ज्ञान हो – ज्ञान में ऐसी साम्यता है। तथा ऐसी अन्तर पर्यायों का पिण्ड एक ज्ञानगुण है। एवम् जैसा एक ज्ञानगुण है, आत्मा में ऐसे-ऐसे अन्तर गुण एवं उनकी अन्तर पर्यायें हैं। ऐसे अन्तर गुणों का अभेद एक पिण्ड आत्मद्रव्य है। ऐसे अपनी अभेद वस्तु में गुण – गुणी के भेद भी लक्ष्य में लेने जैसे नहीं हैं, क्योंकि इससे राग ही होता है।

इसप्रकार प्रज्ञा द्वारा अर्थात् वर्तमान ज्ञान की दशा अनुभव द्वारा आत्मा ग्रहण होता है – जाना जाता है। उसमें शुद्ध आत्मद्रव्य है और अनुभव पर्याय है। यथाप्राप्त आत्मा ज्ञान की पर्याय में आता नहीं है तथा पर्याय भी द्रव्य में एकमेक नहीं होती। जानती पर्याय ही है, क्योंकि कार्य तो पर्याय में ही होता है न? ध्रुव तो अक्रिय ही रहता है।

भावार्थ पर प्रवचन

जिसका लक्षण चैतन्य नहीं है – ऐसे परभाव मुझसे भिन्न हैं। मैं तो मात्र शुद्ध चैतन्य ही हूँ।
देखो! दया, दान, प्रत आदि शुभ भावों में चेतन्य लक्षण का अभाव है, ये सब परभाव हैं, क्योंकि चेतन्य लक्षण से खाली हैं। गाथा ७२ में इन्हें जड़ कहा है। ऐसा नहीं कि जैसे मोर के परमाणु जड़ हैं, वैसे ही ये भाव भी जड़ हैं। किन्तु इनमें चेतन्य लक्षण का अभाव है, इस अपेक्षा इन्हें जड़ कहा है। ये भाव स्वयं को नहीं जानते और जाननहार - पर को भी नहीं जानते। अतः ये जड़ हैं।

भाई! चेतत्नय लक्षण से शून्य - ऐसे शुभरागरूप व्यवहार रत्नत्रय से वितरण धर्मरूप निर्मय की प्राप्ति नहीं होती। विकार से निर्विकारी दशा नहीं होती। में तो मान्त शुद्ध चेतन्य ही हूँ। चेतन्य में ज्ञान व दर्शन दोनों हैं। यहाँ 'ही' कहकर सम्यक अस्वाद का कथन किया है। कर्मचित् राग हूँ व कर्मचित् चेतन्य हूँ - ऐसा अनेकावल नहीं होता, बल्कि अनेकावल ऐसा होता है कि में शुद्ध चेतन्य ही हूँ और रागिनीवरूप नहीं हूँ। यह अस्ति-नास्ति धर्म की अपेक्षा सम्यक्क अनेकावल है।

अब कहते हैं कि - पर एवं पर्याय भाव तो मुझसे भिन्न हैं ही, परन्तु चेतन्य की परिणति, अवस्था एवं पर्याय के पद्धताकर भी मुझसे या मेरे आत्मद्रव्य से भिन्न ही हैं। आत्मा के अपने अभिन फटकारक इनसे जुड़े हैं।

दूसरी बात - में स्वयं से हूँ, पर से नहीं हूँ; में द्रव्य से नित्य हूँ, पर्याय से अनित्य हूँ; वस्तुपने से एक हूँ, भेदअपेक्षा से अनेक हूँ - ऐसे अपेक्षित धर्म कर्मचित् व्यवहार से हों तो भले हों, परन्तु शुद्ध चेतनामात्र आत्मा में निर्मय से कोई भेद नहीं है। यहाँ समयज्ञानात्मा-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म की बात नहीं हैं, गुणों को भी बात नहीं हैं; यहाँ तो सत्ते-असत्ते, नित्य-अनन्त आदि अपेक्षित स्वभावों को धर्म कहा है। सत्ता अर्थात् स्वयं की अपेक्षा वस्तु सतस्वरूप है। असत्ता अर्थात् पर की अपेक्षा से नहीं है। ऐसे वस्तु के अपेक्षित स्वभाव को यहाँ धर्म कहा है। इन धर्मों की पर्यायें नहीं होती। गुण वस्तु में त्रिकाल होते हैं और इनकी पर्यायें होती हैं। इसप्रकार गुण व धर्म में अन्तर है। समयसार
कलश १८२

की ४७ शक्तियों के चर्चण में इन एक-अनेक को अपेक्षित धर्मों में सम्मिलित
किया है।

अब तीसरी बातः -- ज्ञान-दर्शन-आनन्द गुण आत्मा में त्रिकाल हैं। इनकी
वर्तमान पयाय भी होती हैं। ज्ञानगुण को ज्ञानगुण के लक्ष्य से देखें तो वह है,
परन्तु शुद्ध चैतन्यात्म वस्तु में ऐसे गुणभेद नहीं हैं।

क्या कहा ? कुछ समझ में आया ? अरे भाई! कहते हैं कि -- छह कारकों
के भेद, सत्-असत् आदि धर्मों के भेद तथा ज्ञान-दर्शन आदि गुणों के भेद
मात्र जानने के लिए ही तो भले हों, परन्तु आदर देने के लिए या आश्रय करने
के लिए ये कोई भेद नहीं हैं। अहा ——! धर्म की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन और
इसके विषयभूत शुद्ध चैतन्यात्म भावों में ये कोई भेद नहीं हैं। यहाँ शुद्ध
चैतन्यात्म कहकर सभी भेद निकाल दिये हैं। अहो! ऐसा एक शुद्ध चैतन्यात्म
भाव सम्यग्दर्शन का विषय है, ध्येय है।

इसलिए कहा है कि -- इसप्रकार नये से अभेदरूप —— आत्मा को ग्रहण
करना।

‘यह अभेद है’, ऐसा विकल्प भी अभेद आत्मा में नहीं है।‘यह दृष्टि और
यह दृष्टि का विषय’ -- वस्तु में ऐसा हैत भी नहीं है। बस, दृष्टि का शुद्ध चैतन्य
पर टिकना – टिका रहना ही अभेद दृष्टि है और इसी गीति से अभेद-एक
आत्मा का ग्रहण होता है।‘द्रव्य सामान्य अभेद है’ ऐसा विकल्प भी नहीं,
परन्तु पर्याय जो द्रव्य की ओर झुक गई -- बस, इसे ही अभेद का अनुभव कहा
जाता है। इसी का नाम समकित और धर्म है।

कारक भेद, धर्मभेद और गुणभेदों का जानना अनुभवित सद्भूत
व्यवहारन्य है तथा व्यवहार रत्नत्र जो जानना उपचरित असद्भूत व्यवहारन्य
है। शुद्ध चैतन्यात्म वस्तु का अनुभव करना शुद्धनय है। ऐसे शुद्धनय से
अभेदरूप आत्मा को ग्रहण करना चाहिए।
समयसार गाथा २९८-२९९

पण्णाए धित्तव्यो जो दृष्टा सो अहं तु पिन्च्छयो।
अवसेषा जे भावा ते मन्सा परे ति गादव्या ॥ २९८॥

पण्णाए धित्तव्यो जो गादा सो अहं तु पिन्च्छयो।
अवसेषा जे भावा ते मन्सा परे ति गादव्या ॥ २९९॥

प्रज्ञा गृहीतव्यो यो द्रष्टा सो अहं तु निश्चयतः।
अवशेषा ये भावा: ते मम परा इति ज्ञातव्या ॥ २९८॥

प्रज्ञा गृहीतव्यो यो ज्ञाता सो अहं तु निश्चयतः।
अवशेषा ये भावा: ते मम परा इति ज्ञातव्या ॥ २९९॥

चेतनायं दर्शनज्ञानविकलपानितक्रमणाच्येतत्वितस्मिव इत्यादिपं ज्ञातत्वं
चातम्यं: स्वलक्षणमेव। ततोहं द्रष्टारमात्मां गृहामि। यत्कल गृहामि
तप्यश्रयाम्येव; पश्यनेव पश्यामि, पश्यतेव पश्यामि, पश्यते एव पश्यामि,
पश्यत एव पश्यामि, पश्यतेव पश्यामि, पश्यतेव पश्यामि। अथवा - न
पश्यामि; न पश्यनू पश्यामि, न पश्यता पश्यामि, न पश्यतेव पश्यामि, न
पश्यत: पश्यामि, न पश्यति पश्यामि, न पश्यतं पश्यामि; किन्तु सर्वंविश्वुद्रो
दृढ़मात्रो भावोद्धरस्मिः। अपि च - ज्ञातारमात्मां गृहामि। यत्कल गृहामि
तप्यश्रयामेव; जाननेव जानामि, जानतेव जानामि, जानते एव जानामि,
जानत एव जानामि, जाननेव जानामि, जाननं जानामि। अथवा - न
जानामि; न जाननू जानामि, न जानता जानामि, न जानतेजानामि, न जानतो
जानामि, न जानति जानामि, न जानतं जानामि; किन्तु सर्वंविश्वुद्रो ज्ञातिमात्रो
भावोद्धरस्मिः।

(आत्मा को शुद्ध चेतन्यमात्र तो ग्रहण कराया; अब सामान्य चेतना दर्शन-
ज्ञानसामान्यमय है इसलिये अनुभव में दर्शनज्ञानमूलक आत्मा को किसप्रकार
अनुभव करना चाहिये - सो कहते हैं ;-)

इस भाँति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो देखता।
अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना ॥ २९८॥

इस भाँति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो जानता।
अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना ॥ २९९॥
समयसार गाथा २९८-२९९


टीका - चेतना दर्शनज्ञानरूप भेदों का उल्लंघन नहीं करती है इसलिये, चेतनलय की भाँति दर्शकलय और ज्ञात्वृद्ध आत्मा का स्वदक्षर ही है। इसलिये मैं देखनेवाला आत्मा को ग्रहण करता हूँ।'ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'देखता ही हूँ'; देखते हुए को ही देखता हूँ, देखते हुए के द्वारा ही देखता हूँ, देखते हुए के लिये ही देखता हूँ, देखते हुए से ही देखता हूँ, देखते हुए में ही देखता हूँ, देखते हुए को ही देखता हूँ अथवा नहीं देखता; न देखते हुए को देखता हूँ, न देखते हुए के द्वारा देखता हूँ, न देखते हुए के लिये देखता हूँ, न देखते हुए से देखता हूँ, न देखते हुए में देखता हूँ, न देखते हुए को देखता हूँ; किन्तु मैं सर्वविशुद्ध दर्शनमात्र भाव हूँ। और इसप्रकार - मैं जाननेवाले आत्मा को ग्रहण करता हूँ।'ग्रहण करता हूँ', अर्थात् 'जानता ही हूँ'; जानते हुए को ही जानता हूँ, जानते हुए के द्वारा ही जानता हूँ, जानते हुए के लिये ही जानता हूँ, जानते हुए से ही जानता हूँ, जानते हुए में ही जानता हूँ, जानते हुए को ही जानता हूँ। अथवा - नहीं जानता; न जानते हुए को जानता हूँ, नहीं जानते हुए के द्वारा जानता हूँ, न जानते हुए के लिये जानता हूँ, न जानते हुए से जानता हूँ, न जानते हुए में जानता हूँ, न जानते हुए को जानता हूँ, किन्तु मैं सर्वविशुद्ध ज्ञाति (जाननक्रिया) मात्र भाव हूँ। (इसप्रकार देखनेवाले आत्मा को तथा जाननेवाले आत्मा को कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणरूप कारकों के भेदपूर्वक ग्रहण करके, तत्पश्चात् कारकभेदों का निषेध करके आत्मा को अर्थात् अपने को दर्शनमात्र भावरूप तथा ज्ञात्मात्र भावरूप अनुभव करना चाहिए अर्थात् अभेदरूप से अनुभव करना चाहिए।
भावार्थ – इन तीन गाथाओं में, प्रज्ञा के द्वारा आत्माको ग्रहण करनेको कहा गया है। ‘ग्रहण करना’ अर्थात् किसी अन्य वस्तुको ग्रहण करना अथवा लेना नहीं है; किन्तु चेतनाका अनुभव करना ही आत्माका ‘ग्रहण करना’ है। पहली गाथामें सामान्य चेतनाका अनुभव कराया गया है। वहाँ, अनुभव करनेवाला, जिसका अनुभव किया जाता है वह, और जिसके द्वारा अनुभव किया जाता है वह – इत्यादि कारकबेदरूपसे आत्माको कहकर, अभेदविवश्यामें कारकबेदका निषेध करके, आत्माको एक शुद्ध चेतन्यमात्र कहा गया है।

इन दो गाथाओं में दृष्टा तथा ज्ञाता का अनुभव कराया है, क्योंकि चेतनासामान्य दर्शनज्ञानविशेषों का उल्लंघन नहीं करती। यहाँ भी, छह कारकरूप भेद-अनुभवन कराके और तत्पत्तानुसार अभेद-अनुभवन की अपेक्षासे कारकबेदको दूर करके, दृष्टांतज्ञातामात्रका अनुभव कराया है।

गाथा २९८-२९९, उनकी टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

चेतन्य क्रम का लक्षण जो चेतना स्वरूप है, वह चेतना ज्ञान-दर्शनरूप से दो प्रकार की है। इसलिए दर्शनज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करो। ऐसा इस गाथा में कहते हैं।

अभेद से – सामान्यपने से जिसको चेतना कहा जाता है, वही चेतना ज्ञान व दर्शन के भेद से दो प्रकार की है, दो स्वरूप से है। चेतना आत्मा का लक्षण है – ऐसा कहकर राग आत्मा से भिन है – यह दर्शन है। परन्तु वह चेतना दर्शन व ज्ञानरूप भेद का तथा आत्मा के गुण स्वभावों का उल्लंघन नहीं करती। ज्ञान व दर्शन गुण अर्थात् सामान्य रूप से चेतना तो आत्मा का स्वभाव है। चेतन्यस्वरूपी आत्मा का एक ज्ञान ही स्वभाव है – ऐसा नहीं है, बल्कि दर्शन व ज्ञान – ये दोनों ही आत्मा के स्वभाव हैं। इसलिए चेतनपने की भांति दर्शन व ज्ञान – दोनों ही आत्मा के स्वलक्षण हैं। अनुभव में दर्शन व ज्ञान – दोनों आते हैं।

सनातन विद्वान ग्रंथ के सिवाय अन्य मंत्रों में ऐसा कहते हैं कि – ज्ञान व दर्शन – दोनों एक ही हैं। परन्तु यह सत्य नहीं है। दोनों उपयोग भिन-भिन हैं – ऐसा यहाँ कहते हैं।
समवसार गाथा २९८-२९९

श्वेताम्बर मतवालों का कहना यह है कि - केवली के भी एक समय में एक ही उपयोग होता है। जब दर्शनोपयोग होता है तब ज्ञानोपयोग नहीं होता और जब ज्ञानोपयोग होता है तब दर्शनोपयोग नहीं होता। परन्तु यह बात यथार्थ नहीं है। केवली परमात्मा के एक ही समय में केवलदर्शन व दर्शनज्ञान - ऐसे दोनों उपयोग एक साथ ही होते हैं।

अतः यही छठौस्थों का उपयोग क्रम से ही होता है। उनके दर्शनपूर्वक ज्ञानोपयोग होता है। छठौस्थ के एक समय में दो उपयोग नहीं होते। परन्तु केवली परमात्मा ने तो एक समय में परिपूर्ण दशा प्राप्त की है, इसलिए उनके तो एक समय में ज्ञान व दर्शन उपयोग एक साथ ही होते हैं।

चेतकपने की भांति दर्शनपना व ज्ञातपना आत्मा का स्वल्पक्षण ही है। इसलिए में ज्ञातास्वभावी आत्मा को ग्रहण करता हूँ। यहाँ सामान्य बात की। अब पद्माकर के भेद करके विशेष समझाते हैं।

देखो, कर्ता, कर्म, करण आदि भेद का विचार करने पर तो आत्मा में विकल्प - राग ही उत्पन्न होता है। इसलिए समक्षी इन छह भेदों के विकल्प का लक्ष्य भी छोड़कर एक अभेद आत्मा को ही ग्रहण करते हैं। अहा - दयादान आदि का राग तो मुझमे ही नहीं, कारक के छह भेद भी मुझमे नहीं हैं। - ऐसा जानना हुआ धर्मीजीव भेद का लक्ष्य छोड़ देता है।

आगे कहते हैं कि ज्ञानी पद्माकरकूप भेदों को नहीं देखता - यह सामान्य कथन हुआ। नहीं देखता हुआ ही देखता हूँ - यह कर्ता का भेद है, न देखते हुए के द्वारा देखता हूँ - यह करण का भेद है, न देखते हुए के लिए देखता हूँ - यह सम्प्रदाय के भेद का निषेध है, न देखते हुए से ही देखता हूँ - यह अपदान का भेद है, न देखते हुए में देखता हूँ - यह अधिकरण का भेद है, न देखते हुए को देखता हूँ - यह कर्म का भेद है। सर्वविश्वुद्ध दर्शनमात्र भाव हूँ। इसप्रकार धर्मी सम्यगदर्शन के विषय की भावना करता है। अर्थात् निर्विकल्प अनुभव करता है। अहा! सम्यगदर्शन का विषय अभेद, एक सर्वविश्वुद्ध दर्शनमात्र भाव है तथा इसमें पद्माकरके के भेद नहीं हैं। अभेद एक दर्शनमात्र वस्तु की दृष्टि सम्यगदर्शन है और यही धर्म की प्रथम सीढ़ी है।
देखो, सर्वविशुद्ध अधिकार आने जाला है न? यह उसी की पृष्ठभूमि है।
यहाँ कहते हैं कि - ये कर्ता-कर्म आदि के भेदरूप में नहीं हूँ, मैं तो सर्वविशुद्ध
दर्शनमात्र भाव हूँ। अहा हां मुझे एक अभेद दृष्टान्त भाव ही मैं हूँ।
अन्तर में ऐसे अभेद आत्मा की दृष्टि करना ही सम्यगदर्शन है। ऐसे सम्यगदर्शन से ही
धर्म की शुरुआत होती है।

इसप्रकार अब ज्ञान से समझाते हैं - मैं ज्ञायक अर्थात् ज्ञाता आत्मा को ग्रहण
करता हूँ। “ग्रहण करता हूँ” अर्थात् ज्ञान ही हूँ यह सामान्य बात कही अब
प्रकारक के भेद करके विशेष समझाते हैं। ज्ञान हुआ ही ज्ञान हूँ - यह
कर्ता, जानते हुए के द्वारा ही ज्ञान हूँ - यह करण, जानते हुए के लिए ज्ञानता
हूँ - यह सम्प्रदान, जानते हुए से ही ज्ञान हूँ - यह अप्राप्त, जानते हुए में
ही ज्ञान हूँ - यह अधिकरण, जानते हुए को ही ज्ञान हूँ - यह कर्म।
इसप्रकार छहकारकों के भेद के विचार देखते आते अवस्था हैं, पर भेदों का लक्ष्य
करने से विकल्प ही उत्पन्न होते हैं। इसकारण समकक्षी भेद का लक्ष्य छोड़कर
अभेद एक ज्ञानमात्र वस्तु आत्मा को ही ग्रहण करते हैं।

आगे ग्रहण करने की रीति बताते हैं भेद

देखा, इस प्रकार छहों कारकों को रद कर दिया। अर्थात् दृष्टि में से छोड़
दिया तथा “मैं तो अभेद एक सर्वविशुद्ध सत्तिमात्र भाव हूँ” - ऐसे ज्ञान की
क्रियाको ज्ञानमात्र में जोड़ दिया। अहा! “मैं तो ज्ञायक स्वभावमात्र
हूँ” - ऐसे अभेद एक आत्मा की दृष्टि होने पर पर्याय में भी केवल
ज्ञायकस्वभाव ही आया है। राग व भेद नहीं आये। इसी का नाम धर्म है, आत्मा
स्वीकार ज्ञायकस्वभाव मात्र है। ऐसा जानते हुए, ज्ञान की पर्याय में भगवान
आत्मा को उपादेय करते हुए पर्याय में भी जो ज्ञायकस्वभाव की परिणति प्राप्त
होती है, वही सम्यगदर्शन व सम्यज्ञान है।

अहा! आत्मा का अस्तित्व कितना और किसप्रकार का है? यह जानकर
अन्तर त्रिकालि एक अभेद की दृष्टि करने तब इसे सत्यदृष्टि - सम्यगदृष्टि कहते
हैं। यहाँ कहते हैं - यह सद्भूत व्यवहारनय का विषय जो कारकों के भेदरूप
हैं, वह में नहीं हैं, में तो सर्वविशुद्ध ज्ञित्मात्र भाव हूँ। ‘ज्ञित्मात्र हूँ’ - यह कहकर राग और सर्व भेदविकल्पों का निषेध कर दिया है।

अहा ! अकेले ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायकस्वभावी अभेद एकरूप आत्मा की दृष्टि ही सम्यगदर्शन है।

अरे भाई! लोग तो मानते हैं कि व्यवहार से निर्मित होता है, शुभराग वीररागता का हेतु है। परतु भाई! राग तो असद्भूत व्यवहार है। देख तो सही! यहाँ तो गुणवेदरूप सददृश व्यवहार का भी निषेध किया है। यहाँ कहते हैं कि - निर्मल कारकों के भेद का विचार प्रारंभ में आता अवक्ष्य है, आये बिना नहीं रहता, परतु जब तक भेद का लक्ष्य रहता है, तब तक निष्कर्ष धर्म प्रगट नहीं होता। बापू! वस्तु का वास्तविक स्वरूप ही ऐसा है कि उसे किसी व्यवहार की या भेद की अपेक्षा नहीं है। नियमसार गाथा ३ में कहा है कि - सम्यगदर्शन-ज्ञान-चारित्रृपुष शुद्ध रत्नात्मक मोक्षमार्ग परम निरपेक्ष है।

अहा ! लोगों को सत्य समझने में रुचि नहीं है, गरज भी नहीं है। वस ! इसी कारण भगवान द्वारा कहा गया और संतों द्वारा प्रसिद्ध किया हुआ सत्य का स्वरूप समझना कठिन लगता है।

अज्ञानवश जीव ऐसा माने बैठे हैं कि - दूसरों की दया पालना, व्रत करना, सामायिक करना, प्रतिक्रिया करना आदि ही धर्म है। उनसे संत कहते हैं कि बापू ! तुझे खबर नहीं है। जिसे तू धर्म मानता है, वह सच्चा धर्म नहीं है।

अहा ....! अन्दर राहरहित जो अभेद एक चैतन्यमात्र चिदानन्द प्रभु आत्मा विराजता है, उसके आश्रय से अनुभव होने पर प्रथम सम्यगदर्शन में अतीतित्र आनन्द का वेदना होता है और उसके बाद उसी स्वरूप में जो विशेष लीनता होती है, उसे सामायिक कहते हैं। जिसमें समता का लाभ हो, उसे सामायिक कहते हैं।

यहाँ कहते हैं कि - इस प्रकार ज्ञान-दृष्ट्य स्वभावी आत्मा को कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपाश्चार और अधिकरण रूप कारकों को भेदपूर्वक ग्रहण करके अर्थात् प्रथम ज्ञान में भेदपूर्वक जानकर पर्वतात्म कारक के भेदों
को दूर करके - भेदों का लक्ष्य छोड़कर स्वयं को शुद्ध एक दर्शनमात्रभावरूप से उसप्रकार ज्ञानमात्रभावरूप से अनुभव करो। इसप्रकार अभेद के अनुभव को समयग्रंथन व समयग्नान कहते हैं।

भावार्थ पर प्रवचन

इन तीनों गाथाओं में प्रज्ञा द्वारा आत्मा को ग्रहण करने की बात कही है। 'ग्रहण करना' कहने में किसी अन्य वस्तु को ग्रहण करने या लेने की बात नहीं है, चेतना का अनुभव करना ही आत्मा का 'ग्रहण' करना है।

सत्तचित्तुस्वरूप आत्मा के त्रिकाली चैतन्यस्वभाव के समुख होकर वर्तमान में 'में चैतन्यभाव मात्र हूँ' ऐसा अनुभव करने का नाम 'आत्मा का ग्रहण' करना है।

सत् द्रव्यस्वभाव है, चित् गुणस्वभाव है एवं अनुभव करना पर्यायस्वभाव है। - इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों आ गये। अहा ......! जिनको धर्म करना है, सुखी होना है, उन्हें निमित्त, राग व भेद की दृष्टि दूर करके सबसे विमुख होकर अभेद एक चैतन्यमात्र आत्मा में ही दृष्टि एकाय चाहिए। भाई! यही एक मार्ग है।

परभावों से एवं विकार से भिन्नता की बात पहले आ चुकी है। यहाँ तो निर्मल कारकों के भेद को भी दूर करने को कहा जा रहा है। चैतन्य की निर्मल पर्याय कर्त्ता, निर्मल पर्याय कर्म, निर्मल पर्याय करण इत्यादि पर्यायकारकों के परिणाम में जो लक्ष्य जाता है, वह भेदरूप व्यवहार है। इस भेद-व्यवहार का लक्ष्य छोड़कर चैतन्यप्रकाश के पुंज अभेद एक शुद्ध अन्तःत्व की दृष्टि करना समयग्रंथन है।

अब कहते हैं कि - पहले छह कारकों का भेद करके समझाया था। उसके बाद भेद का निर्मल श्रोत अभेद का अनुभव कराया; क्योंकि भेद की दृष्टि में अभेद का अनुभव नहीं होता। इसकारण भेद को गौण करके अभेद स्वरूप शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु की दृष्टि कराई।
यहाँ दो गाथाओं में दृष्टा व ज्ञाता का अनुभव कराया; क्योंकि चेतनासामान्य दर्शनज्ञान विशेषों का उल्लंघन नहीं करता। यहाँ भी पहले छह कारकरूप भेद अनुभव कराकर अभेद अनुभव की अपेक्षा से कारक भेद दूर कराया तथा अन्तर में अभेद एक आत्मस्वरूप का अनुभव करना ही धर्म है - ऐसा बताया है।

यहाँ प्रश्न है कि - चेतना में जगत की वस्तुयें सामान्य - विशेषपने प्रतिभासित होती हैं। अर्थात् चेतना में पदार्थ भेदभावपने प्रतिभासित होते हैं। आत्मा भी एक वस्तु है। चेतना आत्मा का गुण है। इसकी पर्याय में स्व पर का प्रतिभास सामान्य-विशेषात्मक रूप से होता है; क्योंकि कोई भी वस्तु सामान्य-विशेष धर्म का उल्लंघन नहीं करती। द्विभारूप से सभी वस्तुएं सामान्य हैं और गुण-पर्यायपने विशेष हैं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का सामान्य-विशेष स्वभाव है। उन समस्त वस्तुओं का ज्ञान-दर्शन की पर्याय में प्रतिभास होता है। अहा !!! समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करने वाले दर्शन और ज्ञान चेतन्यमय आत्मा के स्वभाव हैं। इसकारण चेतना उनका उल्लंघन नहीं कर सकती।

यदि चेतना में सामान्य-विशेष रूप वस्तु को प्रतिभासने की शक्ति है न हो अर्थात् देखने-जाने रूप शक्ति है न हो तो चेतना का ही अभाव हो जाये और उसका अभाव होने पर दो दोष उत्पन्न हो जायेंगे –

1. अपने गुणों का नाश होने से चेतन में अचेतनपने का प्रसंग प्राप्त होगा।

2. व्यापक चेतना के अभाव में व्यापक आत्मा का ही अभाव होने का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा। जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

देखो, यहाँ चेतनागुण को व्यापक व आत्मा को व्याप्त कहा है। यहाँ आत्मा और उसकी पर्यायों में व्यापक-व्यापक की बात नहीं है। यहाँ तो गुण व्यापक या त्रिकाली द्विभ 'आत्मा' को व्याप्त रूप से ग्रहण किया है; क्योंकि गुण आत्मा में व्यापक रूप से रहते हैं न। इसलिए गुण व्यापक और आत्मा व्यापक - ऐसा कहा है। अहा ! त्रिकाल ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव व्यापक हुआ व आत्मा उसका व्याप्त हुआ। यदि चेतना के ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का अभाव हो तो व्याप्त आत्मा
ही नहीं रहेगा — यह दोष आता है। इसलिए दोष के निवारणार्थ भी आत्मा
को दर्शन-ज्ञान स्वरूप ही अंगीकार करना योग्य है।

यहाँ कहते हैं कि — चेतना को ज्ञान-दर्शनस्वरूप — दो रूप यथार्थ जानकर
अथवा एक ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का अनुभव करना तथा राग और पर्याय का लक्ष्य
छोड़ना। बस, इसी का नाम निर्मल सम्यंदर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्षमार्ग है।

देखो, अज्ञानी जीव ने अनादि से राग-दृष्टा-कर्मचेतना और कर्मफलचेतना
का ही वेदन किया है। उसको जड़ का स्वाद तो कभी आता ही नहीं है और
स्वरूप का स्वाद उसने कभी लिया नहीं है। कहने का तत्पर्य यह है कि लालू,
बरफी, पेड़ा आदि मिहियान, धन-सम्पदा तथा स्त्री का सुन्दर शरीर आदि जड़
पदार्थ तो प्रवृत्त हैं। अतः उनका स्वाद आने का तो प्रसन ही नहीं उठता।
क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्य में अत्यन्ताभाव है। हाँ, उनके लक्ष्य से अज्ञानी
को अपने रागादि का स्वाद आता है। उससे वह पर में भले-बुरे की कल्पना
किया करता है। पर भाई! यह तो दुःख का ही स्वाद है।

अहो! यदि एक क्षण भी ज्ञानचेतना का स्वाद लेन तो इसके जन्म-मरण
ही टल जावें। पर्……… अज्ञानी ने ऐसा प्रयत्न कभी किया ही नहीं।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं :-

( शार्दूल विक्रीडित )

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेदू दृग्धन्तिरूपं त्यजेतु ।
तत्सामान्यविशेषरूपपरिवर्तहात्माकसिद्वच्चमेव । त्यजेतु ॥
तत्त्वाः जदाना चितीर्थपि भवति व्याप्यो विना व्याप्याका-
दात्मा चानतुमुपेति तेन नियतं दृग्धन्तिरूपास्तु चित् ॥८३॥

श्लोकार्थ्यं — [ जगति हि चेतना अद्वैता ] जगतमें निर्भयतः चेतना
अद्वैत है [ अपि चेतु सा दृग्धन्तिरूपं त्यजेतु ] तथापि यदि वह दर्शनज्ञानरूपको
छोड़ दे [ तत्सामान्यविशेषरूपपरिवर्तहात् ] तो सामान्यविशेषरूपके अभाव से
( वह चेतना ) [ अस्तित्वम् एव त्यजेतं ] अपने अस्तित्वको ही छोड़ देगी; और
[तत्त्व-त्वागे] इसप्रकार चेतना अपने अस्तित्वको छोड़ने पर, (१) [चित् अपि जड़ता भवति] चेतनके जड़ता आ जायेगा - अर्थात् आत्मा जड़ हो जाय [च] और (२) [व्यापकात् बिना व्याप्: आत्मा अन्तम् वैप्रति] व्यापक (चेतना) के बिना व्यापं जो आत्मा वह नष्ट हो जायेगा (इसप्रकार दो दोष आते हैं)। [तेन चित् नियतं दृग्ज्ञातिरुपं अस्तु] इसलिये चेतना नयमसे दर्शनज्ञानरूप ही हो।

भावार्थ - समस्त वस्तुएँ सामान्यविशेषात्मक हैं। इसलिए, उन्हें प्रतिभासनेवाली चेतना भी सामान्यप्रतिभासरूप (दर्शनरूप) और विशेषप्रतिभासरूप (ज्ञानरूप) होनी चाहिए। यदि चेतना अपनी दर्शनज्ञानरूपता को छोड़ दे तो चेतनका ही अभाव होने पर या तो चेतन आत्मको (अपने चेतना गुणका अभाव होने पर) जड़ता आ जायेगा अथवा तो व्यापकके अभावसे व्यापं ऐसे आत्मका अभाव हो जायेगा। (चेतना आत्मकी सर्व अवस्थाओं में व्यापं होनेसे व्यापं है और आत्मा चेतन होनेसे चेतनका व्यापं है। इसलिए चेतनका अभाव होने पर आत्मका भी अभाव हो जायेगा।) इसलिये चेतनको दर्शनज्ञानस्वरूप ही मानना चाहिए।

यहाँ तात्पर्य यह है कि - सांख्यमतावलम्बी आदि कितने ही लोग सामान्य चेतनको ही मानकर एकानं कथन करते हैं, उनका निषेध करने के लिए यहाँ यह बताया गया है कि ‘वस्तुका स्वरूप सामान्यविशेषरूप है’। इसलिए चेतनको सामान्यविशेषरूप अंगीकार करना चाहिए। " १८३ "

कलश १८३ एवं भावार्थ पर प्रवचन

निःचय से जगत में चेतना अदेत्र है। चित् अर्थात् चेतन प्रव्यय और चेतना गुण - दोनों स्वभाव से अभेद हैं। वस्तुन्य या प्रव्ययने से एक होते हुए भी चेतना स्वरूप से ही सामान्य और विशेष - ऐसे दर्शन-ज्ञानस्वरूप से दो पने रहती है।

यदि चेतना अपने सामान्य-विशेषस्वरूप को अर्थात् दर्शन-ज्ञानस्वरूप को छोड़ दे तो जीव चेतना के अभाव में जड़ हो जाये। चेतन को जड़ना आ जाये।
स्वभाव से चेतना एक होते हुए भी ज्ञाता-दृष्टापना भी इसका स्वरूप है। यदि वह ज्ञाता-दृष्टापना छोड़े देतो तो चेतना का अभाव हो जायेगा तथा चेतना के बिना चेतन जीवनमय जड़ हो जायेगा।

यहाँ कोई कह सकता है कि इस बौद्धिक व्यायाम से क्या लाभ है? इस सबका धर्म से क्या समर्थ है? उसके उत्तर में कहते हैं कि - अरे भाई! अपना ऐसा स्वरूप जानकर अपनी दृष्टि को अपने अखण्ड-एक-चेतन्मूर्ति आत्मा के स्वरूप में स्थापित करने का नाम ही तो धर्म है।

पहले बोल में आत्मा को जड़ होने का दोष दर्शाया था और अब दूसरे बोल में आत्मा को नष्ट होने का दोष बता रहे हैं। यदि व्यापक चेतना ही न रहे तो व्याप्त आत्मा का नाश होने का प्रसंग प्राप्त होगा।

इस प्रकार चेतना के दो रूप नहीं मानने से दो दोष उत्पन्न होते हैं। इससे कहते हैं कि - चेतना नियम से दर्शन-ज्ञान रूप ही है। अर्थात् चेतना नियम से दर्शनज्ञानमय ही है।

इसी कलश के भावार्थ में कहते हैं कि - देखो, भगवान ने देखा है कि - जगत में सब दृष्ट्व जाति अपेक्षा छह हैं और संख्या अपेक्षा जीव अनन्त, पुद्गल परमाणु अनन्तात्म, धर्मास्तिकाय एक, अधर्मास्तिकाय एक, आकाश एक और कालाणु असंख्यात हैं। ये सभी - प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषरूप हैं। सामान्य-विशेष होना वस्तु का सहज स्वभाव ही है। इस कारण उनको प्रतिबासित करने वाली चेतना भी सामान्य-विशेषरूप है। सामान्य प्रतिबासरूप दर्शन और विशेष प्रतिबासरूप ज्ञान है।

यहाँ कहते हैं कि - चेतना को ज्ञाता-दृष्टापने दो रूप न मानने तो चेतना का ही अभाव हो जायेगा और चेतना का अभाव होने पर चेतन आत्मा को जड़ रूप होने का प्रसंग प्राप्त होगा।

चेतना व्यापक है और आत्मा व्याप्त है, इसकारण व्यापक का अभाव होने पर व्याप्त आत्मा का ही अभाव हो जायेगा। इसलिए चेतना को दर्शन-ज्ञान स्वरूप ही मानना योग्य है। चेतन दृष्ट्व व चेतनागुण अभेद हैं। इसलिए जिसे धर्म प्राप्त करना हो, उसे ज्ञाता-दृष्ट्व स्वभाव से अभेद भगवान आता की दृष्टि करके उसी में एकाग्र होना चाहिये।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com
कलश १८३

यहाँ कोई प्रश्न करे कि - पर्याय व द्रव्य तो अभिन्न ही हैं, इसलिए पर्याय में अशुद्धता हो तो द्रव्य भी अशुद्ध ही होना चाहिए?

उत्तर में कहते हैं - भाई! ऐसा नहीं है। द्रव्य तो त्रिकाली है और पर्याय तो एक समयवर्ती है। सिद्धों की निर्विकारी पर्याय भी एक समय की है। ये कोई त्रिकाली वस्तु नहीं है। जिसबारह सिद्ध पर्याय द्रव्य का एक-एक समयवर्ती निर्विकारी भेष है। उसी तरह मोक्षमार्ग की पर्याय भी त्रिकाली द्रव्य का एक-एक समयवर्ती आँशिक निर्मल भेष है और संसार की पर्याय भी चेतन द्रव्य का एक-एक समयवर्ती विकारी भेष है।

इसी शास्त्र की ३२०वीं गाथा में कहा है कि - मोक्षमार्ग की पर्याय भी द्रव्य से कर्त्तवतित भिन्न है। चेतन द्रव्य का चेतना स्वभाव है। उस चेतन द्रव्य में - अभेद में एकाय होने पर चेतनास्वभावय सम्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रयुप मोक्षमार्ग का परिणाम प्रगट होता है। यह पर्याय यदि द्रव्य में एकरूप-अभेद हो जाय तो मोक्षमार्ग की पर्याय का नाश होने से त्रिकाली परिणामिक भाव का भी नाश हो जायेगा।

आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड प्रभु एक-शुद्ध-चेतन्य रसकंद है। उसे ज्ञान की पर्याय में ज्ञेय बनाने से जो स्व-संबंधत ज्ञान हुआ, उसी के साथ 'यह अखण्ड-एक-परिपूर्ण चिन्मात्र वस्तु में हूँ' - ऐसी प्रतीति प्रगट हुई और साथ ही स्वरूप में रमनेनुष आचरण प्रगट हुआ। इसप्रकार प्रगट हुए शुद्ध रत्नतयुप मोक्षमार्ग की पर्याय त्रिकाली आत्मद्रव्य के साथ एक हो जाय तो मोक्षमार्ग की पर्याय का नाश होने पर द्रव्य का भी नाश हो जायेगा। इसलिए निश्चय से पर्याय द्रव्य से भिन्न ही है।

संवर अधिकार की प्रारंभिक गाथाओं में कहा है कि - भगवान आत्मा एक वस्तु हैं और दया-दान आदि के शुभाशुभ भाव इससे भिन्न दूसरी वस्तु हैं; क्योंकि राग के प्रदेश व आत्मा के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं। जितने क्षेत्र में राग उत्पन्न होता है, वह क्षेत्र ध्रुव के क्षेत्र से भिन्न गिना गया है और इसी से विकार का आधार आत्मा को नहीं माना तथा आत्मा का आधार विकार
प्रचन्तलाकर भाग 8

को नहीं माना। इस प्रकार दोनों में परस्पर आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है – ऐसा वहाँ संवर अधिकार में सिद्ध किया है। तात्पर्य यह है कि पर्याय द्रव्य से वास्तव में भिन्न ही है।

मोक्षमार्ग की पर्याय के प्रदेश भी त्रिकाली द्रव्य के क्षेत्र से भिन्न ही गिने गये हैं, माने गये हैं। यह बात चित्तुविलास में आई है। प्रवचनसार में भी कहा है कि उत्पाद उत्पाद से है, ध्रुव व व्यय से नहीं, व्यय व्यय से है, उत्पाद व ध्रुव से नहीं तथा ध्रुव-ध्रुव से है, उत्पाद व व्यय से नहीं।

पर्याय की स्थिति एक समय की होती है, जबकि द्रव्य त्रिकाल है। पर्याय का भाव जिस प्रदेश में उत्पन्न होता है, वह प्रदेश का अंश भिन्न है तथा त्रिकाली द्रव्य के प्रदेश भिन्न हैं। अहा.....! पर्याय का व्यय पर्याय से है, पर्याय की उत्पत्ति पर्याय से है, पर्याय की स्थिरता (टिकाव) पर्याय से है। पर्याय के प्रत्कारक पर्याय में पर्याय से हैं। इस प्रकार निरचय से पर्याय द्रव्य से भिन्न है।

इसलिए अशुद्ध पर्याय होने से सम्पूर्ण त्रिकाली द्रव्य अशुद्ध नहीं हो जाता। पर्याय की अशुद्धता के काल में भी द्रव्य तो एकरूप शुद्ध ही है। उसे पर्याय अपेक्षा अशुद्ध कहना – यह बात जुदी है।

भाई! पर्याय है अवस्थ; पर्याय हो ही नहीं – ऐसा कोई कहे – तो यह कहना सत्य नहीं है। पर्याय है और कार्य पर्याय में ही होता है, त्रिकाली द्रव्य में नहीं होता। हाँ, शुद्ध-एकरूप त्रिकाली द्रव्य का आश्रय करने से सम्पूर्ण-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है। परतु वह एक समय की अवस्था है। अहा.....! एक समय की अवस्था का भाव भिन्न, काल भिन्न, क्षेत्र भिन्न और वीर्य भिन्न है। अहो! वस्तु का स्वरूप ऐसा है। भगवान ने ऐसा ही देखा एवं जैसा देखा वैसा ही कहा है।

यहाँ कहते हैं कि – चेतना को दर्शनज्ञान स्वरूप ही मानना। अहा! जैसा वस्तु का स्वरूप सामान्य-विशेषरूप है, उसी प्रकार वस्तु को देखने-जानने रूप चेतना भी सामान्य दर्शनस्वरूप और विशेष ज्ञानस्वरूप है। अहा......! ऐसे अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को जानकर उसी में एकाग्रपने लीन होकर रहना – इसी का नाम धर्म है।
यहाँ तात्पर्य यह है कि - सांख्यमती आदि कितने ही लोग सामान्य चेतना को ही मानकर एकांत ग्रहण करते हैं। उनका विरोध करने के लिए "वस्तु का स्वरूप सामान्य-विशेषरूप है, इससे चेतना को सामान्य-विशेष रूप ही अंगीकार करना" - ऐसा यहाँ ज्ञान कराया है।

अपने शुद्ध चेतनयस्वरूप को यथार्थ पहचान कर उसके आश्रय से सर्वप्रथम समक्ष होना चाहिए।

अब आगामी कथन का सूचक श्लोक कहते हैं :-

(इद्रव्या)
एकशिचतशिचन्मय एव भावो
भावः परे ये किल ते परेशाम् ।
ग्राह्यसत्तशिचन्मय एव भावो
भावः परे सर्वत एव हेयः ॥ १८४॥

श्लोकार्थः - [चितः] चातन्यका (आत्माका) तो [एकः चिन्मयः एव भावः] एक चिन्मय ही भाव है, और [ये परे भावः] जो अन्यभाव हैं [ते किल परेशाम्] वे वास्तव में दूसरोंके भाव हैं; [ततः] इसलिए [चिन्मयः भाव एव ग्राहः] (एक) चिन्मय भाव ही ग्रहण करने योग्य है,[ परे भावः सर्वतः एव हेयः] अन्य भाव सर्वथा त्वाज्य हैं॥ १८४॥

कलश १८४ पर प्रवचन
चेतन्य द्रव्य का अर्थात् भगवान आत्मा का तो एक चिन्मय ही भाव है।
जानना-देखना ही आत्मा का स्वभाव है। रागादि रूप जो अन्य भाव हैं, वे सब
वस्तुतः पर भाव हैं। हिंसा, झूठ, चोरी आदि के जो विकल्प उठते हैं, वे
पापभाव हैं तथा दया, दान, ब्रत, तप, भक्ति आदि के पुण्यभावरूप विकल्प
शुद्ध चेतन्य के भाव नहीं हैं। ये सब पर भाव ही हैं।

अहा हा ��! भगवान आत्मा तो शुद्ध चिन्मय-चेतनामय है। चेतना वाला
कहने से भेद भासित होता है, अतः चेतना वाला न कह कर चेतनामय कहा
है। आत्मा तो एक अभेद-शुद्ध चिन्मय प्रभु है न? बस, इस एक-अभेद-
चिन्मय आत्मा का अनुभव करना ही धर्म है, मोक्षमार्ग व मोक्ष का उपाय है।
कुछ लोग दो शंकायें प्राग करते हैं। वे कहते हैं कि –

1. द्वन्द्व व पर्याय एक है, अभिन है, इसलिए पर्याय अशुद्ध होने पर द्वन्द्व शुद्ध कैसे अभाब हो सकता है?

2. व्यवहार से निश्चय होता है और व्यवहार शुभभाव रूप होता है, अतः शुभभाव करते-करते सम्पर्कस्तर्बन होने में क्या बाधा है?

प्रथम शंका का समाधान तो यह है कि – वास्तव में, तो चेतना को एक समय की जाननक्रियारूप–जानने–देखने के अनुभवरूप निमित्त पर्याय द्वन्द्व से कक्षित भिन है। तथापि ये जो रागादि विकल्प उठते हैं, ये अशुद्ध पर्यायें तो द्वन्द्व से सर्वथा भिन ही हैं। जो सर्वथा भिन हो, वह न्यायक में प्रवेश कैसे कर सकती है? जो भिन हैं, वे तो भिन ही रहेंगी।

अहाहाः! चित्र अर्थात् कारणजीव, कारणपरमात्मा एक–शुद्ध–चिन्मय है, जो कि तीनों काल शुद्ध है। वर्तमान पर्याय की अशुद्धता के समय भी यह अन्दर स्वभाव से तो शुद्ध ही है। गुण वस्तु गुणमय है। जैसे शक्ति (मिश्री) मित्रास से तनमय है, उसी तरह चित्र चेतना से तनमय है। अभेद है, एक है, चिन्मय है। अहाहाः! ऐसा अभेद एक आत्मा में गुण–गुणी का भेद डालना अन्य भाव है; क्योंकि भेद को लक्ष्य में लेते ही विकल्प (राग) ही उठता है। अतः भेद को गौण करके एक अभेद का ही लक्ष्य करना योग्य है। अहाहाः! दृष्टि में लेने योग्य तो एक त्रिकाल शुद्ध चिन्मय आत्मा ही है।

यह जड़ माटी शरीर तो आत्मा है ही नहीं, जड़ कर्म भी आत्मा की चोज नहीं है। तथा पाप भाव भी आत्मा में नहीं है और पुण्यभाव भी आत्मा की वस्तु नहीं है। ये व्यवहार रत्नारूप के शुभभाव भी आत्मा की चोज नहीं है।

एक चिन्मयभाव के सिवाय सर्वभाव परभाव है। जिस भाव से तीर्थकर नामकर्म का बन्ध पड़ता है, वह भाव भी परभाव है। वह भी जीवभाव नहीं है। जब ऐसी वस्तुस्वर्णति है तो शुभभावरूप परभाव से आत्मा में धर्म की प्राप्ति कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती।

भगवान आत्मा में पुण्य–पाप का भाव नहीं – यह तो ठीक; उसमें वर्तमान पर्याय का भी अभाव है। त्रिकाली धृत में वर्तमान पर्याय का अभाव है।
कलश १८४

यहाँ कोई शंका कर सकता है कि पर्याय पर्याय में भी नहीं है – ऐसा कैसे संभव है? पर्याय का पर्यायपने तो अस्तित्व है ही न?

समाधान यह है कि – जिस तरह समयसार गाथा ११ में पर्याय को अभूतार्थ कहा; सो वहाँ गौण करके अभूतार्थ कहा, न कि अभाव करके; उसी प्रकार यहाँ भी पर्याय को गौण किया है। क्योंकि – वहाँ इसका प्रयोजन जो सम्प्रदाय की प्राप्ति है, एतदर्श त्रिकाली सत्ता को सत्यार्थ कहा तथा वर्तमान पर्याय को गौण करके असत्यार्थ कहा है। क्योंकि त्रिकाली धूम के ही आश्रय से निज प्रयोजन की सम्प्रदाय की सिद्धि होती है, पर्याय के आश्रय से नहीं।

इसप्रकार अथवा एक चिन्मय आत्मा में एकाग्रता करना ही दुःख की मुक्ति का उपाय है। बीच में व्यवहार आता अवश्य है, पर यह कोई उपाय नहीं, यह तो बन्ध का ही कारण है। इसलिए चिन्मयभाव ही ग्रहण करने योग्य है। अन्य सभी भाव सर्वथा छोड़ने योग्य हैं।

चिन्मय भाव ही ग्रहण करने योग्य है – यह सम्प्रक एकान्त है। चिन्मय का ग्रहण होने पर परभाव उत्पन्न ही नहीं होते – इसे ही परभाव का त्याग करना कहा जाता है। आत्मा में तो परवस्तु का ग्रहण-त्याग होता ही नहीं है।

यहाँ कहते हैं – परभाव सब प्रकार से हेय हैं। यद्यपि व्यवहारनव से व्यवहार को शास्त्रों में पूज्य कहा है, पर उसका अर्थ यह है कि – व्यवहार से व्यवहार जानने लायक है। निर्देश से तो सब प्रकार का व्यवहार हेय ही है। कलश टीका में व्यवहार का अर्थ कथनमात्र है।

भाई! तेरे अन्दर अनन्त ज्ञान, अनन्त–आनन्द, अनन्त वीर्य आदि अनन्त-अनन्त ईश्वरपन विद्यमान है न अहाहा ----- भगवान! तू ईश्वर है। अपनी ईश्वरता को ग्रहण कर और परभावों से छूट जा! परभाव तो हर तरह से छोड़ने लायक ही है। समक्ष व मुनिवरों को भी परभाव आये बिना नहीं रहते, पर वे उन्हें हेय मानते हैं। ज्ञानी को एक चिन्मय आत्मा ही ग्राह्य है, उपादेय है – ऐसा भगवान की वाणी में आया है।

•
समयसार गाथा ३००

को नाम भगिन्ज्य बुझो णातु सब्बे पराड़े भावे ।
मज्ञारिंगं ति च वयं जान्तो अप्यं सुखं ॥ ३००॥

को नाम भणेदबुधे: ज्ञात्वा सर्वनां परकीयानु भावानु।
ममेदमि च वचनं जाननात्मनं शुद्धम् ॥ ३००॥

यो हि परात्मनोर्नियत्स्वलक्ष्णनिविभागपतित्वा चिन्ताय ज्ञानी स्वातः, स
खल्वेकं चिन्मात्रं भावामात्रीं जानाति, शेषांश्च सर्वाने भावानु
परकीयानु जानाति। एवं च जानन कथं परभावानमामी इति बूथात्?
परात्मनोर्नियत्चिन्ते स्वस्वाभिमाणस्वतस्थासंभवाट। अतः सर्वथा चिद्भाव
एव गृहीतवः, शेषा: सर्वे एव भावा: प्रहातवः इति सिद्धांतः।

अब इस उपदेशकी गाथा कहते हैं :-

निज आत्मा को शुद्ध अर परम्पर में को जानता ।
है कौन बुध जो जगत में परद्रव्य को अपना कहे ? ॥ ३००॥

गाथार्थ- [सर्वनां भावानु] सर्व भावोंको [परकीयानु] दूसरे का
[ज्ञात्वा] जानकर [कः नाम बुधः] कौन ज्ञानी, [आत्मानं] अपनेको
[शुद्धम्] शुद्ध [जानन्] जानता हुआ, [इदम् मम] ‘यह मेरा है’ (‘यह
भाव मेरे है’) [इति च वचनं] ऐसा वचन [भणेद्] बोलेगा?

टीका- जो (पुरुष) परके और आत्माके नियत स्वलक्षणोंके विभागमें
पड़नेवाली प्रजाके द्वारा ज्ञानी होता है, वह वास्तवमें एक चिन्मात्र भावको
अपना जानता है और शेष सर्व भावोंको दूसरोंका जानता है। ऐसा जानता हुआ
(यह पुरुष) परभावान्को ‘यह मेरे है’ ऐसा क्यों कहेगा? (नहीं कहेगा;) क्योंकि परमें और अपनेमें निर्भयसे स्वस्वाभिमाणान्तका असम्भव है।
इसलिये, सर्वथा चिद्भाव ही (एकमात्र) प्रहात करनेयोग्य है, शेष समस्त भाव
छोड़ने योग्य हैं – ऐसा सिद्धान्त है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com
भावार्थ – लोकमें भी यह न्याय है कि - जो सुबुद्धि और न्यायवान होता है वह दूसरे के धनादिको अपना नहीं कहता। इस प्रकार जो सम्प्रज्ञानी है, वह समस्त परद्रव्यों को अपना नहीं मानता। किंतु अपने निजभावको ही अपना जानकर ही ग्रहण करता है।

समयसार गाथा ३००, उसकी टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

अहाहा’’’! धर्म कैसे प्रगट होता है - यह बात यहाँ कह रहे हैं। कहते हैं कि भगवान आत्मा का लक्षण शुद्ध चेतना स्वरूप है तथा बन्ध का लक्षण रागादि रूप है। बल्कि, वह देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति का राग हो, इन्हों की श्रद्धा का राग हो या अन्य कोई भी पुण्य भाव हो - बन्ध का ही लक्षण है। इस प्रकार दोनों के निश्चय स्वल्पक्षण जानकर दोनों की सांख्य में प्रज्ञा रूपी छैनी पटकने से आत्मा धर्मी होता है।

आत्मा का स्वभाव चेतना है और राग भिन्न है, पर है; इस प्रकार दोनों के बीच सांख्य है। उन दोनों के बीच प्रज्ञा छैनी पटकने पर ‘स्व’ का ज्ञान होता है। तथा नास्तिपने राग मेरी वस्तु नहीं है - ऐसा ज्ञान हो जाता है। इसी का नाम भेदविज्ञान है, धर्म है। भाई! धर्म करनेवालो को प्रथम यह भेदविज्ञान करना आवश्यक है, तभी वह धर्मी-ज्ञानी होता है।

ऐसा धर्मी पुरुष वस्तुः एक चिन्मात्र भाव को ही अपना मानता है। शेष चेतनारहित सर्व भावों को पर जानता है। व्यवहार रत्नश्रय के भावों को भी वही पर जानता है। धर्मी की दृष्टि में एक ओर आत्मा ‘स्व’ और दूसरी ओर सर्व रागादि ‘पर’ है।

देखो, शुभ राग का जो विकल्प उठता है, उसी क्षेत्र में उसी काल में ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार दोनों की उत्पत्ति होते हुए भी प्रज्ञा छैनी द्वारा धर्मी दोनों को भिन्न जानता है। स्वर्ग को ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव वाला चिन्मय आत्मा जानता है और रागादि भावों को ‘पर’ जानता है।

अहाहा’’’! भगवान आत्मा अनन्त शक्तियों का और गुणों का घनपिण्ड, अभेद, एक चेतनामात्र वस्तु है। जो अपने ऐसे स्वरूप का रागरहित अनुभव करता है, वह ज्ञानी है, धर्मी है।
आगे कहते हैं कि - जिसने राग से भिन शुद्ध चेतना मात्र भगवान आत्मा का अनुभव किया, वह ज्ञानी व्यवहार के राग को अपना कैसे मान सकता है? नहीं मानता; क्योंकि पर व निज के साथ निर्मल से स्व-स्वामी संबंध असंभव है। शुद्ध चेतनास्वभाव 'स्व' और स्वर्य का आत्मा उसका 'स्वामी' - ऐसा स्व-स्वामी सम्बन्ध है। पर 'राग' 'स्व' और 'आत्मा' 'स्वामी' - ऐसा सम्बन्ध नहीं है। तो फिर ज्ञानी उस राग को अपना कैसे माने ? 'पर' भाव का स्वामी 'पर' है, आत्मा उसका स्वामी नहीं है।

समयसार परिशिष्ट में ४७ शक्तियों का वर्णन किया है। उसमें अन्तिम स्व-स्वामी सम्बन्ध शक्ति है। जिस शक्ति के कारण अपने दृष्टे-गुण व निर्मल पर्याय अपना 'स्व' है और स्वर्य आत्मा उसका 'स्वामी' है, ऐसी 'स्व-स्वामी सम्बन्ध' शक्ति है। परविकार अपना स्व और स्वर्य विकार का स्वामी - ऐसा स्व-स्वामी सम्बन्ध नहीं है। आत्मा विकार का स्वामी बने - ऐसी उसमें कोई शक्ति ही नहीं है।

धर्मी पुरुष यह नहीं मानते कि - "स्वी-पुनरादि मेरे हैं," क्योंकि धर्मी पर-दृष्टे व परभाव के साथ आत्मा को स्व-स्वामी सम्बन्ध होना असंभव है। अरे! जगत जन तो ऐसा कहते हैं कि - यह मेरा भगवान है, ये हमारे गुरु हैं। परन्तु भाई! परवस्तु को अपना मानना तो स्थूल अज्ञान है; क्योंकि आत्मा में परवस्तु का विकाल अभाव है। स्वर्य के व पर के साथ स्व-स्वामी सम्बन्ध होना सदाकाल असंभव है।

बापू! यह शरीर की क्रिया व वाणी तो बहुत दूर की बात है; क्योंकि ये तो प्रगट पर हैं। परन्तु यहाँ तो आत्मा में उत्पन्न हुए दया-दान, ब्रतादि के भाव भी पर हैं। व्यवहार रत्नाग्र का विकल्प भी पर है।

बनारसीदास ने परमार्थ बचनिका में कहा है कि - पर सत्तावतवलबीजान भी अपनी वस्तु नहीं है। जो पर है उसका स्वामी आत्मा कभी भी नहीं है। जिसके साथ स्व-स्वामी सम्बन्ध नहीं है, उससे लाभ मानने तो यह मान्यता मिथ्यात्व है।
सभी सम्प्रदायों में लोग मिथ्या मान्यता की भूलों से ग्रसित हैं। स्थानकवासियों में बाच्चा तप और व्रत करने को धर्म मान रखा है तो श्वेताम्बरों ने भगवान को भक्ति करने और गिरनार व समेद शिखर की यात्रा करने में धर्म मान रखा है। बेचारों को यह खबर ही नहीं है कि कर्ता बुद्धि से शुभाशुभ राग में एवं परदर्श में कर्तृत्व-भोक्तत्व की मान्यता रूप मिथ्यात्मा का महापाप निर्माता हो रहा है। जब राग में धर्म मानना ही मिथ्यात्मा है, तो व्रत-तप, पूजा-यात्रा आदि के शुभ राग से वीतराग धर्म कैसे हो जाएगा? दिगम्बर सम्प्रदाय में भी स्नी-पुनादि कुटम्ब छोड़ो, वस्त्र छोड़ो, नगन हो जाओ। वस, हो गये धर्मात्मा। परन्तु उन्हें भी यह खबर ही नहीं है कि आत्मा में पर का ग्रहण-त्याग मानना ही मिथ्यात्मा है; क्योंकि आत्मा पर के ग्रहण-त्याग से शून्य है। आत्मा में ऐसी एक शक्ति है जिसे त्यागपादान शून्यत्व शक्ति कहा गया है। अहा! धर्म का स्वरूप बहुत सूक्ष्म है भाई! इसे उपयोग को सूक्ष्म करके समझना पड़ेगा।

यहाँ कहते हैं कि धर्म जीव व्यवहार के राग को अपना नहीं मानता; क्योंकि व्यवहार (राग) में बूढ़े 'स्व' एवं में उसका 'स्वामी' - ऐसा सम्बन्ध ही असंबंध है। इसलिए सर्वथा चिदभाव ही (एक) ग्रहण करने योग्य है। शेष समस्त भाव छोड़ने योग्य हैं। - ऐसा सिद्धान्त है।

कहते हैं कि - एक चेतन आत्मा और उसका चेतन स्वभाव ही अमेद एक अनुभव करने लायक है। अन्तर स्वरूप में मान होकर इसका संबंध और आनन्द का स्वाद लेने योग्य है। यह सिद्ध हुई वस्तु है। व्यवहार व निर्दय का स्व-स्वामी सम्बन्ध नहीं है, यह आयमसिद्ध बात है।

कहने का तात्पर्य (भावार्थ) यह है कि - लोक में भी कोई खानदानी समझदार न्यायप्रिय मनुष्य हो तो आर्थिक स्थिति साधारण होने पर भी दूसरे की धरोहर या उधार मांग कर लाई वस्तु को अपनी सम्पत्ति नहीं मानता, यह वस्तु मेरी नहीं है - ऐसा ही मानता है और यही लौकिक न्याय है।
इसी प्रकार जो सम्यग्नानी है, वह समस्त परद्रव्यों को अपना नहीं मानता। 
व्यवहार का, पुण्य का भाव आता है, वह उसकी सत्ता को मानता है; परन्तु 
वह मेरा भाव है - ऐसा नहीं मानता। वह समस्त परद्रव्यों को तथा; परभावों 
को अपना नहीं मानता। भले उस भाव से इन्द्रपद एवं चक्रवर्ती का पद मिले, 
तो भी वह उस भाव को अपना नहीं मानता।

अहा! अपने एक चिन्मात्रभाव को ही अपना जानकर उसका अनुभव 
करता है। यह भगवान की दिव्यध्वनि में आई हुई बात है। जिसका महाभाव 
होता है, उसे ही सुनने का मिलती है और जसके जीवन में परिणत हो जाये, 
उसके भाग्य का तो पूछना ही क्या है?

अब इस अर्थों कलशरूप काव्य कहते हैं :-

(शारदूलविक्रीडित)
सिद्धांतोऽयमुदाताचित्तचरितंमोक्षार्थिभि: सेव्यतां 
शुद्धं चिन्मयेमकेमेव परमं ज्योति: सदैवास्यहम्।
एते ये तु समुल्लस्तिं विविधा भावा: पृथग्लक्षणा- 
स्तेषु नारिम यतोज्यं ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि इ १८५॥

श्लोकार्थः: [- उदात्तचित्तचरिते: मोक्षार्थिभि: जिनके चित्तका चरित्र 
उदात ( -उदार, उच्च, उन्ज्वल) है ऐसे मोक्षार्थी [अयम् सिद्धान्त: ] इस 
सिद्धान्तका [सेव्यताम् ] सेवन करें कि - [अहम् शुद्धं चिन्मयम् एकम् 
परमं ज्योति: एव सदा एव अस्मि ] ‘मैं तो सदा शुद्ध चैतन्यमय एक 
परमज्योति ही हूं; [तु ] और [एते ये पृथग्लक्षणा: विविधा: भावा: 
समुल्लस्तिं ते अहं न अस्मि ] जो यह भिनः लक्षणवाले विविध प्रकारके भाव 
प्राप्त होते हैं वे मैं नहीं हूं, [ यत: अत्र ते समग्रा: अपि मम परद्रव्यम् ] क्योंकि 
वे सभी मेरे लिये परद्रव्य हैं ।। १८५॥

कलश १८५ पर प्रवचन

कलश में पहला शब्द ‘मोक्षार्थी’ आया है। मोक्षार्थी कहो या धर्मी कहो 
या ज्ञानी कहो - तीनों एकार्थक हैं। अनन्त सुखमय मोक्ष का आंशिक अनुभव
कलश १८५

जिसे हुआ है वह मोक्षार्थी है। कलश टीका में मोक्षार्थी का अर्थ ऐसा किया है कि सकल कर्मों के क्षय से उत्पन्न अतीतिय तुष्क का जिसने उपादेयरूप अनुभव किया है - ऐसा जीव। अतीतिय आनन्द का अंश जिसके स्वाद में आया है तथा जो पूर्ण आनन्द का अर्थ है, वह मोक्षार्थी है।

नियमसार में पूर्ण अतीतिय आनन्द के आत्मलाभ को मोक्ष कहा है तथा ऐसे मोक्ष का जो अर्थ है, वह मोक्षार्थी है। पूर्ण आनन्दस्वरूप मोक्ष के कारणस्वरूप मार्ग में जो स्थित है, वह मोक्षमार्गी ही मोक्षार्थी है। दूसरे प्रकार से कहें तो मोक्ष जिनका प्रयोजन है और जो मोक्ष के लिए ही निरंतर प्रयत्न हैं वे सम्यगदृष्टि धर्मात्मा मोक्षार्थी हैं।

अनन्द दुःख की दशा संसार है, इससे विपरीत अनन्द आनन्द की दशा मोक्ष है तथा जिसमें किंचित् आनन्द की दशा और किंचित् दुःख की दशा है - वह साधक मोक्षार्थी है।

‘मोक्षार्थी’ को ही परिभाषित करते हुए कहते हैं कि - जिसमें ज्ञान व आनन्द पूर्ण स्वभाव विद्यमान है, उस भगवान आत्मा की जिसको दृष्टि हुई है। उसी का जिसे ज्ञान हुआ है और अन्तर में रमणतारूप आचरण प्रगट हुआ है, वह मोक्षार्थी है। ऐसे मोक्षार्थी के चित्र का चारित्र उदाहर है। अर्थात् उसके ज्ञान का आचरण उदाहर है, उच्च है, उज्ज्वल है। क्षण-क्षण में उसके आनन्द की रमणता वृद्धिगत होती रहती है।

देखो, मोक्षार्थी के चित्र का आचरण अर्थात् ज्ञान का आचरण! भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा में रमणता करना ही चेतन का आचरण है। चेतन का आचरण कहो या चित्र का आचरण कहो - दोनों एक ही बात है। यह चेतन का चारित्र अत्यन्त उदाहर है। उदाहर है अर्थात् उदाहर है। उच्च है, उज्ज्वल है। सम्यगदृष्टि के ऐसा रागरहित आत्मोन्मुख आचरण होता है। ऐसा रागरहित आचरण करने में समकिंत उदाहर होते हैं।

भगवान आत्मा शुद्ध चेतनास्वरूप है। उसमें अन्तर एकाग्र होकर उसी में रमणा, ठहरना ही ज्ञान का आचरण है। देखो! समकिंत को जो बाह्य व्यतिरिक्त
होते हैं, उस आचरण की बात नहीं है। यह रागरूप आचरण वस्तुतः आचरण ही नहीं है, इसे तो उपचार से आचरण कहा जाता है।

ज्ञान का चरित्र अर्थात् बीतार्गी चरित्र। कलश टीकाकार ने तो ‘‘उदार चित्त चरिते:’’ का ऐसा अर्थ किया है कि ‘‘संसार, शरीर, भोगों से रहित अभिप्राय है जिसका, वह उदार चित्त चरित वाला है।’’

आलाप पद्धति में अध्यात्म के निश्चय व व्यवहार दो नये कहे हैं। वहाँ पूर्ण-शुद्ध-अभेद-एक को निश्चयनय के विषय में लिया है। कहने का अर्थ यह है कि – चेतन द्रव्य पूर्ण शुद्ध है, पूर्ण आनन्दरूप है, चारित्र की पूर्ण रमणतारूप है। अर्थात् आत्मा के स्वभाव में पूर्ण रमणतारूप चारित्र त्रिकाल विद्यमान है। वर्तमान पर्याय में भले हरमना कम है, परन्तु स्वरूप में तो चारित्र पूर्ण रमणतारूप है। अहा***! ऐसे आत्मा का आलम्बन लेकर जिसने आनन्द में रमणता करने रूप ज्ञान का आचरण प्राप्त किया है और जिसको पूर्ण आनन्द के लाभ का प्रयोजन है, उस मोक्षांग्री के आचरण को यहाँ ज्ञान का आचरण कहा है। यहाँ रागरूप आचरण की तो बात ही नहीं है। ज्ञानी को राग होता है, पर उसका ज्ञान को आदर नहीं है; वह तो उस व्यवहार का ज्ञायक मात्र रहता है।

कहते हैं कि – व्रतादि रूप राग की क्रिया निज वैभव सम्पन्न ज्ञानी का आचरण नहीं है। अन्तर प्रगट प्रचुर अतीत्रिय आनन्द की दशा निज वैभव है और वही मोक्षांग्री का आचरण है।

अब प्रचुर आनन्द में रहनेवाले मुनिराज आचर्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि – जिसके चित्त का चरित्र उदात है, ऐसे मोक्षांग्रियों को इस सिद्धांत का सेवन करना चाहिए कि – ‘मैं तो सदा से शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति स्वरूप ही हूँ।’

सिद्धांत अर्थात् शास्त्रवत् सिद्ध वस्तु। धर्मी जीव निवं री को ऐसा अनुभव करता है कि – ‘मैं सदा ही शुद्ध चिन्मय एकरूप परम चैतन्य ज्योतिस्वरूप ही हूँ।’
देखो, यहाँ ‘सदा ही शुद्ध’ – ऐसा कहा है। इसलिए कोई ऐसा कहे कि ‘अशुद्ध पर्याय के समय त्रिकाली प्रव्य अशुद्ध हो जाता है’ – तो उसका ऐसा कहना व मानना सही नहीं है। चेतनास्वभाव तो अन्द्र में एकरूप-त्रिकाल शुद्ध ही है। समकिति अपने ऐसे अभ्यन्तर स्वरूप का जो अनुभव करता है, इसी का नाम धर्म है।

आगे कहते हैं कि – ये जो चेतन्य से भिन्न लक्षण वाले दया, दान, प्रत, भक्ति आदि अनेक प्रकार के भाव प्रगट होते हैं, वे ‘में’ नहीं हैं। साधक दशा में मेरी पर्याय में असंख्य प्रकार के शुभाशुभ भाव होते हैं, वे भाव मुझसे भिन्न ही हैं। वे में नहीं हैं।

प्रश्न – अभी-अभी पहले यह कह आये हैं कि ‘में सदा ही एकरूप शुद्ध चिन्मात्र हूँ।’ तुरंत बाद यहाँ यह कह रहे हैं कि – चेतना से भिन्न लक्षण वाले विविध भाव मेरी पर्याय में प्रगट होते हैं। आखिर आप कहना क्या चाहते हैं?

उत्तर – यहाँ कहने का प्रयोजन यह है कि – मोक्षमार्गी-धर्मी अपने को ऐसा अनुभव करता है कि – ‘वस्तु: तो में एकरूप ही हूँ तथा ये भूमिकानुसार भिन्न लक्षणवाले अनेक प्रकार के शुभाशुभ भाव जो वर्तमान पर्याय में प्रगट होते रहते हैं, में उनस्वरूप नहीं हूँ; वे भाव मुझसे भिन्न ही हैं।’

लोग तो ब्रत-तप आदि शुभभावों को साधन मानते हैं, जबकि यहाँ यह कह रहे हैं कि – ‘वे शुभभाव ‘में’ नहीं हूँ, अर्थात् वे मेरा स्वरूप नहीं हैं। पृथक लक्षण वाले ये अनेक भाव मेरी भूमिका में होते अवश्य हैं, परन्तु ‘वे में नहीं’, वे सब मेरे शुद्ध-एक-चिन्मयस्वभाव से भिन्न ही हैं। विकार लक्षणवाले हैं न? इसलिए वे भिन्न ही हैं।’

एक समय की केवलज्ञान पर्याय परिपूर्ण है। जिस तरह इस पर्याय में अपने द्रव्य-गुण व तीनों काल की पर्यायों का तथा छह द्रव्यों का ज्ञान आ जाता है, पर पर्याय में द्रव्यगुण व छह द्रव्य प्रविष्ट नहीं हो जाते। उसी तरह कृष्णज्ञान की पर्याय में भी ‘यह में हूँ’ – ऐसे ध्वनि के अस्तित्व का और ‘यह में नहीं
हूँ - ऐसे रागादि का ज्ञान आ जाता है, पर रागादि पदार्थ ज्ञान की पर्यावरण के स्वभाव नहीं करते भिन्न ही रहते हैं। इस प्रकार स्व-स्वरूप में एकाग्र होकर परिणम करते हुये ज्ञानी के स्वरूप ज्ञान में रागादि परभाव अपने त्रिकाली स्वभाव से भिन्न ही भासित होते हैं।

ज्ञानी कहते हैं - पर्यावरण में प्रगट होते हुये ये विविध सूचारुभाव भाव ‘में नहीं हूँ’ क्योंकि वे सब मेरे लिए परद्रव्य हैं। - ऐसा में जानता हूँ। अन्तर में शुद्ध चेतन्यस्वभाव के आश्रय से प्रगट निर्मल रत्नत्रय की परिणाम मेरे लिए ‘स्व’ द्रव्य है, रागादि भाव ‘पर’ द्रव्य है।

अहा ......! जिस भाव से तीर्थकर नामकर्म का बंध होता है, ऐसी षोडसकारण भावनाएँ भी मेरे लिए पर द्रव्य हैं - ऐसा कहते हैं। कर्मप्रकृति तो अजीव पर है ही, परंतु जो व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प उत्पन्न होता है, वह भी मेरे लिए अजीव-परचीज है - ऐसा कहा है। समझ में आया ......?

अब आगामी कथनका सूचक श्लोक कहते हैं :-

(अनुपुरुष है)

अब आगामी कथनका सूचक श्लोक कहते हैं :-

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतेवपराधवान्।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संबृतो यति: ॥ १८६ ॥

श्लोकार्थ - [परद्रव्यग्रहं कुर्वन्] जो परद्रव्यको ग्रहण करता है [अपराधवान्] वह अपराधी है [बध्येत एव] इसलिए बन्धमें पड़ता है, [स्वद्रव्ये संबृतः यति: ] और जो स्वद्रव्यमें ही संबृत है (अर्थात् जो अपने द्रव्यमें ही गुप्त-मान है - संतुल्य है, परद्रव्यका ग्रहण नहीं करता) ऐसा यति [अपराध:] निरपराधी है [न बध्येत] इसलिए बंधता नहीं है॥ १८६ ॥

कलश १८६ पर प्रवचन

परद्रव्य अर्थात् ब्रत, तप, भक्ति, दया, दान आदि परभावों को जो अपने मानकर ग्रहण करता है, वह अपराधी है। देव-शास्त्र-मुरु की श्रद्धा का राग,
कलश १८६

शास्त्र स्वाध्याय का राग और पाँच महात्र, पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि 
व्यवहार रत्नय के राग को धर्म जीव परद्रव्य जानते हैं। उस राग को अपना 
मानना अपराध है और ऐसा अपराधी जीव बन्धन में पड़ता है। भाई! जितने 
व्यवहार के विकल्प उत्पन्न होते हैं, वे सब पद्रव्य हैं। उन्हें जो भला और 
स्व-द्रव्य जानता है, वह अपराधी है, चोर है।

अब कहते हैं कि जो स्वद्रव्य में ही संबूत है – ऐसा यति निरपराधी है। 
इस कारण वह बेंधता नहीं है।

अहाँा "....." जो मुनिराज स्वद्रव्य में ही संतुष्ट रहकर अपने स्वरूप में ही 
रमते हैं, वे निरपराधी हैं। जो परद्रव्य व परभाव को नहीं चाहते, किन्तु 
नित्यानन्द-सहजानन्दस्वरूप स्वद्रव्य में ही गुप्त होकर त्रृप-त्रृप रहते हैं, वे 
निरपराधी हैं। इस कारण उन्हें बन्ध नहीं होता।

कुछ लोग कहते हैं कि – भाई! वर्तमान में शुद्ध उपयोग तो है नहीं, 
इसलिए वर्तमान में तो पुण्य ही धर्म है। उनसे आचार्य कहते हैं कि भाई! तू 
यह क्या कह रहा है? शुद्धप्रयोग नहीं है तो क्या पुण्य ही धर्म हो सकता है? 
यहाँ तो शुभभावों को परद्रव्य कहा है और इसे ग्रहण करने को अपराध कहा 
है। यह तो बन्धन है। अरे भाई! पुण्य करके तो तू अनन्त बार नवमी ग्रैवेयक 
तक गया, पर भब्ब्रमण नहीं मिटा।

अहा! परद्रव्य को, पुण्य को अपना मानना यह तो अपराध है और इसकी 
सजा चार गति में जन्म-मरण रूप जैल है।

प्रश्न – यदि शुभभावों को धर्म व धर्म का कारण नहीं मानेंगे तो फिर 
कोई पूजा-पाठ क्यों करेगा? मंदिर भी क्यों बनायेगा और प्रतिमा भी क्यों 
पदरायेगा?

उत्तर – भाई! आप चिन्ता क्यों करते हो? मंदिर और प्रतिमा तो 
अपने-अपने स्वसमय में, स्वयं की, तत्समय की योग्यता से बनते हैं; उन्हें 
बनाता ही कौन है? कोई नहीं बनाता। लोग तो झूठा अभिमान ही करते हैं।
परद्रव्य की क्रिया कौन कर सकता है? और धर्मात्मा को धर्मायतन बनाने का राग आये बिना रहता नहीं है। अतः जब उनके बनने का काल आता है तो निमित्त रूप में धर्मात्मा भी बनाने के विकल्प में तैयार रहते हैं, परंतु राग के विकल्प हैं अपराध ही। यह विकल्प आना निरपराध दशा नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि पर द्रव्यों को - व्यवहार के विकल्पों को जो ग्रहण ही नहीं करते, वे यति निरपराधी हैं। मुनिराजों को व्यवहार के विकल्प आते हैं, पर उनका मुनियों को बहुमान नहीं है। वे इससे लाभ भी नहीं मानते और इन्हें अपना भी नहीं मानते। अहा.....! ऐसे मुनिराज निरपराधी हैं। इन्हें बन्ध नहीं होता। जो अल्पबन्ध होता भी है, उसे स्वभाव की दृष्टि की मुख्यता में गिना नहीं जाता, क्योंकि धर्मों इसे परद्रव्य जानता है।
समयसार गाथा ३०१-३०३

भेयादी अवराहे जो कुज्जिरे सो ४ सिंक्रितो भयंड ।
मा बज्ज्रोजङ्के के स वि चौरी ति जाणंक वियरंतो ॥३०१॥
जो जु कुज्जिरे अवराहे सो ग्रुंजको द्व जाणंक भयंड ।
जा मि तसस बज्ज्रोजङ जे चिता उस्थजड़ रय ॥३०२॥
एवमि सावराहे बज्ज्रासी अहं तु सिंक्रितो चेदा ।
जइ पुण ग्रुंजको ग्रुंजकोहँ ण बज्ज्रासी ॥३०३॥

स्तेयादीनपराधानुः यः करोति स तु शाखितो भयंडत ।
मा बध्ये केनापि चौर इति जने विचरन ॥३०१॥
यो न करोत्यपराधानुः स निरश्चंकस्तु जनपदेः भयंडत ।
नापि तस्य बधु यविज्ञतोपदते कदाचिति ॥३०२॥
एवमि सावराहे बध्येहः तु शाखितशचैतियत ।
यदि पुरसिरपराधास्ति निर्शाकोहँ ४ बध्ये ॥३०३॥

यथाश लोके ४ एव परद्वद्ग्राहणालक्षणापाराहे करोति तस्यैव
बंधभन्तो सांभवति, यस्तु तेन न करोति तस्य सा ४ सांभवति; तथातापि य
एवाशुद्धतेऽस, एव द्वद्ग्राहणालक्षणापाराहे करोति तस्यैव बंधभन्तो
सांभवति, यस्तु शुद्धः संस्त म न करोति तस्य सा ४ सांभवपानि नियमः। अतः
सर्वथा सर्वपरकोयवाकाव्यपारिहारण शुद्ध आत्मा गृहीतत्, तथा सत्येव
निर्पपराधामात्।

अपराध चौरान्दिक दरि जो पुरस्ते ये शाखित रहें ।
कि चौर है यह जानकर कोई मुझे ना बांध लें ॥३०१॥
अपराध जो करता नाहीं निशांक जनपद में रहें ।
बंध जाँहा ऐसी कभी चिता न उसके चित रहें ॥३०२॥
अपराधी जिय में बधूँगा इसतरह नित शाखित रहें ।
पर निर्पपराधी आत्मा भयरहित है निशांक है ॥३०३॥

गाथार्थः - [ यः ] जो पुरस्ते [ स्तेयादीन् अपराधानुः ] चौरी आदिके

टीका — जैसे इस जगतमें जो पुरुष, परद्रव्यक ग्रहण जिसका लक्षण है ऐसा अपराध करता है उसीको बन्धकी शंका होती है और जो अपराध नहीं करता उसे बन्धकी शंका नहीं होती, इसप्रकार आत्मा भी अशुद्ध वर्तता हुआ, परद्रव्यक ग्रहण जिसका लक्षण है ऐसा अपराध करता है उसीको बन्धकी शंका होती है तथा जो शुद्ध वर्तता हुआ अपराध नहीं करता उसे बन्धकी शंका नहीं होती — ऐसा नियम है। इसलिए सर्वथा समस्त परकीय भावोंके परिहार द्वारा (अर्थात् परद्रव्यके सर्व भावोंको छोड़कर) शुद्ध आत्माको ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने पर ही निरपराधता होती है।

भावार्थ — यदि मनुष्य चौरी आदि अपराध करे तो उसे बन्धनकी शंका हो; निरपराधको शंका क्यों होगी? इसप्रकार यदि आत्मा परद्रव्यका ग्रहणरूप अपराध करे तो उसे बन्धकी शंका अवस्थ होगी; यदि अपनेको शुद्ध अनुभव करे, परका ग्रहण न करे, तो बन्धकी शंका क्यों होगी? इसलिए परद्रव्यको छोड़कर शुद्ध आत्माको ग्रहण करना चाहिए। तभी निरपराध हुआ जाता है।

गाथा ३०१ से ३०३ एवं टीका पर प्रवचन

देखो, कहते हैं कि आत्मा भी अशुद्ध-रागरूप वर्तता हुआ अपराधी है। अशुद्धता परद्रव्य है। इसकारण परद्रव्य में प्रवर्तन करता हुआ जीव अपराध
समयसार गाथा ३०१-३०२

करता है। दया, दान, भक्ति आदि के भाव परद्रव्य हैं और उनमें एकत्वबुद्धि का होना, इन्हें अपने भाव मानना अपराध है।

दुनिया में जो छह-छह माह के उपवास करते हैं न? और उनके महोत्सव मनाते हैं, जुलूस निकालते हैं, आचार्य कहते हैं कि इन्हें करने में धर्म होना बहुत दूर **** इनमें जो एकत्वबुद्धि वर्तती है, ये मैंने किये और इससे मुझे धर्म का लाभ है - ऐसा मानना अपराध है। गजब बात है न?

अहाहा ****! आत्मा चैतन्य प्रकाश का पुंज है, उसे छोड़ पुण्य-पाप के भावों को अपना मानक जो प्रवर्तन करते हैं, वे गूढ़ हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, अपराधी हैं - ऐसा कहते हैं।

अहा ****। अरहंत भगवान को जिसमें से अनन्त ज्ञान व अनन्त आनन्द प्रगट होता है - ऐसी ज्ञान व आनन्द की शक्ति प्रत्येक आत्मा में पूर्ण पड़ी है। वह कहीं बाहर से प्रगट नहीं होती। जो अन्दर में शक्ति रूप से विद्यमान है, वही अरहंत दशा में प्रगट होती है।

पंचासिस्तिकाय में जहाँ यह सिद्ध किया है कि - द्रव्य गुण व पर्याय - तीनों एक द्रव्य के हैं, अन्य द्रव्य से भिन एक सत्ता है - वहाँ ‘‘द्रव्यति इति द्रव्यम्’’ जो द्रव्य होता है वह द्रव्य - ऐसा कहा है। वहाँ यह बताना चाहते हैं कि - अशुद्ध पर्याय भी स्वर्ण द्रव्य से द्रव्यित होती है। वहाँ पर्याय द्रव्य की है - ऐसा एक अस्तित्व (सत्ता) सिद्ध करने का उद्देश्य है। जिस तरह समुद्र तरंग उठती है, वह समुद्र की है, उसी तरह द्रव्य में जो पर्याय उठती है, वह द्रव्य की है। पंचासिस्तिकाय गाथा २७ में जहाँ यह आता है कि राग-द्वेष का कर्ता आत्मा है, वहाँ विकार आत्मा की पर्याय में होता है - ऐसा बताया गया है।

पर ध्यान रहे, जहाँ अध्यात्म की दृष्टि करानी हो, द्रव्यदृष्टि से बात कही गई हो, वहाँ ऐसा आता है कि - पर्याय द्रव्य में नहीं है और वह द्रव्य से उत्पन्न नहीं होती; पर्याय का कर्त्ता द्रव्य नहीं, बल्कि पर्याय स्वर्ण पर्याय से उत्पन्न होती है।
परमात्मप्रकाश गाथा ६८ में ऐसा आया है कि – त्रिकाली आनंदस्वरूप प्रभु आत्मा ही एक परसंर्थ बस्तु है। वह आत्मा मोक्षमार्ग आदि पर्यायों का कर्ता नहीं है। जहाँ शुद्ध द्रव्य की दृष्टि करानी हो, वहाँ कहते हैं कि सुन! तेरे अन्दर जो नित्यानंद प्रभु विराजता है, वह कभी भी पर्याय को नहीं करता। आत्मा तो आनंदकन्द सच्चिदानन्द प्रभु स्वभाव से सिद्ध सदृश है। जिस तरह भगवान सिद्ध में राग-द्रुष्य नहीं; उसी तरह भगवान आत्मा में – त्रिकाली द्रव्य में राग-द्रुष्य नहीं है। यदि इसमें स्वभावतः राग-द्रुष्य हों तो कभी नष्ट ही नहीं हो सकेंगे।

प्रश्न – एक और रागादि का कर्ता कहते हो और तुरन्त बाद दूसरी और अकर्ता कहने लगते हो – यह बात कुछ समझ में नहीं आती?

उत्तर – आचार्य कहते हैं राग में वर्तता, राग में एकत्व करता या रागादि का कर्ता माननेवाला जीव मिथ्यादृष्टि है और शास्त्र में उसे रागादि का कर्ता कहा जाता है। तथा ज्ञानी के रागादि में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व व भोक्तृत्व ही नहीं; अतः वह विकार का अकर्ता ही है। जहाँ जो अपेक्षा हो, उस कथन को यथार्थ समझना चाहिए। अपेक्षा से यथार्थ बात समझ ले तो विरोध उत्पन्न नहीं होता।

भगवान का निरूपित मार्ग तो ऐसा ही है। इसमें कोई क्या कर सकता है?
वस्तुस्थिति ही ऐसी है। भगवान ने कुछ किया नहीं है। उन्होंने तो जैसी वस्तुस्थिति है वैसी जानी है और वैसी ही दिश्यत्वनिम में प्रगट हो गई है।

भगवान कहते हैं कि – जो कोई भी जीव अपने शुद्ध ज्ञान-दृष्टि स्वभाव को छोड़कर पुण्य परिपाय में (व्यवहार में) अपने से वर्तता है, वह अपराधी है और उसे स्वयं शंका होती है कि में बङ्धता हूँ। ऐसी शंका वाला स्वयं बन्धन में पड़ता ही है।

परन्तु जो शुद्ध प्रवर्तन करता हुआ अपराध नहीं करता, उसे बंधन की शंका ही नहीं होती। अहाँ एक्षणनंद स्वभाविक प्रभु एक शुद्ध चिन्मात्र आत्मा हूँ! जो ऐसी अनुभवरूप वर्तमान दशा में वर्तता है, वह अपराधी नहीं है। ऐसे आत्मा का बन्धन की शंका नहीं होती – ऐसा नियम है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com
अब कहते हैं कि – उपयुक्त सर्व परभावों की दृष्टि छोड़कर शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना, शुद्ध आत्मा में ही दृष्टि स्थिर करना, उसे ही ज्ञान का ज्ञेय बनाना, उसी में लीनता करना, क्योंकि तभी निरपराध दशा होती है।

जीवों की दया का जो विकल्प आता है, उसे यहाँ परदृश्य कहा है, वह परभाव है और उसे ग्रहण करना अपराध है। बापू! पर की दया तो कोई पाल ही नहीं सकता। परजीव तो अपनी आयु से बचते हैं एवं आयु के क्षीण होने पर मरते हैं। किसी के बचाने से कोई आज तक बचा ही नहीं है फिर भी जो ऐसा मानता है कि में जीवों को बचा सकता हूँ। पर यह मान्यता मिथ्यात्व है।

यद्यपि परजीवों को कोई बचा नहीं सकता; परन्तु बचाने का भाव ज्ञानियों को भी आता अवश्य है। लेकिन ज्ञानी उसे ग्रहण नहीं करता; अपना नहीं मानता; क्योंकि वह ऐसा जानता है कि परभाव का ग्रहण अपराध है। यदि वह परभाव को अपना मानक चर्चन करे तो वह नियम से मिथ्यादृष्टि है।

जितने भी दया, दान, ब्रत, भक्ति आदि के शुभ विकल्प उठते हैं, वे सब परदृश्य हैं; परभाव हैं; वे आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। ‘उन सर्व परभावों का सर्वथा परिहार करके’ इस वाक्य में सर्व व सर्वथा – ये दो शब्द आये हैं। इनका अर्थ यह है कि समस्त शुभाशुभ परभावों का सर्वथा लक्ष्य छोड़कर निर्विकल्प शुद्ध ज्ञानानन्द-स्वरूपी आत्मा को जानना, अनुभव करना तथा इसी में दृष्टि लगाकर स्थिर होना। यही शुद्ध आत्मा का ग्रहण है और यही निरपराध दशा है।

यहाँ भावार्थ में कहते हैं कि – जो चोरी आदि अपराध करता है, उसे भय होता है कि – ‘मुझे कोई बन्धन में डालेगा’, निरपराधी को भय का क्या काम? जो निरपराध है, वह तो निर्भय ही है; उसे बन्धन का भय नहीं होता।

इसप्रकार जो जीव परभावों को – शुभाशुभ राग को ग्रहण करता है तो उसको बंध की शंका होती ही है। तथा जो स्वयं को शुद्ध अनुभव करता है, पर को ग्रहण नहीं करता तो उसको बन्धन की शंका नहीं होती।

इसलिए सर्व शुभाशुभ राग का भी लक्ष्य छोड़कर अपने शुद्ध-एक-चैतन्य भाव को ग्रहण करने से निरपराध होते हैं। यह है निरपराध होने की रीति।•
समयसार गाथा ३०४-३०५

को हि नामायमपराधः?

संसिद्धराधसिद्धं साधितमाराधिं च एयतु।
अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवाराधो ॥ ३०४॥
जो पुणं णिराराधो चेदा णिस्संकों उ सो होइ।
आराहणाइ णिचिं वदेइ अहे ति जारणतो ॥ ३०५॥

संसिद्धराधसिद्धं साधितमाराधिं चेकार्थम्।
अपगताधो यः खलु चेतियत स भवत्यपराधः ॥ ३०४॥
यः पुनिनरपराधशेतियता निश्चंकितस्तु स भवति।
आराधनया नित्यं वर्तते अहमति जानन् ॥ ३०५॥

परद्रव्यपरिहारणं शुद्धस्यात्मनं: सिद्धः साधनं वा राधः। अपगतो
राधो वस्य चेतियतु: सोपराधः। अथवा अपगतो राधो वस्य भावस्य
सोपराधः, तेन सह वशेष्यतियता वर्तते स सापराधः। स तु
परद्रव्यग्रहणसद्वैनेन शुद्धात्मसिद्धसद्वैवाद्वधशंकाःसब्वे सति
स्वयमशुद्धत्वादनाराधक एव स्थात। यस्तु निरपराधः स
समग्रपरद्रव्यपरिहारणे शुद्धात्मसिद्धसद्वैवाद्वधशंकाया असंब्वेसति
उपयोगीक्लक्षणशुद्ध आत्मक एवाहिमति निर्दैन्वत् नित्याशेन
शुद्धात्मसिद्धिलक्षणाराधनया वर्त्तमानत्वादाराधक एव स्थात्।

अब प्रश्न होता है कि यह ‘अपराध’ क्या है? उसके उत्तर में अपराध
का स्वरूप कहते हैं -

साधित अराधित राध अर संसिद्धि सिद्धि एक है ।
बस राध से जो रहित है वह आत्मा अपराध है ॥ ३०४॥
अपराध है जो आत्मा वह आत्मा निष्क्रम है।
‘में शुद्ध हूँ’ - यह जानता आराधना में रत रहें ॥ ३०५॥

गाथार्थ - [ संसिद्धराधसिद्धं ] संसिद्धि, *राध, सिद्ध [ साधितम्
आराधितं च ] साधित और आराधित - [ एकार्थम् ] ये एकार्थवाची शब्द हैं;
राध = आराधना; प्रस्तात; कृपा; सिद्धि; पूर्णता; सिद्ध करना; पूर्ण करना।
समयसर गाथा ३०४-३०५


‘जो शुद्ध आत्मा है सो ही में हूँ’ ऐसा जानता हुआ [ आराधनया ] आराधना से [ नित्यंचरते ] सदा वर्तता है।

टीका — परद्रव्य के परिहार से शुद्ध आत्मा की सिद्धि अथवा साधन सो राध है। जो आत्मा ‘अपगतराध’ अर्थात् राधरहित हो वह आत्मा अपराध है।
अथवा (दूसरा समासविशेष इस्प्रकार है:) जो भाव राध रहित हो वह भाव अपराध है; उस अपराधयुक्त जो आत्मा वर्तता हो वह आत्मा सापराध है। वह आत्मा, परद्रव्य के ग्रहण के सद्भाव द्वारा शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभाव के कारण बन्ध की शंका होती है इसलिये स्वयं अशुद्ध होने से, अनाराधक ही है। और जो आत्मा निरपराध है वह, समग्र परद्रव्य के परिहार से शुद्ध आत्मा की सिद्धि के सद्भाव के कारण बन्ध की शंका नहीं होती इसलिये ‘उपयोग ही जिसका एक लक्षण है ऐसा एक शुद्ध आत्मा ही में हूँ’ इस्प्रकार निश्चय करता हुआ शुद्ध आत्मा की सिद्धि जिसका लक्षण है ऐसी आराधनापूर्वक सदा वर्तता है इसलिए, आराधक ही है।

भावार्थ — संसिद्धि, राध, सिद्धि, साधित और आराधित इन शब्दों का एक ही अर्थ है, यहाँ शुद्ध आत्मा की सिद्धि अथवा साधन का नाम ‘राध’ है।
जिसके वह राध नहीं है वह आत्मा सापराध है और जिसके वह राध है वह आत्मा निरपराध है। जो सापराध है उसे बन्ध की शंका होती है इसलिये वह स्वयं अशुद्ध होने से अनाराधक है। और जो निरपराध है वह निश्चं होता हुआ अपने उपयोग में लीन होता है इसलिये उसे बन्ध की शंका नहीं होती, इसलिये ‘जो शुद्ध आत्मा है वही में हूँ’ ऐसे निश्चयपूर्वक वर्तता हुआ सम्यगदर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के एक भावरूप निश्चय आराधना का आराधक ही है।
गाथा ३०४-३०५ एवं उनकी टीका पर प्रवचन

अहा .... अनादि से जीवों को पुण्य-पाप भावों की सिद्धि थी। 'पुण्य-पाप का विकार ही में हूँ' - ऐसा इसे मिथ्यात्मारूप अपराध का सेवन हो रहा था।

अब जब इसी आत्मा ने गुलांत खाई, जिन्तन में परिवर्तन किया और ऐसा जाना-माना कि में तो शुद्ध चिदानन्द प्रभु आत्मा हूँ - इसप्रकार जब से इसे यथार्थ ज्ञान, श्रद्धा व रमणता हुई, तबसे उसे पर्यावरण में शुद्ध आत्मा की सिद्धि हो गई। यह साधक भाव ही 'राध' है, आत्मा का सेवन है - ऐसा कहते हैं। इसी का नाम धर्म व मोक्षमाग है।

कहने का तात्पर्य यह है कि - निर्मलानन्द भगवान आत्मा का आश्रय करने से जो अंदर में साधक भाव प्राप्त हुआ, निर्मल रत्नान्त्र प्राप्त हुआ, उसमें भगवान आत्मा की सिद्धि हुई।

भाई! बात बहुत सूक्ष्म है। कभी सुनी नहीं है न? इसलिए कठिन पड़ती है। प्रभु! एक बार सुन तो सही! ब्रह्म करना, तप करना - आदि क्रियायं तो राग हैं और राग अपराध है; अपवित्र, अशुद्ध, बाधक व विराधक भाव है; बंध का कारण है। एक भगवान आत्मा ही परम पवित्र अवधि है। इसे दृष्टि में स्वीकार करना व इसी में लीनता करना ही आत्मा की सिद्धि है।

यहाँ कहते हैं कि - जिसमें आत्मा की सिद्धि होती है, वह साधक भाव ही राध है। वह साधकपना ही भगवान आत्मा की सेवा है।

लोग जन सेवा को प्रभु सेवा कहते हैं; परन्तु भाई ! पर की सेवा कौन कर सकता है ? आत्मा एक उंगली को भी तो अपनी इच्छानुसार ऊँचा-नीचा नहीं कर सकता; क्योंकि वह परद्रव्य है न? जब परद्रव्य का परिणाम करना संभव ही नहीं है तो कौन/किसकी सेवा करे? कैसे करे? अरे! जो राग को सेवा करता है, वह भी अज्ञानी है।

भाई! पर की ओर के लक्ष्य वाले सभी भाव, चाहे वे हिंसादि पाप भाव हों या अहिंसादि पुण्य भाव हों - वे सर्व भाव अपराध हैं। वे भाव बंध साधक
समवसार गाथा ३०४-३०५

हें। जो उन भावों का सेवन करता है, वह बंध का ही सेवन करता है और
उससे संसार की ही सिद्धि व वृद्धि होती है। ऐसा यथार्थ जानकर जो समस्त
परभावों से विमुख होकर आत्मा के समुख होता है, भगवान आत्मा के निम्नलिख
त्त्न, श्रद्धान एवं अन्तर रमणता रूप चारित्र प्रगट करता है, उसको आत्मा की
सिद्धि होती है; आत्मा प्रपात होता है। ऐसी शुद्धात्मा की सिद्धि ही मोक्ष का
साधन है।

अहा थे! जिस तरह कोई व्यक्ति गाय के थन में से दूध दुहता है, उसी
तरह आचार्य अमृतचन्द्र ने भगवान कुंदकुन्दाचार्य की गाथाओं में भरे भावों
को निकाल-निकाल कर हमें समझाने का प्रयास किया है।

भाई! तू सुनो तो सही। भगवान! तू तीन लोक का नाथ प्रभु अन्तर अतीतिनीय
ज्ञान व आनंद से पूर्ण भरा हुआ परमेश्वर है। तथा पर्यावं में जो ये शुभाशुभ
चूँत्तिया उठती हैं, वे अपराध हैं; दुःख हैं। इसलिए परभावों से हटकर उपयोग
kो अन्तरुप्युख करके शुद्ध आत्मा का ज्ञान कर। और दृष्टि को उसी में स्थिर करके
अन्तर रमणता कर। अहा! शुद्ध स्वरूप का ज्ञान-श्रद्धान व रमणता ही आत्मा
की सिद्धि है और यही साधकपत्न है। यही आत्मा को सेवा है।

समवसार गाथा १७-१८ में आया है कि — आवाल-गोपाल सबकी ज्ञान
पर्यावं में आत्मा जानने में आ रहा है। भाई! तेरी ज्ञान की दशा में स्वजैयत
भगवान आत्मा ज्ञात हो रहा है। ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है न? इस कारण
अज्ञानी को भी आत्मा तो ज्ञात हो रहा है। पर क्या करें? उसकी दृष्टि आत्मा
पर नहीं है। उसकी दृष्टि बाहर में पर एवं राग के ऊपर हैं; निमित्तादि पदार्थों
पर है। उसकी बहिरात्मदृष्टि है, इस कारण उसे पर का तथा गांधि का ही
असत्त्व भासित होता है। किंतु जब यही जीव गुलांट मारकर अर्थात् अपनी
�ृष्टि को पलटकर अन्दर में पूर्णनिन्द के असत्त्व को देखता है, तो इसे ऐसा
भासित होने लगता है कि — “में तो शुद्ध चिदानन्दन प्रभु आत्मा हूं।”

इसप्रकार अन्तरदृष्टिविंत को आत्मा की सिद्धि हो जाती है। यही साधक भाव
है और यही राध है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com
अब कहते हैं कि – जो आत्मा राध रहित अर्थात् शुद्धस्वरूप की सेवा से रहित है; साधकपने से रहित है, तथा आत्मा को सिद्धि से रहित है; वह अपराध है। शुद्ध आत्मा के ज्ञान, श्रद्धा व आचरण से रहित है वह आत्मा अपराध है। देखो, जीव कर्म के या निमित के जोर के कारण अपराधी नहीं है; परन्तु साधकपने से रहित है; शुद्ध आत्मा के सेवन से रहित है; इस कारण अपराधी है।

अब कहते हैं कि ‘अथवा जो भाव राध रहित हो, वह अपराध है।’

देखो, पहले वह कह आये हैं कि जो आत्मा राध रहित है, वह अपराध है तथा अब यहाँ ऐसा कहा है कि जो भाव राध रहित है, वह अपराध है। यहाँ आत्मा और भाव को एकार्थवाची लिया है।

अब कहते हैं कि – जो आत्मा राध रहित अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वरूप की सेवा से रहित है, साधकपने से रहित है अथवा आत्मा को सिद्धि से रहित है, वह अपराध है। शुद्ध आत्मा के ज्ञान, श्रद्धा व आचरण से रहित है, वह आत्मा अपराध है। वह अपराध अन्य किसी के कारण नहीं, बल्कि स्वयं के कारण ही है।

इसी ‘अपराध’ शब्द का दूसरे प्रकार के समास विग्रह के अनुसार ‘जो भाव राध रहित हो, वह अपराध है।’

जिन भावों से शुद्ध आत्मा का सेवन न होता हो, वे सर्व रागादि भाव अपराध हैं तथा जिसका भाव अपराध है, वह आत्मा अपराध है।

अब कहते हैं – आत्मा तो शुद्ध चैतन्य प्रभु है। परन्तु जो आत्मा अपने शुद्ध चैतन्य की सन्मुखता का अनादर करने वाले पुण्य-पाप आदि रागभावों में वर्तता है, वह सापराध है। प्रत्येक आत्मा अन्तर में तो अत्यन्त आनन्द स्वरूप भगवान स्वरूप से विराज रहा है, पर अजानी को यह बात समझने में नहीं आ सकती। जिसे अपने शुद्ध अस्तित्व का भान नहीं है, वह अजानी तो पुण्य आदि व्यवहार भावों में मशगूल-एकमेक होकर वर्तता है। अतः वह जीव सापराध है।
अब कहते हैं कि रागादि परभावों के ग्रहण से उन्हें शुद्ध आत्मा की असिद्धि है - अप्राप्ति है। रागादि भाव परद्रव्य हैं और उनका ग्रहण करना अपराध है।

कुछ लोग महाब्रतादि शुभ्रागरुप भावों को चारित्र व धर्म मानते हैं। परन्तु भाई! महाब्रतादि के परिणाम शुभभाव हैं और वे परद्रव्य हैं। परद्रव्य होने से उन्हें ग्रहण करना अपराध है; क्योंकि वह आत्मा को वस्तु नहीं है, परवस्तु है। अतः उसे ग्रहण करना या सेवन करना अपराध है। मुनिराज भी उनें अपराध ही समझते हैं। किसी भी राग को भला जानना-मानना एवं अपना मानना अपराध है।

अहा .....! जो जीव राग की आराधना करता है, वह सापराध है। और उसे आत्मा की सिद्धि का अभाव है।

टीका में 'अनाराधक ही है' - ऐसा जो मूल पाठ है, उसका अर्थ यह है कि किसी भी प्रकार से वह आत्मा का आराधक नहीं है। भाई ! आत्मा के निर्मल ज्ञान, श्रद्धा व आचरण के सिवाय जो भी व्यवहार का क्रियाकाण्ड है, वह सब आत्मा का अनाराधक भाव है।

अब कहते हैं कि जो निरपराध है, उसे समग्र परद्रव्य के परिहार से शुद्ध आत्मा की सिद्धि का सद्भाव है। अहाहा .....! ऐसे धर्मी जीवों को समस्त परद्रव्यों के अर्थात् रागादि भावों के परित्याग को भावना है और शुद्ध आत्मा की सिद्धि का सद्भाव है। धर्मी जीव एक शुद्ध आत्मा में ही लीन वर्तता है, इस कारण उसे बल्कि की शंका नहीं होती।

धर्मी जीव को तो अन्तरंग में यह निरंचय हुआ है कि - उपयोग लक्षण एक शुद्ध आत्मा ही में हूँ, रागादि व्यवहार में नहीं हूँ। रागादि तो परद्रव्य-बन्ध का लक्षण है। भाई! मार्ग तो यह एक ही है। शुभराग-शुभोपयोग भी परद्रव्य है। और उसे ग्रहण करना अपराध है, मिथ्यात्वभाव है।

प्रश्न - जब शुभोपयोग भी परद्रव्य है तो स्त्री-पुत्र परिवार और देहादि को अपना मानने वालों का क्या होगा?
उत्तर - बापू! ये क्या तेरे हैं? भाई! ये तो प्रत्यक्ष परजीव हैं। इन्हें अपना मानना तो महा मिथ्यात्म है, यहाँ तो विशेष समझने की बात यह है कि दया, दान, ब्रत, भक्ति का राग परद्वा है। क्योंकि वह सब निकल जाने वाला भाव है और सिद्ध दशा में निकल ही जायेगा। हे आत्मा! एक ज्ञाता-दृष्टा ही तेरा स्वरूप है। ज्ञाता-दृष्टा के सिवाय अन्य कोई तेरा स्वरूप नहीं है।

अहा! चौथे गुणस्थान में रहते सम्यग्दृष्टि जीव के अंतरंग में ऐसा दृष्टा निरच्छ होता है कि यह उपयोग लक्षण एक शुद्ध आत्मा ही में हूँ। लौकिक जगत जिसे धर्म मानता है - वह शुभराग मेरा लक्षण नहीं है। जगत के जीव कुछ भी मानें, पर रागादि भाव कभी भी मेरे हुए ही नहीं, है वह नहीं, और होंगे भी नहीं। में तो परम पवित्र शुद्ध-एक-उपयोग लक्षण जीव ही हूँ।

अहाहा ! धर्मी सदा ऐसे दृष्टा ज्ञान-श्रद्धान सहित आत्मा को आराधना करता है। जिसकी दृष्टि के विषय में अपना पूर्ण परमेश्वर प्रभु आत्मा वर्तता है, वह जीव आराधक है। हम ही आत्मा का सेवन करने वाला साधक कहा जाता है। में शुद्धियोगमय ही हूँ - जिसे अंतरंग में ऐसा दृष्टा श्रद्धा हुआ है, वह सदा ही आराधक है। भाई ! कभी द्रव्य का आश्रय और कभी राग का आश्रय हो - ऐसा धर्मी का स्वरूप नहीं। धर्मी के तो निरतर एक शुद्ध आत्मद्रव्य का ही आश्रय होता है।

प्रश्न - तो क्या धर्मी के ब्रत, तप, भक्ति, पूजा आदि होते ही नहीं हैं?

उत्तर - कौन कहता है कि धर्मी के ब्रत-तप आदि होते ही नहीं हैं, परन्तु इन्हें वह शुभरागरूप होने से अपराध मानता है धर्म नहीं। उसे जो शुभराग होता है, उसका वह ज्ञाता होता है। राग का मात्र जानता ही है, आदरने लायक नहीं मानता।

आचार्य योगीनुदेव ने तो पुण्य-पाप को एक कोटि में रखते हुए बहुत स्पष्ट लिखा है :-

"पाप तत्त्व को पाप तो जाने सब जग कोय।
पुण्य तत्त्व भी है, कहे अनुभवी वृद्ध कोय।"
अरे भाई! ‘एक उपयोगमय शुद्ध आत्मा ही में हूँ’ – ऐसा यथार्थ श्रद्धान हुए विना ज्ञान च आचरण कहाँ से हो? इसके विना कोरा बाह्य क्रियाकाण्ड तो सब व्यर्थ ही है।

भाई! राग की दृष्टि में वर्तने वाला जीव मर कर कहाँ जायेगा? यह जडू देह तो यहाँ जलकर भस्म हो जायेगी; पर जीव कहाँ जायेगा? सोचा कभी?

अहा.....! जिसने राग को – पुण्यभाव को अपना माना है, वह तो राग के दुःख के वेदन में ही जीयेगा। वह तो चारगति में दुःख के वेदन में ही जीयेगा। तथा जिसको शुद्धतमा की ऐसी प्रतीति हो गई कि ‘मैं तो एक उपयोगमय शुद्ध आत्मा ही हूँ’, वह शुद्ध आत्मा की दृष्टिपूर्वक आराधक हुआ है। वह जहाँ भी जायेगा, वहाँ आत्मा में ही रहेगा।

देखो न! श्रीणिक राजा की आयु पहले मिथ्यात्म दशा में बंध गई थी तो वह मरन करके प्रथम नरक में गये। पर आयु बंध के बाद उन्हें शास्त्रिक सम्यक्तता की प्राप्ति हुई, उससे वे आज देह से नरक में रहकर भी आत्मा से आत्मवासी हैं। वे वहाँ नरक में तीर्थकर नामकर्म की प्रकृति बांध रहे हैं और आने वाली चौकी से पहले तीर्थकर होंगे।

अहा! नरक में हो तो भी सम्प्रूःपुर्ण जीव अपने को शुद्ध चैतन्यस्वरूप सदा उपयोग स्वरूप ही देखता है। वैसा ही श्रद्धान करता है। उसे रागादि परिणाम आते हैं तो भी वह उन्हें आत्मभूत नहीं मानता।

भाई! यह बात पंचमकाल के मुनिवर पंचमकाल के जीवों से कह रहे हैं। जो ऐसा मानते हैं कि यह बात तो बहुत ऊँची है, चौथे काल के जीवों के लिए कही गई है; उनसे कहते हैं कि भाई! चौथे काल से इस सिद्धान्त का क्या सम्बन्ध? आत्मा का कल्याण करने में काल की अपेक्षा नहीं होती। जीव अपने कल्याण के लिए काल का मुँह क्यों ताके? आत्मा के कल्याण में काल की कोई पराधीनता नहीं है।
गाथा ३०४-३०५ के भावार्थ पर प्रवचन

संसिद्धि, राध, सिद्धि, साधित और आराधित शब्दों का अर्थ एक ही है। संसिद्धि अर्थात् सम्पन्न प्रकार से सिद्धि होना; आत्मा जैसा शुद्ध एक-उपयोगमय है, वैसा दृष्टि, ज्ञान व चारित्र में आना, तद्दूप परिणत होना। आत्मा का सम्पन्न ज्ञान, श्रद्धान व चारित्र प्रगट होने पर आत्मा की जो सिद्धि - प्राप्त होती है, वही संसिद्धि है।

श्री जयसेनाचार्य की टीका में ‘संसिद्धि’ का अर्थ ‘राधन’ किया है। मूल में तो ‘राध’ कहा है। भगवान आत्मा चैतन्य महाप्रभु जैसा है, वैसा इसका ज्ञान-श्रद्धान होना और उसी में रमणता रूप चारित्र का प्रगट होना राध है, राधन है। इसे ही आत्मा का आराधन कहते हैं।

अहा ! भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्दन-एक-ज्ञानने-देखने के उपयोग स्वरूप मात्र है। उसका ज्ञान-श्रद्धान करके उसी में स्थिरता करना शुद्ध आत्मा की सिद्धि है। दर्शन-ज्ञान में शुद्ध आत्मा ज्ञात हो गया - यही आत्मा की सिद्धि है और यही ‘राध’ है।

जिसे ऐसा ‘राध’ प्राप्त नहीं है, वह सापराध है तथा जिसको यह ‘राध’ प्राप्त हो गया है, वह निरपराध है।

देखो ! भगवान की पूजा, भक्ति आदि का जो राग है, वह पूर्णता प्राप्त न होने तक धर्मी के जीवन में आये बिना नहीं रहता। पर धर्मी की दृष्टि उस राग पर नहीं रहती; वह उसे उपादेय नहीं मानता। अशुभ से बचने के लिए वह शुभराग का भाव उसे आता ही है।

देखो ! जो सापराध है, उसे बंध की शंका होती है। इसलिए वह स्वयं अशुद्ध है। इस कारण वह अनाराधक है। राग-व्यवहार है; वह अशुद्ध है और उस अशुद्धता को जो अपनी वस्तु मानता है, वह अशुद्धता का आराधक है। इसलिए वह आत्मा का अनाराधक है।

जो निरपराध है, वह निष्कांश है। वह अपने उपयोग में लीन होता है। धर्मी अपने ज्ञान-दर्शननमय आत्मा में लीन है। उसे जो राग आता है, वह उसे मात्र
जानता है। राग है, इसलिए जानता है - ऐसा नहीं; अपने सहज सामथ्र्य के द्वारा ही ज्ञान राग को जानता है। स्व को और पर को जानना ज्ञान की सहज सामथ्र्य है।

लोकालोक है, इसलिए केवलज्ञान उसे जानता है - ऐसा नहीं है। केवलज्ञान को केवलज्ञान रूप होने के लिए लोकालोक की पराधीनता नहीं है। केवलज्ञान की पर्याय स्वयं से ही है। वह पर्याय सहज अपने सामथ्र्य से प्रगट हुई है। लोकालोक तो अनादि से है और केवलज्ञान तो स्वाभाव से नया प्रगट होता है। अतः केवलज्ञान व लोकालोक में मात्र ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध है, अन्य कुछ भी नहीं।

यहाँ कहते हैं - ‘धर्मी निःशंक होकर अपने उपयोग में लीन होता है उसे बंध की शंका नहीं होती।’ अहा...’शुद्ध आत्मा ही मैं हूँ’ - ऐसे निःशंकपूर्वक वर्तता हुआ वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र व तप के एकभाव रूप निःशंक आराधना का आराधक ही है। देखो, निःशंक आराधना एकभावरूप-बीतरागभाव रूप, आनन्दभाव रूप-चैतन्यभाव रूप है। आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्र व तप - ये सब बीतरागभाव रूप-एकभावरूप हैं।

अहा ...! शुद्ध चैतन्य में लीन होने रूप प्रवर्तना तप है और ‘उपवसति इति उपवासः’ - आत्मा के समीप बसना उपवास है। लो, इसके सिवाय शेष सब अपवास अर्थात मठवास है।

इस प्रकार जिसके निर्मल रस्त्र रूप प्रगट हुआ है, वह धर्मी जीव एकभाव रूप निःशंक आराधना का आराधक ही है।

(मालिनी)

अन्वरतमन्तबध्यते सापराधः
स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु ।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्मापराधो
भवति निरपराधः: साधु शुद्धात्मसेवी || १८७ ||

कलश १८७ पर प्रवचन

सापराध अर्थात् शुद्ध एक नित्यानन्द-चिदानन्द प्रभु आत्मा को छोड़कर जो पुण्य-पाप के भावों को अपना मानता है और इनसे अपना लाभ मानता है— ऐसा आत्मा अनन्त-अनन्त पुनर्परमाणुरुप से संईत्ता है। जो वस्तु अपनी नहीं है, उसे अपनी मानना चाहें है, अपराध है। ऐसा काम करने वाला नियम से बन्धन में पड़ता है।

निरपराध अर्थात् जिसने रागरहित अपने ज्ञानानन्द आत्मा को दृष्टि की, उसी में ही जो समता है, वह निरपराध है, उसे कभी भी बन्धन नहीं होता। अहाहा एक! अशुद्ध उपयोग रूप पुण्य-पाप के भाव से रहित जो शुद्ध उपयोगी है, वह आत्मा-निरपराधी है। उसे बंध का कभी स्पर्श नहीं होता। धर्मः जीव अपनी चेतन स्वरूप शुद्ध-चेतन सत्ता स्पर्श करता है, अनुभव करता है; उसे बंध का स्पर्श नहीं होता।

देखो, दया-दान-पूजा-भक्ति आदि शुभराग का सेवन भी अशुभराग की भोंति ही अशुद्ध का सेवन है। इसप्रकार स्वयं को अशुद्ध सेवता हुआ आत्मा सापराधी है।

अहो! संतों ने बहुत ही स्पष्ट रूप से घोषणा की है। जो आत्मा पुण्य-पाप के अशुद्ध भावों का सेवन करता है, वह अपराधी है और वह निरन्तर
कलश १८७

कर्मों से बैठन्ता है। तथा जो आत्मा पुण्य-पाप से रहित, शुद्ध, एक, चैतन्य उपयोगमय, पूर्णज्ञान, पूर्णआनन्द आदि अनन्त शक्तियों से भरा है, सदा एकरूप, भूतार्थ, शुद्ध चिद्वचन आत्मा को समीचीनता से जानकर उसकी सेवा करता है, वह निरपराधी है। उसे बन्ध नहीं होता। वह बन्धन का, राग का स्पर्श नहीं करता।

गाथा ३०६ व ३०७ की उत्थानिका

नन्दु किमनेन शुद्धात्मोपासनाप्रयासन ? यतः प्रतिक्रिमणादिनैव निरपराधो भवत्यात्मा; सापराधस्याप्रतिक्रिमणादेस्तदनपोहरकलेन विषुकुम्भ्य तस्मात प्रतिक्रिमणादेस्तदनपोहरकलेनामृतकुम्भ्य नावत। उवं च व्यवहाराराचारस्ये – अप्पिक्रिमणमपदिशसरणं अप्पिधिहारो अधारणा चेव। अणियती य अप्णियागरहसोहो य विसकुम्भो ॥ १ ॥ पदिक्रिमण पदिशसरण परिहारो धारणा गणियती य। पिण्डागरहासोही अद्वितों अम्बिकायो दु ॥ २ ॥

टीका – (यहाँ व्यवहारन्यायलक्ष्यी अर्थात् व्यवहारनय को अवलोकन करनेवाला तर्क करता है कि:—) ‘शुद्ध आत्मा को उपासना का प्रयास करने का क्या काम है? क्योंकि प्रतिक्रिमण आदि से ही आत्मा निरपराध होता है; क्योंकि सापराध के जो अप्रतिक्रिमण आदि हैं, वे अपराध को दूर करनेवाले न होने से विषुकुम्भ हैं, इसलिए जो प्रतिक्रिमणादि हैं, वे अपराध को दूर करनेवाले होने से अमृतकुम्भ हैं। व्यवहार का कथन करनेवाले आचारसूत्र में भी कहा है कि:–

अप्पिक्रिमणमपदिशसरणं अप्पिधिहारो अधारणा चेव।
अणियती य अप्णियागरहसोहो य विसकुम्भो ॥ १ ॥
पदिक्रिमण पदिशसरण परिहारो धारणा गणियती य।
पिण्डागरहासोही अद्वितिहो अम्बिकायो दु ॥ २ ॥

अर्थ – ‘‘अप्रतिक्रिमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्ध’’ यह (आद प्रकार का) विषुकुम्भ है॥ १ ॥
उत्थानिका पर प्रवचन

यहाँ व्यवहारनव का अवलंबन लेनेवाला प्रश्न करता है कि शुद्ध आत्मा की उपासना का प्रयास करने का क्या काम है ? क्यों करें शुद्धात्मा की उपासना का श्रम ? जब प्रतिक्रिमण आदि से ही आत्मा निरपराध होता है। सापराध के जो अप्रतिक्रिमण है, वह अपराध को दूर करने वाला नहीं होते से विषकुंभ है तथा प्रतिक्रिमणादि अपराध को दूर करने वाले होते से अमृतकुंभ है।

देखो ! व्यवहार न्यावलम्बी यह कुर्तक करता है कि अज्ञानी को जो अप्रतिक्रिमण रूप अशुभाव है, वह विषकुंभ है; क्योंकि वह अपराध दूर करने वाला नहीं है। परन्तु जो शुभभावरूप प्रतिक्रिमण है, वह अमृतकुंभ है; क्योंकि वह अपराध को दूर करनेवाला है। शुभयान की क्रिया से अप्रतिक्रिमणादि जो अशुभाव - पाप भाव हैं, उसका निरोध होता है। शुभराग द्वारा अशुभाव से पीछे हटना, पाप से छूटना अमृत है - ऐसा शास्त्र में कहा है। इसप्रकार जब शुभभाव से आत्मा निरपराध होता है तो फिर शुद्धात्मा की आराधना से क्या लाभ ? ऐसी अज्ञानी की दलिल है पर यह उसका कुर्तक है।

वस्तुतः वात यह है कि जिस धर्मी जीव को ऐसी यथार्थ श्रद्धा हुई कि ‘में ज्ञान व आनन्द का कंद प्रभु आत्मा हूँ, और ये दया-दान आदि के विकल्प

1. प्रतिक्रिमण = कृत दोषों का निराकरण।
2. प्रतिसरण = सम्यकस्वादिगुणों में प्रेरण।
3. परिहार = मिथ्यावथ्यारागदिदोषों का निवारण।
4. धारणा = पंचनमस्कारारूपसंधि, प्रतिमादि द्रव्यों के आलंबन द्वारा चिन्ता को स्थिर करना।
5. निवृत्ति = बाह्य मित्र, भाई, विद्वानों द्वारा इच्छा में प्रवर्तमान चिन्ता को हटाना।
6. निन्दा = आपमात्रोप्रवृत्तकोपेक्षों का प्रगट करना।
7. गर्गिल = गुरूर्वस्ती से दोषों का प्रगट करना।
8. शुद्धि = दोष होने पर प्रार्थित लेकर विशुद्धि करना।
कलश १८७

जो उठते हैं, वे जहर हैं’ – ऐसी स्वाभविक क्रिया के अन्तर्गत श्रद्धावाले धर्मी जीवों के शुभभावों को व्यवहार से शास्त्रों में अमृत कहा है; परंतु जिसे निश्चय से निर्विकल्प अमृत का स्वाद है, उसके राग को व्यवहार से अमृत कहा है। यहाँ व्यवहारार्थियों अज्ञाती कहता है कि – देखो! शुभभारारुप अमृत कहा है न? पर, उसे यह निश्चय नहीं है कि जिसे अन्दर में शुद्धोपयोग रूप अमृत का स्वाद आया है और जिसने शुभभारारुप जहर बनाया कहा है। उसके शुभभारारुप व्यवहार से – उपचार से अमृत कुंभ भी कहा है। अज्ञाती के शुभ राग को तो उपचार भी लागू नहीं पड़ता।

परंतु अज्ञाती अपने पश्चि में समर्थन में आगाम की उन गाथाओं को प्रस्तुत करता है, जिनमें ज्ञाती के शुभभाव रूप प्रतिक्रिया की बात कही है। अप्रतिक्रिया, अप्रतिक्रिया, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्त, अनिवृत्त, अहाँ और अशुद्धि - ये आठ प्रकार के विषयक्षेत्र हैं तथा प्रतिक्रिया, प्रतिशरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्दा और शुद्धि - ये आठ प्रकार के अमृत कुंभ हैं।

प्रतिक्रिया :- पूर्व में किये पार्थिव का निराकरण करने-रूप शुभभावों को प्रतिक्रिया कहते हैं। निश्चय से वस्तु-स्वरूप का अनुभव करने वाले धर्मीपुरुष को ही यथार्थ शुभभाव रूप व्यवहार प्रतिक्रिया होता है। शास्त्र में उपचार से इसे ही अमृत कहा है।

अहा! इसका आधार या पश्चि में लेकर निश्चय दृष्टि वालों से अज्ञाती कहता है कि तुम तो एक त्रिकाली शुद्ध आत्मा की श्रद्धा करते हो, और उसी की सेवा करते हो; पर यह शुभभाव रूप जो व्यवहार प्रतिक्रिया है, वह अशुद्ध से बचता है, अशुभ का नाश करता है, इसलिए फलते इसे करने दो न?

उनसे कहते हैं – भाई! शुभभारारुप प्रतिक्रिया जो ज्ञाती के होता है, वह वास्तव में तो जहर है। अरे! इसे तो उपचार से अमृत कहा है तथा अज्ञाती को तो उपचार भी लागू नहीं पड़ता। अज्ञाती के तो सचमुच प्रतिक्रिया होता ही नहीं है।
प्रतिसरण :- सम्यक्लवादि गुणों में शुभराग रूप प्रतिसरण है। ‘मैं एक शुद्ध चिन्मात्र हूै’ – ऐसा अनुभव करने रूप विकल्प जो ज्ञानी के आता है, वह प्रतिसरण है। ज्ञानी के ऐसे विकल्पों का उपचार से अमृत कहा है। निश्चय से ये भाव हैं तो जहर, पर निर्मल अमृत रूप परिणति का सहचर जानकर उन्हें उपचार से अमृत कहने में आया है। पर इस कारण उन्हें वास्तव में अमृत नहीं समझ लेना। अज्ञानियों को तो इसका मिथ्या पक्ष हो गया है।

परिहार :- मिथ्यात्मा और राग-द्वे आदि दोषों का निराकरण करने रूप जो शुभभाव है, उसे परिहार कहते हैं। धर्मी के ऐसे शुभभावों को उपचार से अमृतकुंभ कहा है। वास्तव में तो शुभ उपयोग जहर ही है।

धारणा :- णमोकार मंत्र के माध्यम से पंच परमेश्वर का समरण करने रूप शुभभाव धारणा है। रुंच नमस्कार मंत्र, ॐ मंत्र आदि मंत्रों के द्वारा आत्मा-परमात्मा के चिन्तन रूप शुभभाव धर्मी जीवों के होते हैं। उन्हें शास्त्र में उपचार से अमृतकुंभ कहा है। आत्मानुभव की अपेक्षा से वस्तुतः ये शुभ भाव जहर हैं, परंतु इनको आत्मानुभव का सहचर जानकर उपचार से अमृत कुंभ कहा है। अब इस कथन का आधार लेकर या पक्ष करके अज्ञानी यह कहता है कि शुभ से अशुभ मिटता है न। इसलिए प्रथम शुभ करना चाहिए। शास्त्रों में भी इन शुभभावों को अमृत कुंभ कहा है।

इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि वीरग का मार्ग वीरग भाव से उत्पन्न होता है, राग से नहीं। तथापि बाह्य द्रव्य का आलम्बन लेने पर जो शुभभाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें व्यवहार से जिनवाणी में अमृत कुंभ कहा है। चाहे वह बाह्य द्रव्य जिनमें हो, साक्षात् जिनेन्द्र भगवान हो अथवा पंचपरमेश्वर हो पर निश्चय से ये सब जहर हैं। वीरग भाव की प्रगटता के बिना धर्म की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि व पूर्णता कभी भी संभव नहीं है। मंत्र आदि के परावलंबी शब्दों का लक्ष्य छोड़कर स्व-आश्रय से परिणत हुए बिना धर्म की उत्पत्ति नहीं होती।
विनिवृत्ति :- विषय-कषाय रूप अशुभ से हटकर शुभ में आना निवृत्ति है। जिसके अन्दर में शुद्ध निर्णय का अनुभव है, उन धर्मी जीवों को ऐसा शुभस्वभाव होता है और उन भावों को व्यवहार से अमृत कुंभ कहते हैं। स्त्री-कुदुम्ब-परिवार, धन-सम्पत्ति आबूरु आदि के ममत्व रूप पापभावों में वर्तते हुए अपने चित्त को वहाँ से हटाकर धर्मों जो शुभ में आता है, उसके इस उपचार शुभ को अमृत कहते हैं। अज्ञानी का अकेला शुभस्वभाव तो जहर ही है।

जिस तरह चावल की बोरी भी चावल के भाव में तुल जाती है, पर वह बोरी (बारदान) चावल नहीं है। चावल व बोरी दोनों भिन्न हैं। उसी तरह भगवान आत्मा स्वाभविक से प्रगट हुए अतीतिय आनंद का अनुभव करता है, वह धर्म है। तथा जो भूमिकानुसार राग आता है वह धर्म नहीं है। वह चावल-बारदान की भाँति ही आत्मा से भिन्न ही है। उसे धर्म परिणाम का सहचर जानकर उपचार से अमृत कहा है। वस्तुतः है तो वह आत्मधर्म से भिन्न ही।

बापू ! वीतरागता का मार्ग अलोकिक है और वह वीतरागता से ही उत्पन्न होता है। वीतराग स्वरूप-जिनस्वरूप निज आत्मा के आश्रय से जितना वीतराग भाव होता है वह धर्म है, अमृत है और उसमें कमी रहने पर जितना परावलब्धी शुभराग रहता है वह निश्चय से विषकुंभ है, जहर का घड़ा है।

निन्दा - आत्मसाश्री पूर्वक दोषों को प्रगट करना, अशुभस्वभाव आ गया हो तो उसकी निन्दा करना। यह शुभस्वभावरूप निन्दा है। ऐसा भाव समकिती को आता है।

वास्तव में यह भाव अतीतिय आनन्द रूपी अमृत के स्वाद से भिन्न है। तो भी धर्म का सहचर जानकर इस भाव को भी उपचार से अमृत कहा है। पर यह भाव वस्तुतः अमृत नहीं है।

गर्हा - गुरु की साश्री से दोषों को प्रगट करना, स्वयं को जो पापकर्म हुआ हो तो अति निश्चल भाव से गुरु के पास जाकर प्रगट करना, गुरु से कहना शुभस्वभाव रूप गर्हा है। समकिती के ऐसा शुभस्वभाव होता है। इसे उपचार से अमृत कहा है, पर वास्तव में यह धर्म नहीं है।
शुद्धि – जो पापकर्म हुआ हो, उसका प्रायश्चित्त लेने रूप शुभभाव शुद्धि है। ऐसा शुभभाव समकिति को होता है। पर निर्देश से यह धर्म नहीं है।

देखो! इन आठ बोलों को व्यवहार से शास्त्रों में अमृत कहा है। अज्ञानी शिष्य इसी को मुख्य करके ऐसा कहते हैं कि हमें तो पहले अशुभ से बचने के लिए शुभ ही करना चाहिए न? पहले शुभ तो करने दो। शुभ से अशुभ टलता है न?

शिष्य के इसी अभिप्राय के समाधान में आचार्य देव ने निर्देश की प्रधानता से अगली गाथा कही है।

यहाँ कहते हैं कि जो मिथ्यात्म की भूमिका में हैं, वे तो पाप से पीड़ित होकर चारखात में रखड़ने वाले ही हैं; परन्तु जो समकिति हैं, उन्हें भी द्रव्यप्रतिक्रिकमण का शुभभाव आये बिना नहीं रहता; पर वह भाव भी उन्हें बन्ध का कारण होने से हेतु है। इसलिए जब तक पूर्ण केवलज्ञान की दशा की प्राप्ति न हो, तब तक ज्ञान की दशा को भगवान ज्ञायक स्वरूप आत्मा में जोड़ दे और ये बाहर के सब आलम्बन छोड़ दे। क्योंकि इनसे तो राग व बन्ध ही होता है। ज्ञान का ज्ञान में प्रतिष्ठित रहना ही एकमात्र मोक्ष का कारण है। •
समयसार गाथा ३०६-३०७

अत्रोच्ये –

पडळकमणं पडळसरणं परिहारो धारणा गणिती यो।

णिंदा गर्हन सोही अठुविहो होदि विसकुंभो || ३०६||

अप्पडळकमणमप्पडळसरणं अप्परिहारो अधारणा चौव।

अणियत्ती य अणिंदागर्हासोही अमयकुंभो || ३०७||

प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं परिहारो धारणा निवृत्तिश्च ।

णिंदा गर्हन शुक्ला: अय्यविधो भवति विषकुम्भ: || ३०६||

अप्रतिक्रमणमप्रतिसरणमपरिहारोधारणा चौव।

अनिवृत्तिशुच्याच्यानिंदागर्हाशुद्धीरमृतकुम्भ: ॥ ३०७॥

यस्तावद्यश्चानिजनसाधारणोप्रतिक्र मणादि: स शुद्धात्मसिद्ध:-

यवावस्वभावलेन स्वयमेववापराध्यादिविषकुम्भ एव; किं तस्य विचारेऽ? यस्तु

द्रव्यरूप: प्रतिक्रमणादि: स सर्वप्राप्तविषदोषोपकरणसमर्थवेनामृतकुम्भोऽपि

प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणादिविलक्ष्याप्रतिक्रमणादिरूपं तार्कियाौ भूमरमपर्यतः

स्वकार्यकरणासमर्थवेन विपक्षकार्यकारित्वादिविषकुम्भ एव स्वात्।

अप्रतिक्रमणादिरूप तृतीया भूमिक्ष्यु स्वयं शुद्धात्मसिद्धिपतेन सर्वप्राप्त

द्रव्यविषयोध्योषाणां सर्वकालयात् साक्षात्व्यमृतकुम्भो भवतीति व्यवहारेन

द्रव्यप्रतिक्रमणादेशः अमृतकुंभव साधयति। तत्वेय च निरपराधो भवति चेतायिता।

तद्भावे द्रव्यप्रतिक्र मणादिरप्यपराध एव। अत्सृतीय भूमिक्ष्य निरपराधतत्त्वमितिविष्ठुते।

तत्रत्त्वायं एवायं द्रव्यप्रतिक्रमणादि:। ततो मेति मंस्था

यत्प्रतिक्रमणादिदिस्तु श्रुतिस्वायं जयति। किंतु द्रव्यप्रतिक्रमणादनां मुख्यति, अन्यदिपि

प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणादिगोचरप्रतिक्रमणादिरूपं शुद्धात्मसिद्धिलक्षणामतिविष्कर्कं

किमपि कार्यति। वक्ष्यते चात्र्वेत् -- कम्यं ज पुण्यकां सुहासुहमणोयवित्त्वराविष्टसं।

तत्ती गणितत् अप्परं तु जो सो पडळकमण।। इत्यादि।

उपरोक्त तक्ष का समाधान करते हुए आचार्यदेव (निर्मचनय को प्रधानता से) गाथा द्वारा करते हैं :-
प्रतिक्रमण अर प्रतिसरण परिहार निवृत्ति धारणा।
निन्दा गर्भा और शुद्ध अष्टविध विषकुम्भ हैं। ॥ ३०६॥
अप्रतिक्रमण अप्रतिसरण अर अपरिहार अधारणा।
अनिन्दा अनिवृत्यशुद्धि अगर्हा अमृतकुम्भ हैं। ॥ ३०७॥

अन्वयार्थ - [प्रतिक्रमणं] प्रतिक्रमण, [प्रतिसरणं] प्रतिसरण,
[परिहारं] परिहार, [धारणा] धारणा, [निवृत्ति] निवृत्ति, [निन्दा]
निन्दा, [गर्भं] गर्भं [च शुद्धिः] और शुद्धि - [अष्टविधं] यह आठ प्रकार
का [विषकुम्भं] विषकुम्भ [भवति] है (क्योंकि इसलिए कर्त्तृत्व की बुद्धि
सम्भवति है।)

[अप्रतिक्रमणम्] अप्रतिक्रमण, [अप्रतिसरणम्] अप्रतिसरण,
[अपरिहारं] अपरिहार, [अधारणा] अधारणा, [अनिवृत्ति: च]
अनिवृत्ति, [अनिन्दा] अनिन्दा, [अगर्हं] अगर्हं [च एव] और
[अशुद्धिः] अशुद्धि - [अमृतकुम्भं] यह अमृतकुम्भ है (क्योंकि इससे
कर्त्तृत्व का निषेध है - कुछ करना ही नहीं है, इसलिए बन्ध नहीं होता।)

टीका - प्रथम तो जो अज्ञान जनसाधारण (अज्ञानी लोगों को साधारण
ऐसे) अप्रतिक्रमणद्विः हैं वे तो शुद्ध आत्मा को सिद्धि के अभावरूप
स्वभाववाले हैं इसलिये स्वयंमेव अपराधरूप होने से विषकुम्भ ही हैं; उनका
विचार करने का क्या प्रयोजन है? (क्योंकि वे तो प्रथम ही त्यागने योग्य हैं)
और जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमणद्विः हैं वे सब अपराधरूपी विष के दोष को
(क्रमशः) कम करने में समर्थ होने से अमृतकुम्भ हैं (ऐसा व्यवहार
आचारसूत्र में कहा है) तथापि प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणद्विः से विलक्षण ऐसी
अप्रतिक्रमणद्रिपूर्ण तीसरी भूमिका को न देखनेवाले पुरुष को वे
द्रव्यप्रतिक्रमणद्विः (अपराध काटनेरूप) अपना कार्य करने को असमर्थ होने
से विपक्ष (अर्थात् बन्ध) का कार्य करते होने से विषकुम्भ ही हैं। जो
अप्रतिक्रमणद्रिपूर्ण तीसरी भूमि है वह, स्वयं शुद्धात्मा की सिद्धिरूप होने के
कारण समस्त अपराधरूपी विष के दोषों को सर्वथा नष्ट करने वाली होने से,
साक्षात् स्वयं अमृतकुम्भ है और इसप्रकार (वह तीसरी भूमि) व्यवहार से द्रव्यप्रतिक्रियादि की भी अमृतकुम्भत्व साधती है। उस तीसरी भूमि से ही आत्मा निरपराध होता है। उस (तीसरी भूमि) के अभाव में द्रव्यप्रतिक्रियादि भी अपराध ही है। इसलिये, तीसरी भूमि से ही निरपराधत्व है ऐसा सिद्ध होता है। उसकी प्राप्ति के लिये ही यह द्रव्यप्रतिक्रियादि हैं। ऐसा होने से वह नहीं मानना चाहिए कि (निराचरणयका) शास्त्र द्रव्यप्रतिक्रियादि को छुड़ाता है। तब फिर क्या करता है । द्रव्यप्रतिक्रियादि से छुड़ा नहीं देता (– अर्थका नहीं देता, संतोष नहीं मनवा देता); इसके अतिरिक्त अन्य भी, प्रतिक्रिया-अप्रतिक्रियादि से अगोचर अप्रतिक्रियादिरूप, शुद्ध आत्मा की सिद्धि जिसका लक्षण है ऐसा, अति दुःख, कुछ करवाता है। इस ग्रन्थ में ही आगे कहेंगे कि – *कमं जं पुज्वकर्य सुहासिकमेवित्वरित्स्वसिं। ततो नियतदे अपर्यं तु गुरु सो पदिक्रमम॥

(अर्थ :- अनेक प्रकार के विस्तार वाले पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों से जो अपने आत्मा को निवृत्त कराता है वह आत्मा प्रतिक्रिया है। इत्यादि।)

भावार्थ – व्यवहारावलम्बी ने कहा था कि – “लगे हुये दोषों का प्रतिक्रियादिकरने से ही आत्मा शुद्ध होता है, तब फिर पहले से ही श्रुद्धात्मा के आलम्बन का खेद करने का क्या प्रयोजन है? शुद्ध होने के बाद उसका आलम्बन होगा; पहले से ही आलम्बन का खेद निष्फल है।” उसे आचार्य समझाते हैं कि – जो द्रव्य प्रतिक्रियादि से रहित हैं उसके अवलम्बन के विना तो द्रव्यप्रतिक्रियादिक दोषव्यवस्थ ही हैं, वे दोषों के मिटाने में समस्त नहीं हैं; क्योंकि निश्चय की अपेक्षा से युक्त ही व्यवहारनाथ मोक्षमार्ग में है, केवल व्यवहार का ही पश्च मोक्षमार्ग में नहीं है, बन्ध का ही मार्ग है। इसलिये यह कहा है कि – अज्ञानी के जो अप्रतिक्रियादिक हैं सो तो विषकुम्भ है ही; उसका तो कहना ही क्या है? किन्तु व्यवहारचारित्र में जो प्रतिक्रियादिक

* गाथा ३८३-३८५; वहाँ निश्चितप्रतिक्रिया आदि का स्वरूप कहा है।
कहें हैं वे भी निर्वचन रंग से विषकुम्भ ही हैं, क्योंकि आत्मा तो प्रतिक्रिमणादि से रहित, शुद्ध, अप्रतिक्रिमणादिस्वरूप ही है।

समयसार गाथा ३०६-३०७ पर प्रवचन

‘अशुभ से बचने के लिए शुभ तो करना चाहिए न?’ इसके समाधान में निर्वचन रंग की प्रधानता से इन गाथाओं में खुलासा करते हैं।

भाई ! शुभभावों में जिनके राग की मन्दता हो तो उनको शुभभाव होता है तथा यदि इनमें कर्तारबुद्धि हो तो वह मिथ्यात्म है। अन्तर में ज्ञानान्दस्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि हुए बिना बाह्य व्रत-तप आदि तो केवल देह का शोषण है, इनसे भवभ्रमण नहीं मिटता। इनसे तो संसार ही फलता है, मुक्ति नहीं होती। पर करें क्या? आजकल जहाँ देखो वहाँ वस एक ही प्ररूपणा चलती है कि – “व्रत करो, तप करो, उपवास करो” इत्यादि। पर बापू ! ये सब शुभभाव हैं, जिन्हें यहाँ विषकुम्भ कहा है। अज्ञानी के तो ये भाव विषकुम्भ हैं ही, किन्तु समक्षी भी इन्हें विषकुम्भ ही जानता/मानता है, क्योंकि वे अतीतन्त्र आनन्द के स्वाद से विपरीत हैं।

टीका में स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य कहते हैं – अज्ञानी जीवों को जो मिथ्यात्म और राग-द्वेष आदि अप्रतिक्रिमण के भाव हैं, वे शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभाव स्वभाव रूप हैं। तथा वे स्वयंमेव अपराध स्वरूप हैं। इसलिए वे भाव विषकुम्भ ही हैं। उन भावों का विचार करने से प्रयोजन ही क्या है? अर्थात् वे भाव तो प्रथम से ही त्यागने योग्य हैं।

अहा ! जो प्रतिक्रिमण आदि पुण्यभावों को धर्म मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं, अपराधी हैं। अनादि से वह मिथ्यादर्शन आदि भावों का सेवन करते हुए चारों गतियों में रूल रहे हैं।

अब कहते हैं कि जिसने अन्तर में अपना आत्मा-अतीतन्त्र ज्ञान व आनन्दस्वरूप अनुभव किया है – ऐसे धर्म पुरुष को सुबह-शाम द्रव्य प्रतिक्रिमणादि रूप शुभभाव आता है। वह अपराध रूपी विष के दोष को घटाने
समयसार गाथा ३०६-३०७

में समर्थ है। इस कारण कहा है कि — धर्मी के प्रतिक्रियानिधि शुभभाव व्यवहार से अमृतकुम्भ हैं।

देखो! धर्मी को ये द्रव्य प्रतिक्रियानिधि के शुभभाव रागादि दोषों को घटाने में तो समर्थ हैं, पर अभाव करने में नहीं। रागादि का अभाव तो एक शुद्ध ज्ञानन्द स्वरूप आत्मा का आश्रय लेने से होता है पर जिन्हें अन्तर में शुद्ध एक ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी अमृतस्वरूप आत्मा का भान हुआ है, उन्हें जो निन्दा, गहरी आदि का शुभराग रुप व्यवहार प्रतिक्रियान का भाव आता है, उससे अशुभ भाव घटता है — इस अपेक्षा शुभ राग को व्यवहार से शाखियों में अमृत कुंज कहा है। जिनको आत्मज्ञान नहीं हुआ, उनका शुभभाव तो मात्र विषकुम्भ ही है।

अहा! जिन्हें स्वानुभव सहित अन्तर आत्मा में रमणा हुई है, ऐसे संतों की यह वात है। बापू उन संतों के महान्त्र रूप शुभभाव भी निर्मय से चारित्र नहीं हैं। अन्तर में ज्ञानन्दस्वरूप भगवान आत्मा में रमना ही निर्मय से चारित्र है।

अहाहा ....。“शुद्ध-बुद्ध-चेतन्यचन, स्वयं ज्योति सुखधाम” ऐसे अपने शुद्ध आत्मस्वरूप में रमने और ठहरने को भीतरराग मार्ग में चारित्र कहा है।

अहाहा ....! ऐसे चारित्रवान्दों को निन्दा-गहरी आदि परद्रव्य के आलम्बन रूप शुभभाव आते हैं, तथा उनको पंचपरमेश्वी के स्मरण, स्तुति आदि का शुभ राग भी आता है। उस शुभ राग में मात्र पाप को घटाने की ताकत है। पाप को कम करने का हेतु देख उस शुभराग को व्यवहार से अमृतकुम्भ कह दिया है।

अब कहते हैं कि — मिथ्यादृष्टि को अशुभ व शुभभावोऽनुप्रतिक्रियान व प्रतिक्रियान के सिवाय एक तीसरा शुद्ध भावरूप अप्रतिक्रियान की खबर नहीं होती।“शुभाशुभ रहित तीसरी भूमिका क्या है?” इसका बोध मिथ्यादृष्टि जीवों को नहीं होता। जिसे अन्तर में शुद्धोपयोग दशा कभी हुई ही नहीं, उन जीवों को ‘प्रतिक्रियान अपराध है’ — ऐसा भासित ही नहीं होता। वे द्रव्य प्रतिक्रियान करें तो भले करें, पर उनकी वह क्रिया दोष मेटने में समर्थ नहीं
है। उल्टा बंध का कार्य ही करती है। किन्तु गये दोषों का निराकरण करना,
समकिंत आदि गुणों की प्रेरणा करना, मिथ्यात्वादि का निवारण करना, पंच
नमस्कार आदि का भाव अर्थात् प्रतिमा आदि का आलंबन, बाह्य विषयों से
चित को हत्या, आत्मसाक्षीपने दोषों का प्रगट करना, गुरु की साक्षी से दोषों
cो प्रगट करना, दोष उत्पन्न होने पर प्रायोंचत लेकर विशुद्धि करना – ये
आदों प्रकार के शुभभाव हैं। मिथ्यावृत्ति के ये आठों शुभभाव विष्कुम्भ हैं,
क्योंकि मिथ्यावृत्ति के इन भावों में दोष नष्ट करने की बिलकुल भी सामर्थ्य

जो जीव तीसरी भूमिका के अप्रतिक्रमण सहित है, उन्हें जो शुभभाव आते
हैं, वे दोष घटाने में समर्थ होते हैं।

अब कहते हैं कि – जो अप्रतिक्रमण रूप तीसरी भूमि है, वह स्वयं
शुद्धात्मा की सिद्धि रूप होने से साक्षात् अमृतकुम्भ है। जब परमानन्दमय
भगवान आत्मा की दृष्टि हो जाती है तब उसे शुद्धात्मा की सिद्धि होने पर तीसरी
भूमिका प्रगट होती है। यह तीसरी भूमिका सर्वदोषों को नष्ट करने में समर्थ
होती है। अतः यह अमृतकुम्भ है। इसके साथ के व्यवहार प्रतिक्रमण को भी
अमृतकुम्भ कहा गया है।

यहाँ कहते हैं कि – अप्रतिक्रमणादि रूप तीसरी भूमिका स्वयं शुद्धात्मा
की सिद्धि-प्राप्ति रूप है तथा वह सर्व अपराध रूपी विष के दोषों के सर्वथा
नष्ट करने वाली है, इस कारण शुद्धात्मा रूप भूमिका स्वयं साक्षात् अमृतकुम्भ
है। अहाँा अर्थात् शुद्धात्मा रूप भूमिका में निर्मल रत्नत्रय पकता है। अतः
वह साक्षात् अमृतकुम्भ है। अर्थात् ऐसी तीसरी भूमिका वाले प्रभु पुरुष
को जो द्रव्य प्रतिक्रमणादि होते हैं, उन्हें व्यवहार से, अमृतकुम्भप्रण प्राप्त होता
है। वस्तुतः तो तीसरी भूमिका वाले का द्रव्य प्रतिक्रमण भी अमृतकुम्भ नहीं
है, परंतु साक्षात् अमृतकुम्भ का सहचारी है। इस कारण उसको अमृतकुम्भ
उपचार से कहा जाता है।

अब कहते हैं कि – लो, शुद्धात्मा रूप तीसरी भूमि से ही आत्मा
निरपराध होता है, अन्य प्रकार से नहीं। व्यवहार रत्नत्रय से भी नहीं। जहाँ
सम्यगदर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं हैं - शुद्धोपयोग नहीं है, वहाँ सभी प्रकार का 
क्रियाकाण्ड अपराध ही है। व्यवहार प्रतिक्रियामण, सामाजिक, प्रोष्ठ, दया-दान, 
व्रत-तप, भक्ति-पूजा आदि सर्व एक शुद्धोपयोग के अभाव में अपराध ही हैं। 
इसलिए शुभाशुभ भावों से रहित तीसरी भूमिका से ही निरपराधपना सिद्ध होता 
है। धर्म को भी व्यवहार रत्नाकर के विकल्प तो आते हैं; परंतु उसका लक्ष्य 
तो अन्दर भगवान आत्मा के अनुभव में ही रहता है। दया-दान आदि शुभभाव 
के काल में भी उसकी वृत्ति शुद्धता पर ही होती है क्योंकि राग को छोड़कर 
अन्दर चिन्तानन्दमय भगवान आत्मा की पूर्ण प्राप्ति का ही लक्ष्य रहता है। उस 
शुद्धता की प्राप्ति के लिए ही यह दृष्टि प्रतिक्रियामण आदि हैं, शुभराग में अटके 
रहने के लिए नहीं।

अब कहते हैं कि - ऐसा नहीं मान लेना कि - यह निश्चयनत प्रधान शास्त्र 
व्यवहार प्रतिक्रियामणादि छोड़कर हमें अशुभ में जाने को प्रोत्साहित करता है। 
इस शास्त्र में शुभ को छोड़कर अशुभ में जाने की तो बात ही नहीं है। शास्त्र 
के कथन का अभिप्राय दृष्टि प्रतिक्रियामण आदि छुड़ाना नहीं है; परंतु उसी में 
जो अनादि से अटके हैं, मात्र वह अटक छुड़ाना का उद्देश्य है। प्रतिक्रियामण, 
सामाजिक, भक्ति, व्रत, तप, पूजा आदि के शुभराग में जो अटके हैं और इसी 
में धर्म माने खेतर हैं, उसका सही मार्गदर्शन करके निश्चयपूर्वक व्यवहार करने 
का उद्देश्य है।

अहा ! पुण्यभाव को छोड़कर पाप में प्रवर्तन करने की बात कोई भी 
शास्त्र कैसे कह सकता है? शास्त्र में तो सदैव पाप की भांति पुण्य को भी 
छोड़कर परम पवित्र शुद्धता के अनुभव की बात ही कही जाती है, क्योंकि 
आत्मा का अनुभव ही निरपराधपना है।

यहाँ दृष्टि प्रतिक्रियामण नहीं छुड़ाते हैं। किन्तु जो शुभराग में संतुष्ट होकर 
रक जाते हैं, उन्हें वहाँ से छुड़ाकर अन्दर ध्वंसाधाम में - चेतन्य धाम में 
ले जाते हैं।

अहाहा आत्मा ! भगवान आत्मा ! तू पूर्णज्ञान, आनन्द आदि अनन्त गुणों का, 
अनन्त शक्तियों का पिण्ड है न ! अनन्त स्वभावों से भरा तेरा सत्त्व है न !
उसे प्राप्त करने का मार्ग बताते हुए कहते हैं कि – उसे प्राप्त करने के लिए
शुभ-अशुभ भाव कार्यकारी नहीं हैं। तेरा चैतन्य तत्त्व अशुभभाव रूप
अप्रतिक्रिमणादि से तथा शुभभाव रूप प्रतिक्रिमणादि से अगोचर है, अग्रग्नि है।

भाई! देखो, नारियल के ऊपर की छाल, कठोर नौरी और गोला के ऊपर
की रातास (लालिम) – ये कोई नारियल नहीं हैं; किन्तु अन्दर सफेद मिठास
से भरा गोला ही वस्तुतः नारियल है। फिर भी सहचारी होने से छिलके आदि
को भी नारियल का नाम व कोमत मिल जाती है। उसी प्रकार शरीर, कर्म एवं
पुण्य-पाप के भाव आत्मा नहीं हैं। इन तीनों से भिन्न-शुद्ध चैतन्य और आनन्द
का घनपिण्ड ही आत्मा है।

यहाँ कहते हैं – प्रतिक्रिमण-अप्रतिक्रिमण से अगोचर, शुद्ध आत्मा की सिद्धि
जिसका लक्षण है – ऐसा अति दुःखर शुद्धोपयोग रूप जो तीसरे अप्रतिक्रिमणादि
भाव है, विराग भाव है; उन्हें प्राप्त करने की प्रेरणा दी गई है।

भाई! शुद्धोपयोग अति दुःखर है। सम्यकदर्शन आदि रत्नत्रय अति दुःखर
है। अहा! अनन्तकाल में शुभ क्रियायें तो अनन्तवार की हैं, परन्तु शुभाशुभ
से भिन्न शुद्ध चैतन्य तत्त्व का ज्ञान-श्रद्धान और अनुभव एक क्षण भी नहीं किया;
इस कारण वह दुःखर है।

यहाँ कहते हैं कि – यह समयसार शास्त्र-शुद्धात्मा की सिद्धि जिसका
लक्षण है – ऐसे अतिदुःखर निर्मल रत्नत्रय की प्राप्ति का ज्ञान कराता है। अतः
यह शास्त्र परम अद्भुत महिमावंत है।

dेखो, इस पृथ्वी के नीचे नरक हैं। राजा-महाराजा तथा बहुत पैसे वाले
जो विषयान्दी रौद्र ध्यान करते हैं और मांस-मदिरा आदि अभिक्ष्य भक्षण करते
हैं, वे मर कर नरक में जाते हैं। क्योंकि ऐसे कृृत परिणामों का फल नरक ही
है, जहाँ अनन्त दुःख हैं। भाई! हमारा आपका आत्मा भी अब तक अनन्तवार
वहाँ जाकर आया है। तथा जो मायाचारी, कुटिलता करते हैं वे तिर्यंचगति में
जाते हैं। ऐसे भाव भी हम-तुमने अनन्त बार भारण किए हैं। अहा.....। यदि
एक बार भवुं रहित हो जायें, तो फिर जन्म मरण नहीं होता। जिस तरह कृत्वा
Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates
आत्मा के अनुभव बिना, परमार्थ से, पाप ही हैं। जो स्वयं दोष रूप ही हैं,
वे दोषों को कैसे मिटायें?

भाई! मोक्षमार्ग में निर्चय सहित व्यवहार होता है। जिन्हें रागरहित शुद्ध
चैतन्य मात्र आत्मा की दृष्टि, ज्ञान व अनुभव हुआ है, ऐसे निर्चय वालों के
शुभ राग को व्यवहार कहा जाता है। पर जिन्हें ऐसे निर्चय स्वरूप की दृष्टि
और अनुभव नहीं हैं, उनके व्यवहार क्रियाकाण्ड कोई अर्थ नहीं रखते। वे तो
केवल अपराध व दोष ही हैं। जो निर्चय सहित व्यवहार होता है, वही व्यवहार
मोक्षमार्ग है। केवल व्यवहार का ही पक्ष मोक्षमार्ग नहीं है। वह तो बन्ध का
ही मार्ग है।

अब कहते हैं कि — अज्ञानी को जो मिथ्यात्वादि रूप अप्रतिक्रियाप्रमाण दिये हैं,
वे सब तो विषयकुम्भ हैं ही। उनकी तो बात ही क्या करना? परन्तु जिसे सुभाव
रूप प्रतिक्रिया कहा है, वह भी निर्चय से विषयकुम्भ ही है।

अहाँ।। जिसको अन्तर में अपने निर्चयस्वरूप का भान है, उसके
शुभभाव रूप व्यवहार को व्यवहार कहा है। पर वह व्यवहार भी निर्चय से
विषयकुम्भ ही है।

अब इस कथन का कलशरूप काव्य कहते हैं :-

अतो हता: प्रमादनी गता: सुखासीनां
प्रलीनं चापलमुमूलितमालबनम्।
आत्म-येवालानित च चित्त-
मासंपूर्णविज्ञानघनोपत्ये: ॥ १८८॥

श्लोकार्थः — [ अत: ] इस कथन से, [ सुख-आसीनतां गता: ]
सुखासीन (सुख से बैठे हुए) [ प्रमादिन: ] प्रमादी जीवों को [ हता: ] हत
कहा है (अर्थात उन्हें मोक्ष का सर्वथा अनुभवको कहा है), [ चापलम्
प्रलीनम् ] चापल्यका (-अविचारित कार्य का) प्रत्यय किया है (अर्थात्
आत्मप्रतीति से रहित क्रियाओं को मोक्ष के कारण में नहीं माना),
[ आलम्बनम् उमूलितम् ] आलम्बन को उखाड़ फेका है (अर्थात् समयगृहि
कलश १८८

कलश १८८ पर प्रवचन

यहाँ निश्चयन्य से प्रतिक्रमणादि को विषयक चहा और अप्रतिक्रमणादि
को अमूतुकम्भ कहा इसलिये यदि कोई किसीत समझकर प्रतिक्रमणादि को
छोड़कर प्रमादी हो जाये तो उसे समझाने के लिये यह कलश कहा है।

आत्मा की पहचान बिना दया-दान-ग्रत्व भक्ति आदि शुभ क्रियाओं से धर्म
मानकर जो शुभराग में संतुष्ट हैं, उन्हें प्रमादी कहा है; वे मोक्ष के अधिकारी
नहीं हैं। उनका मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं हुआ है।

आत्मज्ञान शून्य दान-पुण्य, भक्ति-पूजा, पंचपरमेश्वरी का समर्थ आदि
शुभराग की क्रियायें चापल्य हैं, चपलता हैं - ऐसा आचार्य अमृतचन्द कहते
हैं। अर्थात् अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप का अनुभव किए बिना जो मात्र पुण्य की
क्रियायें करने में पड़ा है, वह सब चापल्य है। उनकी बैं क्रियायें मोक्षमार्ग नहीं
मानी गई हैं। वे सब क्रियायें बन्धमार्ग की क्रियायें ही हैं।

अब कहते हैं कि - स्वदेश के आलम्बन के सिवाय जो भी परदीव का
आलम्बन हैं, जानी ने उस सब को उखाड़ पैंका है। सम्प्रति के जो दृष्टि-
प्रतिक्रमण आदि हैं, उन सबको निश्चय से बंध का कारण जानकर हेय माना
है। परदीव, चाहे वह परमेश्वर हो या शास्त्र, उनका आलम्बन लेने को यहाँ
प्रमाद कहा है। और प्रमाद हेय है। एक वीतरागभाव के सिवाय पाप की निन्दा,
चित को पाप से हटाना आदि सभी राग की क्रियायें प्रमाद हैं और उनमें परदीव
का आलम्बन है।
यहाँ कहते हैं कि - जिनमें भी परद्रव्य का आलम्बन है, वह मूल से ही उखाड़ फेंका है। अर्थात् उसे मूल से ही हेतु कर दिया है।

प्रश्न - भावपालु में पंचमहार्वतों को अंगीकार करने की जो बात आई है, शोड़ुष्क कारण भावना भाने की बात कही है, और भी अनेक शास्त्रों में अनेक प्रकार की शुभ क्रियाओं को करने की बात आती है, उन सब कथनों का क्या अभिप्राय है?

उत्तर - हाँ, आती है, जहाँ भी ऐसे कथन आते हैं, वहाँ ज्ञानियों की भूमिका में भी कैसे-कैसे शुभभाव होते हैं - यह ज्ञान कराया गया है।

यह सब व्यवहार का कथन है। वस्तुतः बात यह है कि - वीरराग परमात्मा के आलम्बन से भी राग ही होता है। पंचासिकाय में आता है कि अरहंत के प्रति हुआ राग भी मोक्ष का कारण नहीं है।

पंचासिकाय गाथा १६८ में कहा है कि - थोड़ा-सा राग भी दोष परम्परा का कारण है। अरहंतादि की भक्ति राग परिणाम के बिना नहीं होती और राग परिणाम होने पर आत्मा बुद्धि प्रसार किए बिना रह नहीं सकता। बुद्धि प्रसार अर्थात् चित्त की चंचलता, मन का शूभाभूष्णियों में जाना परद्रव्य के आलम्बन होते ही विचार तरंगें उठाने ही लगती हैं। इस प्रकार परद्रव्य का आलम्बन जिसका मूल है - ऐसा अल्पराग भी दोष की संतति का मूल है। भाई! वीररागता का मार्ग तो वीररागता से ही प्रगट होता है।

अहाहा """"। चैतन्यस्वरूपी आत्मा एक वीरराग स्वभाव से भरा तत्त्व है।
इसके आलम्बन बिना जितना परद्रव्य का आलम्बन होगा, उततना राग ही उत्पन्न होगा और यह परम्परा भी दोष की परम्परा का मूल है। ज्ञानी को ये भाव आते अवश्य हैं; परन्तु इन्हें वह बन्ध का ही कारण जानता है।

प्रश्न - दूसरे शास्त्रों अरहंतादि की भक्ति आदि की परम्परा मोक्ष का कारण कहा है न?

उत्तर - भाई! यह तो आरोपित कथन है। मोक्षमार्ग में रत जीवों को ऐसा भाव आता है - ऐसा जानकर उपचार से उसे परम्परा मोक्ष का कारण कहा
कलश १८८

है। वास्तव में तो वीतराग स्वभावी भगवान आत्मा की समुखता से प्रगट हुआ एक वीतरागभाव ही परम्परा से मोक्ष का कारण है।

कलश टीका में कहा है कि – बुद्धिपूर्वक ज्ञान करते हुए जितना ठहरा, विचारणा, चिन्तवन करना, समरण करना आदि है, वह मोक्ष का कारण नहीं है – ऐसा जानकर शुभभाव को हेय कहा है।

आत्मज्ञानी को भी राग तो दु:खरूप ही है। समयसार गाथा ७२ से ७४ में भी कहा है कि – धर्मी को भी शुभराग से पुण्यबंध होता है। उसके फल में संयोग मिलते हैं और संयोग के लक्ष्य से फिर राग व दुःख ही होता है।

देखो, धर्मी को एक समय में दो धाराओं में चलती हैं, जब तक पूर्ण वीतरागता नहीं होती, तबतक साधक को कुछ शुद्धता है और कुछ अशुद्धता-रागधारा भी है। भाई ! चाहे वह व्यवहार रत्नजय हो, तो भी यह राग ही है, बन्ध का ही कारण है, इस कारण हेय है।

पुरुषार्थसिद्धुपाय में कहा है कि – जितने अंश में राग है, उतने अंश में बन्ध है तथा जितने अंश में समकित है, उतने अंश में अबन्ध है।

आचार्य अमृतचन्द्र तीसरे कलश में कहते हैं कि – ‘‘द्रव्यदृष्टि से तो में शुद्ध चिन्मात्र मूर्ति ही हूँ, परंतु निमित्त के वश से हमारी परिणति रागादि से व्याप्त होने से कल्पासित – मैली है यह समयसार-शुद्धतमा के ग्रन्थ की व्याख्या करने से ही हमारी परिणति परमविशुद्ध होगी।’’

देखो, अन्दर द्रव्यदृष्टि का जोर है न ? इसीलिए ऐसा कहते हैं कि शुद्धतमा के बल से परम विशुद्ध होगी है। देखो, छात्रों गुरुस्थान में बर्तने मुनिराज भी कहते हैं कि – हमारी परिणति किंचित् मैली है जो हमें पुस्ताती नहीं है। हमें तो परमविशुद्ध चाहिए। भाई ! राग का अंशकण भी हो तो वह मैल है और हेय ही है।

भाई ! तेरा सुख स्वाधीन स्वावलम्बन से ही प्रगट होता है। अरे ! तू ‘स्व’ को छोड़कर परद्रव्य के अवलम्बन में कहाँ अटक गया है? ‘भगवान’
तू राग को अपना मानकर ही तो आज तक चौराहीलाख योजनाओं में जन्मा-मरा है। इसलिए भाई! अब तू परावलम्बन की दृष्टि छोड़कर स्वावलम्बन प्रगट कर!

अब कहते हैं कि - जब तक केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती तबतक मैंने अपने चित्त को त्रिकाली ध्रुव के साथ ही जोड़ दिया है। अपने ज्ञानोपयोग को महाज्ञानादि में जोड़ने की बात न कहकर आचार्य त्रिकाली ध्रुव से ही आत्मा को जोड़ने को कह रहे हैं; क्योंकि वही एक मात्र मोक्ष का कारण है।

(वसन्तरितलका)

यत्र प्रतिक्रियमेव विवर्त प्रणीतं
तत्राप्रतिक्रियमेव सुधा कृतं: स्वातः।
तत्वं प्रमाणितं जनं: प्रपतन्धोऽधवः
किं नोधर्ममूढ्वधर्मधिरोहितं निष्प्रमादः: || ९८९ ||

श्लोकार्थः - [यत्र प्रतिक्रियामयु एव विवर्त प्रणीतं] (हे भाई!), जहाँ प्रतिक्रिया को ही विष कहा है, [तत्र अप्रतिक्रियामयु एव सुधा कृत: स्वातः] वहाँ अप्रतिक्रिया अमृत कहाँ से हो सकता है? (अर्थात् नहीं हो सकता।) [तत्] तब फिर [जन: अध: अध: प्रपतन्नं किं प्रमाणितं] मनुष्य नीचे ही नीचे गिरता हुआ प्रमाणी क्यों होता है? [निष्प्रमाद:] निष्प्रमाद होता हुआ [उद्धवम् उद्धवम् किं न अधिरोहित] ऊपर ही ऊपर क्यों नहीं चढ़ता?

भावार्थः - अज्ञानावस्था में जो अप्रतिक्रियादि होते हैं उनकी तो वात ही क्या? किन्तु यहाँ तो, शुभप्रतिक्रियारूप द्रव्यप्रतिक्रियादि का पक्ष छुड़ाने के लिए उन्हें (द्रव्यप्रतिक्रियादि को) निश्चयता की प्रधानता से विषकुम्भ कहा है क्योंकि वे कर्मवन्ध के ही कारण हैं, और प्रतिक्रिया-अप्रतिक्रियादि से रहित ऐसी तीसरी भूमि, जो कि शुद्ध आत्मस्वरूप है तथा प्रतिक्रियादि से रहित होने से अप्रतिक्रियादिरूप है, उसे अमृतकुम्भ कहा है अर्थात् वहाँ के अप्रतिक्रियादि को अमृतकुम्भ कहा है। तृतीय भूमि पर चढ़ने के लिए आचार्यदेव ने यह उपदेश दिया है। प्रतिक्रियादि को विषकुम्भ कहने की बात
कलश १८९

सुनकर जो लोग उल्टे प्रमादी होते हैं उनके सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं कि ‘यह लोग नीचे ही नीचे क्यों गिरते हैं? तृतीय भूमि में ऊपर ही ऊपर क्यों नहीं चढ़ते?’ जहाँ प्रतिक्रिमण को विषकुम्भ कहा है वहां उसका निषेधरूप अप्रतिक्रिमण ही अमृतकुम्भ हो सकता है, अज्ञानी का नहीं। इसलिये जो अप्रतिक्रिमणादि अमृतकुम्भ कहे हैं वे अज्ञानी के अप्रतिक्रिमणादि नहीं जानना चाहिए, किन्तु तीसरी भूमि के शुद्ध आत्मान्य जानना चाहिए।\[१८९\]

कलश १८९ पर प्रवचन

यहाँ निरचनय से शुभभाव रूप प्रतिक्रिमण आदि को विषकुम्भ कहा और शुद्धोपयोगरूप अप्रतिक्रिमण आदि को अमृत कुंभ कहा। इस कथन को कोई उल्टा समझकर प्रतिक्रिमण को छोड़कर पापभावरूप अप्रतिक्रिमण में प्रमादी न हो जाय, इसके लिए यह कलश कहा गया है।

देखो! जहाँ शुभभाव को विषकुम्भ कहा हो वहाँ अप्रतिक्रिमण अर्थात् अशुभभाव अमृतकुम्भ कैसे हो जायेगा? जहाँ व्यवहार प्रतिक्रिमण, व्यवहार प्रत्याख्यान आदि व्यवहार की शुभ क्रियाओं को जहर कहा है, वहाँ तीव्र्राग में जाना व अशुभ में जाना, अमृत कैसे हो सकता है। शुभ को छोड़कर अशुभ में जाने की तो यहाँ बात ही नहीं है। यहाँ तो शुभ को छोड़कर ऊँचे-ऊँचे चढ़ने, शुद्ध में जाने की बात है।

भाई! हम तुम्हके शुभभावों से भी छोड़कर जैसे जन्म-मरण का अन्त आवे और आत्मा की प्राप्ति हो - ऐसा वास्तविक धर्म प्राप्त कराना चाहते हैं। अहा! अन्दर भगवान आत्मा चिद्द्वन प्रभु त्रिकाल परमात्म स्वरूप से विराजता है। उसमें ले जाने के लिए हमने शुभभाव को जहर कहा है। परन्तु यदि कोई शुभ को जहर जानकर अशुभ में जाये तो वह उसकी विपरीत दृष्टि है, आँधी समझ है। हमने ब्रह्म होने के लिए शुभ को हेय नहीं कहा, बल्कि शुद्धत्त्व में जाने के लिए शुभ को हेय कहा है।

अब आचार्य कहते हैं कि - जब हमने शुभ को अर्थात् मन्दकपाय को जहर कहा तो अशुभ अर्थात् तीन तथा प्रथा तो स्वतः ही महाजहर सिद्ध हो।
या। जब वस्तु स्थिति ऐसी है तो फिर जगत जन नीचे-नीचे पड़कर प्रमादी क्यों होता है ? निष्प्रमादी होकर ऊपर-ऊपर चढ़ने का पुरुषार्थ क्यों नहीं करता ? शुभभाव को छोड़कर अन्दर जाने सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा अन्दर में है, उससे भेंट कर, और उसी में जम जा।

अहाँ। शुभ को छोड़कर प्रमादी होकर यदि तू अशुभ में जाता है तो यह तो तेरी स्वच्छन्दता है। इसलिए शुभ को छोड़कर निष्प्रमादी होकर स्वरूप के आश्रय में जा। और उसी में लीन हो जा। शुभभाव को हेय बताने का एकमात्र यही प्रयोजन है।

प्रवचनसार गाथा ११ में शुद्धोपयोग को उपादेय व शुभोपयोग को हेय कहा है। भाई छठवे गुणस्थान में मुनि को जो शुभोपयोग वर्तता है, वह हेय है। तथा वहाँ गाथा १२ में अशुभ उपयोग को अत्यन्त हेयपना प्रसिद्ध किया है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि शुभोपयोग को छोड़कर शुद्धोपयोग में ही रहना। अहाँ। राग रहित अन्दर आत्मा चैतन्यमूर्ति प्रभु अकेला ज्ञान का घन पिण्ड है। उसके आश्रय में शुद्धोपयोग में रहना ही धर्म है।

भावार्थ प्रवचन

समक्षती के व्यवहार को देखा ? प्रतिक्रिया, पंचपरमेश्वरी का स्मरण, भक्ति आदि रूप को यहाँ निष्पर्याय से विषकुम्भ कहा है; क्योंकि वह कर्मवद्ध का ही कारण है। शुभभावों को विषकुम्भ कहने का आशय उसका पक्ष छोड़कर शुद्ध चैतन्यस्वरूप में ही लीन-स्थिर कराना है।

व्यवहार प्रतिक्रिया, व्यवहार सामायिक, व्यवहार स्वत्व-वन्दन आदि जो भी समक्षती का व्यवहार होता है, वह सब पर के आश्रय से प्रगट होता है। तथा पर के आश्रय से जो भाव होता है, वह वन्दन का ही कारण है। इस कारण व्यवहार का पक्ष छुड़कर निष्पर्यायस्वरूप में लीन कराने के प्रयोजन से व्यवहार प्रतिक्रियादि को विषकुम्भ कहा है। इसे छोड़कर अन्दर अमृतस्वरूप भगवान आत्मा में लीन हो जाओ।
अब कहते हैं कि - एक तो ज्ञानी का द्व्य-प्रतित्रिक्षण और अज्ञानी का अप्रतित्रिक्षण - इन दोनों से रहित शुद्ध आत्मस्वरूप अप्रतित्रिक्षण की जो तीसरी भूमि है, वह अमृतकुम्भ है; क्योंकि वह अबन्ध स्वरूप है। इसलिए कहते हैं कि भाई! शुभ से हटकर शुद्ध में जा! तो तेरा कल्याण होगा। शुभ में पढ़े रहने में तेरा कल्याण नहीं होगा। अप्रतित्रिक्षणरूप जो तीसरी शुद्धोपयोग की भूमि है, वहाँ एक शुद्ध आत्मा का आलंबन है, इस कारण उसे अमृत कुम्भ कहा है।

भाई! इस तीसरी भूमिका में जो अप्रतित्रिक्षणदि कहा है, वह आत्मस्वरूप है। ज्ञानी के जो द्व्य-प्रतित्रिक्षणरूप व्यवहार है, वह आत्मस्वरूप नहीं है, धर्मरूप नहीं है, इसकारण उसे विषकुम्भ कह कर छुड़ाया है। देखो! ज्ञानी को वीच में द्व्यप्रतित्रिक्षणदि शुभभाव आता है। अशुभ से बचने के लिए ज्ञानी को शुभभाव अवश्य आता है, परन्तु वह धर्म नहीं है।

अहा! ज्ञानी को शुभ न आवे - ऐसा भी नहीं होता और शुभ को धर्म माने - ऐसा भी नहीं होता, इस कारण उसको तीसरी भूमि में पहुँचने का उद्यम कराया जाता है।

शास्त्र में जहाँ शुभ का अधिकार हो, वहाँ जिनमन्दिर वनवाओ, प्रतिमा विराजमान कराओ, स्वाभाव करो, पत्थर करो, व्रत करो, दान दो इत्यादि सब तरह का कथन आता है, परन्तु यह कथन तो धर्मी की भूमिका का ज्ञान कराने को किया गया है। इससे शुभभाव धर्म नहीं हो जाता।

देखो, यह अप्रतित्रिक्षणदि के दो प्रकार कहे गये हैं :-
1. मिथ्यात्व सहित अज्ञानी को जो शुभशुभ भाव होते हें वे भाव अप्रतित्रिक्षणदिरूप हैं।
2. शुभभावों को भी छोड़कर शुद्ध में जाना ये भाव ज्ञानी के अप्रतित्रिक्षणरूप हैं। ये भाव आत्मस्वरूप हैं, अबन्ध हैं, अमृतकुम्भ हैं। तथा ज्ञानी को निदर्शन सहित जो शुभभाव आते हें, उसे व्यवहार प्रतित्रिक्षणदि कहते हें। निदर्शण से उसे यहाँ विषकुम्भ कहा है; क्योंकि वे वध के ही कारण हें।
अज्ञानी के निर्चय व व्यवहार - दोनों में एक भी प्रतिक्रिया नहीं है। तीसरी भूमि जो शुद्ध आत्मस्वरूप है, वह प्रतिक्रिया से रहित होने से अप्रतिक्रियास्वरूप है। वह अमृत कुम्भ है।

अहाहा "" ""! अन्दर में भगवान आत्मा नित्यानन्द, सहजज्ञान परमाणु प्रभु अकेला अमृतकुम्भ है।

प्रतिक्रियादि को जो शास्त्र में विषादक माना - यह सुनकर यदि कोई स्वच्छन्द होकर पाप रूप परिणमन करे तो वह अविभक्त है, अरे भाई! आचार्य तो शुभ का भी ल्याग कराकर शुद्ध में जाने को कह रहे हैं। अपने चिदानन्दस्वरूप आत्मा में जाने को, शुद्ध आत्मा का आश्रय लेने को कह रहे हैं।

जहाँ व्यवहार प्रतिक्रिया को जहर कहा, वहाँ उसके निषेधरूप प्रतिक्रिया ही अमृत कुम्भ है - ऐसा समझना चाहिए।

निष्केष्ठृष्टि में शुभ-अशुभ-दोनों ही बंध के कारण है, दोनों ही हेतु हैं - ऐसा भाषावृत्तक शुभभाव को छोड़कर शुद्ध स्वरूप में स्थिर होना, लीन होने को अप्रतिक्रिया कहा है। यह तीसरी भूमिका का अप्रतिक्रिया शुद्ध आत्मामय होने से अमृतकुम्भ है।

जहाँ व्यवहार प्रतिक्रिया को जहर कहा, वहाँ उसके निषेधरूप प्रतिक्रिया ही अमृत कुम्भ है - ऐसा समझना चाहिए।

निष्केष्ठृष्टि में शुभ-अशुभ-दोनों ही बंध के कारण है, दोनों ही हेतु हैं - ऐसा भाषा-वृत्तक शुभभाव को छोड़कर शुद्ध स्वरूप में स्थिर होना, लीन होने को अप्रतिक्रिया कहा है। यह तीसरी भूमिका का अप्रतिक्रिया शुद्ध आत्मामय होने से अमृतकुम्भ है।

(पृथ्वी)

प्रमादकलित: कथं भवति शुद्धभावोजलसः
कषायभरणगौरवादलसता प्रमादो यतः ।
अत: स्वरसनिभृनियमित: स्वभावे भवन्
मुनि: परमशुद्धतां ब्रजति मुच्यते वाजिरात् ॥१०॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com
कलश १९०

अब इस अर्थ को दृढ़ करता हुआ काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ – [ कषाय-भर-गौरवातु अलसता प्रमादः ] कषाय के भार से भारी होने से आलस्य का होना सो प्रमाद है; [ यतः प्रमादकलितः अलसः शुद्धभावः कर्म भवति ] इसलिये यह प्रमादयुक्त आलस्यभाव शुद्धभाव कैसे हो सकता है ? [ अतः स्वरसनिभरे स्वभावे नियमितः भवनू मुनिः ] इसलिये निजर्से परिपूण स्वभाव में निरंतर होनेवाला मुनि [ परमशुद्धतां ब्रजति ] परम शुद्धता को प्राप्त होता है [ वा ] अथवा [ अचिरात् मुच्यते ] शीघ्र-अल्पकाल में ही – (कर्मबन्ध से) छूट जाता है।

भावार्थ – प्रमाद तो कषाय के गौरव से होता है इसलिये प्रमाद के शुद्धभाव नहीं होता। जो मुनि उदयपूर्वक स्वभाव में प्रवृत्त होता है वह शुद्ध होकर मोक्ष को प्राप्त करता है। || १९० ||

कलश १९० पर प्रवचन

कषाय के भार से बौझल होने से आलसी होना ही प्रमाद है। पाँच महाव्रत के परिनाम और बारह ब्रह्म के विकल्प प्रमाद हैं; क्योंकि इनमें भी आत्म स्थिरता नहीं होती। जैसे घास से भरी गाड़ी में भार होता है, उसी तरह आत्मा में शुभाशुभ कषायों का भार है। कषाय का भार स्वयं अपने आप में आलस है, प्रमाद है; क्योंकि कषाय के कारण स्वरूप में सावधानी नहीं रहती, स्थिरता नहीं हो पाती – यही सब तो प्रमाद है। भाई! ध्यान-व्यापार में उत्तसहित रहना तो प्रमाद है ही, मन्दिर बनवाने में, प्रतिमा पधराने में, समाज की, राज की सेवा में तत्पर रहने में भी प्रमाद है। और यह सब कषाय के भार से दबे हैं, अतः प्रमादी हैं। यह सब राग है न ? अतः प्रमाद है। प्रमाद के १५ भेदों में ये सब आते हैं। चार कषायों, पाँच इन्द्रियों के विषय एवं चार विकास तथा निद्रा व प्रणय – ये पंढर भेद प्रमाद के हैं।

ऐसे प्रमाद से सहित भाव शुद्ध भाव कैसे हो सकता है?

अहा !... भगवान आत्मा शुद्ध चैत्य रस से भरा है। जो उसके आश्रय में न जाकर अशुभ की प्रवृत्ति में हर्षित होकर काल व्यतीत करता है, वह पापी
है। प्रमाद से भरपूर है। उसे शुभभाव कैसे हो? नहीं हो सकता। पर यहाँ तो विशेष बात यह है कि – शुभभावों में भी जो उत्साहित हैं, वह भी प्रमाद है। पाँच महानायक के राग को व अर्ट्टाइस मूल गुणों के राग को प्रमाद कहा है। छठवें गुणस्थानवर्ता मुनि प्रमाद हैं। शुभभाव में हैं, भस, इसी कारण मुनिराज निजरस से भरे स्वभाव में निश्चल रहते हैं, रहने का अनन्त पुरुषार्थ करके क्षण-क्षण में अप्रमाद गुणस्थान में – अप्रमाद दशा में जाकर स्वरूप में स्थायी होते हैं।

अहा ! जो शुभ को भी छोड़कर अपने ज्ञानान्द स्वरूप में लीन होकर शुद्धता को प्राप्त करता है वह अप्रमाद है। इसके सिवा स्वभाव में से परिणाम का नीचे गिर जाना प्रमाद है। यहाँ कहते हैं कि – चैतन्य रस से भरे हुए अपने स्वभाव में ही जो मुनि निश्चयपने स्थित हुए हैं, वे अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करते हैं।

भावार्थ पर प्रवचन

देखो, यहाँ भावार्थ में उद्यम की बात कही, पुरुषार्थ की बात कही, भते सभी पर्यायें क्रमबद्ध हों, पर क्रमबद्ध परिणाम में भी पुरुषार्थ सम्मिलित है। जो मुनि उद्यम से स्वभाव में प्रवर्तित हैं, वे शुद्ध होकर मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

प्रश्न – ‘‘पुरुषार्थ कब होगा’’ इस बात का केवल की तो पूरा-पूरा पता है ही, फिर भी वे पुरुषार्थ करने का उपदेश क्यों देते हैं? स्वदेश में उहरने का उपदेश क्यों देते हैं?

उत्तर – अरे! भाई! वीतराग केवली परमात्मा पुरुषार्थपूर्वक स्व-स्वभाव में गये, तब वीतरागी केवली हुए हैं उनकी जो सातिशाय वाणी निकली, उसमें भी यही पुरुषार्थ की बात आती है। भगवान की तो आज्ञा ही यह है कि समय मात्र भी प्रमाद न करो, निरंतरस्वभाव में ही रत रहो।

जगत में जब जो काम बना होगा, तभी बनेगा – ऐसा क्रमबद्ध मानने वाले की दृष्टि अन्यत्र कहाँ जाय? उसकी दृष्टि तो स्वदेश पर जायेगी। और तब होने योग्य अपने स्वकाल जो होता है, उसका वह ज्ञाता मात्र रहेगा। जहाँ
पर्याय बुद्धि हो, वहाँ उसको परदेश में बदलने की और टालने की बुद्धि होती है। परदेशवृत्तिविविधता तो सबके ज्ञातस्वरूप ही रहते हैं।

अहाँ! यहाँ कहते हैं कि - जो मुनि निजस्व से - चैतन्य रस से स्व-स्वभाव में ही प्रवर्तते हैं, वे शुद्ध होकर निर्माण को प्राप्त करते हैं। इसमें पुरुषार्थ के साथ क्रमबद्ध की बात भी आ गई। स्व-सम्प्रभुता का पुरुषार्थ जिसको है, उसके क्रम में शुद्धतापूर्वक पूर्ण शुद्धतास्वरूप मोक्ष होता है।

(शार्दूलविक्रोडित)

त्यक्तवाशुद्धिदिवधायिय तत्कित परद्वें समग्रं स्वयं स्वद्वें रातिम्र यः स नित्यं सर्वपराधयुतः।
बंधधवसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वन्योतिरच्छोच्छल-
चैतन्यायुमृत्यूपपूर्णमहिमाया शुद्ध्रो भवन्मुच्यते ||१९६||

अब, मुक्त होने का अनुक्रम-दर्शक काय्य कहते हैं :-

प्रतोकार्थ - [ यः किल अशुद्धिदिवधिय परद्वेः ततु समग्रं त्यक्तवा ]
जो पुरुष वास्तव में अशुद्धता करनेवाले समस्त परद्वें को छोड़कर [ स्वयं स्वद्वें रातिम्र एति ] स्वयं स्वद्वें में लीन होता है, [ सः ] वह पुरुष [ न्यत्तम् ] नियम से [ सर्व अपराध-च्युतः ] सर्व अपराधों से रहित होता हुआ, [ बन्धू-ध्वस्मृ उपेत्य नित्यमु उदितः ] बन्धु के नाश को प्राप्त होकर नित्य-उदित ( सदा प्रकाशमान होता हुआ, [ स्व-ज्योति:-अच्छ-उच्छलत्-
चैतन्य-अमृत-पूर-पूर्ण-महिमा ] अपनी ज्योति से ( आत्मस्वरूप के प्रकाश से ) निर्मलतया उच्छलता हुआ जो चैतन्यरूपी अमृत के प्रवाह द्वारा जिसकी पूर्ण महिमा है ऐसा [ शुद्धः भवन् ] शुद्ध होता हुआ, [ मुच्यते ] कर्मों से मुक्त होता है।

भावार्थ - जो पुरुष, पहले समस्त परद्वें का त्याग करके निज द्रव्य में (आत्मस्वरूप में) लीन होता है, वह पुरुष समस्त रागादिक अपराधों से रहित होकर आगामी बन्ध का नाश करता है और नित्य उदयरूप के विलाल्यानं...
करके, शुद्ध होकर, समस्त कर्मों का नाश करके, मोक्ष को प्राप्त करता है। यह, मोक्ष होने का अनुक्रम है॥ १९१॥

कलश १९१ पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि - पुन्य-पाप के जो विकल्प होते हैं, वह अशुद्धता है। उस अशुद्धता को करने वाले अर्थात् उस अशुद्धता के निमित परद्रव्य हैं। उन सबसे लक्ष्य हटाकर जो स्वद्रव्य में लीन होते हैं, उन्हें धर्म प्रगट होता हैं, शुद्धता प्रगट होती है।

पुन्य-पाप के परिणाम अशुद्धता हैं, विषकुम्भ हैं, अपराध हैं। जिसे वीतरागधर्म प्रगट करना हो, उसे ये सब विकल्प छोड़ने होंगे और शुद्धता प्राप्त करनी पड़ेगी। जहाँ परद्रव्य का लक्ष्य छोड़कर स्वद्रव्य में लीन होता है, तब शुद्धता प्रगट होती है। उसमें वस्तुतः किसी राग की, पुन्य की या विकल्प की अपेक्षा नहीं है। आत्मा स्वयं शुद्ध ज्ञानन्द मूर्ति है। वह जब अपने द्रव्य में स्वयं लीन हो तभी शुद्धता प्रगट हो जाती है।

आहा! ज्ञानन्दस्वरूप स्वद्रव्य के सिवाय जितने भी परद्रव्य हैं, चाहे वे तीर्थकर हों, उनकी वाणी हो, समोशरण हो, जिनमन्दिर हो या जिन प्रतिमा हो; सभी परद्रव्य शुभरागृहुष अशुद्धता के निमित कारण हैं। भाई! यह छब्बीस लाख का परमागम मन्दिर अशुद्धता का निमित है। बात बहुत कड़वी है, पर सत्य है।

प्रश्न - तो फिर ये मन्दिर बनवायें या नहीं?

उत्तर - कौन बनवाता है? अरे! जड़ परमाणुओं का निज जन्मक्षण था, जो अपने नथ क्षण में इस परमागम मन्दिर रूप परिभाषण हुए हैं। कोई अन्य बनवाता है या बनाता - यह बात त्रिकाल में सत्य नहीं हो सकती। हाँ, इस काल में हम तुम को ऐसा शुभभाव हुआ था, पर वह शुभभाव अशुद्धभाव रूप है। जब तक अशुभ को ठालने के लिए भूमिका के अनुसार शुभभाव भी आते हैं, पर वह परद्रव्य की ओर झुकने वाला होने से अशुद्ध भाव है, दोष है, अपराध है।
कलक्षण १९९

अहाहा‘‘‘‘。आत्मा आनन्दरूपी अमृत का सरोवर है। आत्मा निज परिणाति
को उस सरोवर में डुबो-डुबोकर धर्ममृत पीता है।

अहाए। चाहे सृज-पुत्र परिवार हो या देव-शास्त्र-गुरु हो, ये सब परद्रव्य
अशुद्धता के निमित्त कारण हैं। इन परद्रव्य की ओर का झुकाव छोड़कर जब
जीव स्वद्रव्य में स्वयं लीन होता है तब मुक्ति प्राप्त होती है।

देखो, अशुद्धता का निमित्त परद्रव्य है। इसकारण सब परद्रव्यों का लक्ष्य
छोड़कर जो पुरुष स्वद्रव्य में लीन होता है, वह पुरुष नियम से सर्व अपराध
से रहित होता हुआ बंधका नाश करके मुक्ति प्राप्त करता है।

यहाँ कहते हैं कि - परद्रव्य की ओर का झुकाव छोड़कर स्वद्रव्य में ढुकने
पर अन्दर निर्मल आनन्द उछलता है। मूल कलक्षण में जो ‘चैतन्यमृत्पूर’ शब्द
है न? उसका अर्थ यह किया है कि - चैतन्यरूपी अमृत का प्रवाह निज
आत्मा है। इस आत्मा में व्यवहार के विकल्प नहीं है। ‘‘मैं आत्मा चिन्मात्र
ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ’’ ऐसा आत्मा सम्बन्धी विचार का विकल्प भी शुद्धात्म
द्रव्य में समाता नहीं है। अहाए। द्रव्य-गुण-पर्याय का विकल्प भी
परवशिष्य नहीं है।

नियमसमार के परमावश्यक अधिकार में आता है कि - ‘भगवान आत्मा
आनन्द का सागर प्रभुनित्व एक रूप वस्तु है’ इसको तीन प्रकार से
विचारना- यह त्रिकाली द्रव्य ये त्रिकाली गुण तथा यह वर्तमान पर्याय - यह
पर-वशिष्य नहीं है यह द्रव-वशिष्य नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि - यह परवशिष्यपा त्यागकर जो स्ववशिष्य स्व-स्वरूप
में रमता है, उसको अन्दर में निर्मल आनन्द उछलता है।

भाई! सम्यवदर्शन का विषय अभेद-एक-चिन्मात्र वस्तु है। अहाए
जिसके अनुभव में भेद नहीं पड़ता वह वस्तु एक अलग है। अहाए। द्रव्य के संग
के संग में जाने पर अन्दर निर्मल चैतन्य उछलता है।

अहाए। जितना स्वद्रव्य को छोड़कर परद्रव्य का आलम्बन लेंगे उन्हाँ गुरु
राग होगा और वह राग अपराध है। वीतरागदेव यह नहीं कहते हैं कि तू हमारी
भक्ति कर! इससे तेरा कल्याण हो जायेगा। बल्कि भगवान तो यह घोषणा करते हैं कि - हमारी भक्ति, स्तुति, वंदना आदि करने का जो तुल्य राग आता है, वह सब अपराध है, अशुद्धता है। यह कोई महिमावाली वस्तु नहीं है।

आचार्य कहते हैं कि भाई! तू अपने स्वरूप में अन्तर जा। वहाँ तेरे अन्तर चैतन्यरूपी अमृत का त्रिकाल प्रवाह वह रहा है। ये पुण्य-पाप के भाव तो जहर का प्रवाह है।

हे भाई! तू चिदानन्दन चैतन्यरूपी अमृत का पूर है। उसको स्व-संबंध में अनुभव करके, जानकर उसी में मग्न हो जा, स्थिर हो जा; क्योंकि शुद्ध चैतन्य के ध्वनि प्रवाह में मग्न होने से आत्मा शुद्ध होकर कर्मों से छूट जाता है और शाश्वत सुख को प्राप्त करता है।

भावार्थ पर प्रवचन

जो पुरुष समस्त परद्वार का तक्ष्य छोड़कर त्रिकाल ज्ञानन्द स्वद्वार में लीन - स्थिर हो जाता है, वह सब रागादि अपराध से रहित हो जाता है। फिर उसे जीवन कर्मबन्ध नहीं होता। वह नित्य उदयरूप केवलज्ञान को प्राप्त करता है। केवलज्ञान प्राप्त होने पर वह नित्य अक्षर रहता है। जिस तरह आत्मा त्रिकाल अनादि-अनन्त नित्य प्रवाह रूप है, उसी तरह केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद प्रवाह रूप से सदा कायम रहता है, उसके प्रवाह में कोई भंग नहीं पड़ता।

अहा ये। “स्व” में लीन हुआ पुरुष नित्य उदयरूप केवल ज्ञान पाकर पूर्ण शुद्ध होकर सर्वकालिन का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करता है।

सर्वप्रथम भिक्ष्याय से, तत्परचातुर अब्रत से फिर अस्थिरता से मुक्त होता है। यह मुक्त होने का क्रम है।

भाई! तेरा जैसा स्व-स्वरूप है, वैसा ज्ञान व श्रद्धान कर। उसका ज्ञान-श्रद्धान होने पर उसमें स्थिरता होगी तथा अन्त:स्थिरता पूर्ण होने पर मोक्ष होगा। अन्त:स्थिरता ही चारित्र है। स्वरूप स्थिरता होने पर अशुद्धता का नाश होने
कलश १९२

पर ही शुद्धोपयोग की जमावट होती है। वही वस्तु: मुनि दशा है। जिसका अन्तिम फल मोक्ष है।

(मन्द्रान्ता)
बंधच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमश्चयमेत्
नित्योहोतस्फूर्तिसहजावस्थमेकांतशुद्धम्।
एकाकारस्वरसभरतोजयतगशेरीधीरं
पूर्ण ज्ञानं ज्ञालितमचले स्वस्य लीनं महिमिनं॥ १९२॥

इति मोक्षो निष्क्रांतः।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविविचितायं समवस्यार्थायामात्मख्याति
मोक्ष-प्ररूपक: अयष्ट्रोऽङ्कः॥

अब मोक्ष अधिकार को पूर्ण करते हुए उसके अन्तिम मंगलरूप पूर्ण ज्ञान की महिमा का (सर्वथा शुद्ध हुए आत्मद्रव्य की महिमा का) कलशरूप काव्य कहते हैं: –

श्लोकार्थ — [बन्धच्छेदात् अतुलम अक्षय्यम् मोक्षम् कलयत्]
कर्मबन्ध के छेदने से अतुल अक्षय (अविनाशी) मोक्ष का अनुभव करता हुआ,
[नित्य-उद्घोत-सफूर्त-सहज-अवस्थम्] नित्य उद्घोतवाली (जिसका प्रकाश नित्य है ऐसी) सहज अवस्था जिसकी खिल उठी है ऐसा,[एकान्त-शुद्धम्] एकान्त शुद्ध (-कर्मकल के न रहने से अत्यन्त शुद्ध),[एकाकार-स्व-रस-भरतः अत्यन्त-गम्भीर-धीरम्] और एकाकार (एक ज्ञानमात्र आकार में परिणत) निजस्व को अतिशयता से जो अत्यन्त गम्भीर और धीर है ऐसा [एतत् पूर्ण ज्ञानम्] यह पूर्ण ज्ञान [ज्ञालितम्] प्रकाशित हो उठा है (सर्वथा शुद्ध आत्मद्रव्य जाज्ञात्यमान प्रगट हुआ है), और [स्वस्य अचल महिमिन लीनम्] अपनी अचल महिमा में लीन हुआ है।

भावार्थ — कर्म का नाश करने मोक्ष का अनुभव करता हुआ, अपनी स्वाभाविक अवस्थारूप, अत्यन्त शुद्ध, समस्त ज्ञेयकारों को गौण करता हुआ,
अत्यन्त गम्भीर (जिसका पार नहीं है ऐसा) और धीर (आकुलतारहित) – ऐसा पूर्ण ज्ञान प्रगट दैदीप्यमान होता हुआ, अपनी महिमा में लीन होगया। १९२।

टीका – इसप्रकार मोक्ष (रंगभूमि में से) बाहर निकल गया।

भावार्थ – रंगभूमि में मोक्षत्व का स्वाभाविक आया था। जहाँ ज्ञान प्रगट हुआ वहाँ उस मोक्ष का स्वाभाविक रंगभूमि से बाहर निकल गया।

(संबंध)

ज्यों नर कोय पूर्यो दृढ़बन्धन बंधस्वरूप लखे दुखकारी,
चिंत करै निति कैम कटे यह तोड़ छिदे नहीं नाक टिकारी।
छेदनकृं गाहि आयुध धाय चलाय निशंक करै दुय धारी,
यों बुढ़ बुढ़ि धसाय दुधा करि कर्म रु आतम आप गहारी।

इसप्रकार श्री समयसारकी (श्रीमत्रेषुमतल्कुन्दाचार्यदिवप्रगीत श्री समयसार परमार्ग की) श्रीमद्य अमृतचन्द्राचार्यदिवविराचित आत्मह्यति नामक टीका में मोक्ष का प्रकृतिका आठवां अंक समाप्त हुआ।

कलश १९२ पर प्रवचन

यह मोक्ष अधिकार का अनित्य कलश है। यहाँ कहते हैं कि कर्मबन्धन के छेद से मोक्ष होता है अर्थात् शुद्धचिदानन्द आत्मा के ज्ञान, श्रद्धा व लीनता से रागादि विकार का सर्वथा नाश होने पर सर्व कर्मों का छेद हो जाता इसे अतुल अक्षय केवलज्ञानमय मोक्ष दशा प्रगट हो जाती है। वह मोक्ष की दशा सहज-स्वाभाविक और नित्य उद्योग रूप है। जो केवल दर्शन व केवलज्ञान अन्तर में त्रिकाल शान्तिस्वरूप था, वह वर्तमान में व्यक्त हो गया है।

अज्ञानी ‘आत्मा-आत्मा’ – तो कहते हैं, परन्तु उन्हें आत्मा के वायस्क स्वरूप की खाबर नहीं है वीतराग सर्वज्ञ देव ने जैसा आत्मा देखा व कहा है, वह पूर्णज्ञान व आनन्द से भरपूर है। उसका अनुभव करके उसी में एकायं होने पर पर्याप्त में पूर्ण ज्ञान व आनन्द खिल उठता है। अहा ...... जिसको केवलज्ञान, केवल दर्शन प्रगट हुआ उसको वह नित्य उद्योग रूप है।
तथा वह एकात्म शुद्ध है। कर्मों के मैल से रहित सर्वथा शुद्ध... शुद्ध... शुद्ध हो गया है।

तथा एकाकार निजरस की अतिशयता से अत्यन्त गंभीर और धीर है।

dेखो! संसार दशा में अल्पज्ञाता में ज्ञान की दशा एकाकार-एकरूप नहीं थी, अनेक रूप थी, वह परमात्म दशा में सर्वज्ञता प्रगट होने पर एकाकार प्रगट हो गई। एकाकार अर्थात् एक ज्ञानगम्य स्वरूप से परिणत हो गई। रागादि का सर्वथा नाश होने पर ज्ञान की दशा एकाकार - एक रूप से प्रगट हो गई।

आत्मा के निजरस, चैतन्य रस, आनंद रस, वीरतागर्भ की अतिशयता से - विरोध से केवलज्ञान व मोक्ष दशा प्रगट हो गई। अहाँहाँ...। सिद्ध दशा निज रस की, चैतन्य रस की अतिशयता से अत्यन्त गंभीर है। छद्मस्थ द्वारा इसकी गंभीरता की शाह पाना मुश्किल है। भगवान आत्मा का पूर्णज्ञान समुद्र की भांति अति गंभीर है, अथाह है। तथा वह केवलज्ञान धीर है अर्थात् शाश्वत है। तथा व्यवस्थित अर्थात् रत्न ज्योति के समान शाश्वत प्रकाशमान है।

जिस तरह दियासलाई (माचिस) में शक्तिरूप से अग्नि है और घिसते ही - रगड़ लगते ही प्रगट हो जाती है, उसी तरह आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख एवं अनन्त वीर त्रिकाल शक्तिरूप से विद्यमान हैं, उसमें अन्तर एकाग्रता करने से - अन्तर अनुभव करने से वह ज्ञान ज्योतिमय होकर केवलज्ञान के रूप में पर्यावर में प्रगट हो जाता है। जैसी अन्तर में सामर्थ्य है, वैसी ही पर्यावर में प्रगट हो जाती है।

भाई! यह केवलज्ञान व केवलदर्शन कहीं बाहर से नहीं आता, आत्मा में जो शक्तिरूप से विद्यमान है, वही अन्तर में एकाग्रता के अभ्यास से स्वरूपलीनता करने पर पर्यावर में प्रगट हो जाता है।

देखा! अनादि से जो ज्ञान पुण्य व पाप में, शुभ व अशुभ में तथा अन्य पर जेत्यों में लीन था, वह अपनी अचल महिमा में लीन हो गया, स्वरूप में समा गया। निजानन्द में लीन हो गया। इस केवलज्ञान की प्राप्ति का उपाय निज आत्मा है।
यहाँ कुछ लोग कहते हैं कि - सर्वज्ञ ने जैसा प्रमाण ज्ञान में देखा है, उसी के अनुसार कार्य होगा, तो फिर अपने को कुछ करना शेष नहीं रहा?

उनके इस प्रश्न का उत्तर यह है कि - भाई ! सुन, केवलज्ञान की सत्ता जिसे स्वीकृत है, उसकी दृष्टि केवलज्ञान स्वभावी स्व-द्रव्य के ऊपर गई है। तथा उसे ही करने योग्य (पुरुषार्थ) कहा गया है।

भावार्थ पर प्रवचन

कर्म का नाश करने अर्थात् अज्ञान और राग-द्वेष-मोह रूपी भावकर्म का नाश करने मोक्ष का अनुभव करता हुआ केवलज्ञान अपनी सहज-स्वभाविक अवस्था रूप प्रगट होकर अत्यन्त निर्विकार शुद्ध हो गया है। अहाँ अंश भी नहीं रहा।

यहाँ ऐसे लोकोकारों को गौण करता हुआ कहने का तात्पर्य यह है कि - केवलज्ञान लोकालोक को जानता तो है, पर उसमें तनय नहीं होता, निश्चय से केवलज्ञान अपनी पर्याय को ही जानता है, कि उसमें लोकालोक झलकते हैं। लोकालोक को जानना-कहना असद्भूत व्यवहारनाथ का विषय है।

तथा लोकालोक है, इसलिए लोकालोक को जानते हैं - ऐसा भी नहीं है। तीन लोक को जानने को ज्ञान पर्याय की सहज शक्ति है। स्वयं स्वयं से ही पद्धारक रूप होकर लोकालोक को जानती हुई प्रगट होती है। अहाँ! केवलज्ञान की पर्याय के कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदाय-अपादान व अधिकरण पर्याय स्वयं हैं। पर पद्धारक तो हैं ही नहीं किन्तु अपने द्रव्य-गुण के पद्धारक भी नहीं। अन्दर शक्ति है, किन्तु प्रगट होने की सामग्री पर्याय की स्वतंत्र योग्यता है, पर्याय के पद्धारक स्वयं निज पर्याय से हैं। केवलज्ञान वस्तुतः तो लोकालोक को स्पर्श किये बिना अपनी सत्ता में ही रहकर स्वयं स्वयं से ही स्वयं को जानता है। जिसमें लोकालोक प्रकाशित होता है। अहाँ अपनी पर्याय को जानते हुए लोकालोक जानने में आ जाता है।

तथा वह अत्यन्त गंभीर है। अहाँ जिसका पार नहीं पाया जा सकता - ऐसा केवलज्ञान अपार गंभीर है तथा आकूलता रहित धीर है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com
भाई! तेरे स्वभाव की सामथ्र्य ज्ञान-दर्शन से पूर्ण भरी है। आकुलता से रहित धीर है और वह अपने महिमा में अचल है, निजान्द्र रस में ही लैन है।

अब अन्त में मोक्ष रंगभूमि में अधिकार पूर्ण करते हुए टीकाकार आचार्य कहते हैं कि वे मोक्ष स्वांग धर जो जीव रंगभूमि में आया था, वह रंगभूमि से बाहर निकल गया।

जिस तरह संसार दशा एक स्वांग है, उसी तरह मोक्ष दशा भी एक स्वांग है। मोक्ष दशा सादि-अनन्त समय-समय नई-नई प्रगट होती है। दृष्टि-युण नित्य है, परन्तु मोक्ष दशा एक समय का स्वांग है।

ज्यों ही केवलज्ञान प्रगट हो गया त्योंही मोक्ष का स्वांग रंगभूमि में से निकल गया।

अन्तिम हिंदी पद्ध पर प्रवचन

अब हिंदी पद्ध में उपसंहार करते हुए हिंदी टीकाकार पं. जयचन्द्रजी छाबड़ा कहते हैं - कोई व्यक्ति लोहे की संकल्प के दृढ़ बन्धन से बंधा हो और सोचे कि - ‘‘बन्धन महादुःखकारी है तो ऐसे विचार मात्र से तो कोई बन्धन से नहीं छूट जाता। अथवा बन्धन की मात्रा चिन्ता करते रहने से भी बन्धन से नहीं छूट जा सकता। हाँ, यदि औजार से उस बन्धन को काटेगा, बेड़ी को तोड़ेगा तो ही वह बन्धन से छूट सकेगा।

उसीतरह कोई यह सोचता रहे कि आत्मा में ‘‘राग-द्वेष-मोह का बन्धन है, और वह दुःखदायक है।’’ तो ऐसे विचार मात्र से तो वह बन्धन से मुक्त हो नहीं सकता। तथा उस बन्धन की कोरी चिन्ता करने से भी वह बन्धन कटने बाला नहीं है। हाँ, यदि भेदविज्ञान रूपी-सुबुद्ध रूपी पैनी प्रज्ञा छैनी को पुण्य-पाप के भाव और भगवान आत्मा के स्वभाव की सांध में डाले तो ही बन्धन से छूटता है।
कितने लोग व्रत, तप, भक्ति, स्वयं करते हैं एवं ये ही सब करने का उपदेश देते हैं, क्योंकि वे ऐसा मानते हैं कि – इसी से धर्म होगा, पर उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है; क्योंकि वे बन्ध के कारण को धर्म का कारण मानते हैं, मोक्ष का कारण मानते हैं।

पुण्य-पाप से मेरा चेतन्यस्वरूप आत्मा भिन्न है – ऐसा जानकर अपनी वस्तु में ज्ञान को एकाग्र करना प्रज्ञा छैनी है। और यही मोक्ष का उपाय है।

इस प्रकार यह मोक्ष अधिकार पूर्ण हुआ। •